तुलसी के चार दल

पुस्तक पहली

[गोस्वामी तुलसीदास का जीवन-वृत्त, काव्य-कला और गोस्वामीजी की निजी प्रेरणा, गोस्वामी तुलसीदास की चार छोटी कृतियों (रामलला नहछू, बरवै रामायण, पार्वती-मंगल तथा जानकी-मंगल) की विशद आलोचनाएँ]

लेखक

सद्गुरुशरण अवस्थी, एम० ए०

(विश्वंभरनाथ सनातनधर्म कालेज, कानपुर)

प्रकाशक

इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग

प्रथम संस्करण] १९३५ [मूल्य २॥)

Published by
K. Mittra,
at The Indian Press, Ltd.
Allahabad.

Printed by
A. Bose,
at The Indian Press, Ltd.,
Benares-Branch.

लेखक का कथन

यह बात हिंदी के सभी प्रेमियों को खटकती है कि हिंदी के सर्वश्रेष्ठ कवि गोस्वामी तुलसीदास की कृतियों की पूर्ण और उचित समीक्षा तथा उनके पठन-पाठन की उचित व्यवस्था अभी नहीं हुई है। कविता-प्रेमियों का ध्यान अभी तक 'रामचरितमानस' तक ही सीमित रहा है। 'मानस' की सैकड़ों टीकाएँ निकली हैं और निकल रही हैं। उसकी समीक्षाएँ भी विद्वानों ने की हैं। अन्यान्य भाषाओं में भी रामायण की समीक्षाएँ देखने में आती हैं; परंतु यह सौभाग्य गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों को प्राप्त नहीं हो सका। 'विनयपत्रिका' की ओर कुछ भक्त लोगों का ध्यान गया है। उसकी एक-दो आलोचनाएँ और टीकाएँ अच्छी निकली हैं। 'कवितावली' की भी एक-दो टीकाएँ अच्छी निकली हैं परंतु उस पर कोई आलोचना-ग्रंथ देखने में नहीं आया। फुटकर लेखों में तो कभी कभी गोस्वामी-संबंधी समीक्षाएँ दिखाई भी देती हैं परंतु पुस्तक रूप में इस दिशा में कोई प्रयास नहीं किया गया। मुझे इस प्रकार का अनुभव है कि हिंदी की अच्छी मासिक पत्रिकाओं के कुछ ऊँचे संपादक भी गोस्वामी तुलसीदास तथा कवि-सम्राट् सूरदास की आलोचनाओं को छापना पिछड़ापन समझते हैं।

गोस्वामी तुलसीदास के संबंध में सबसे अच्छा और सबसे मौलिक ग्रंथ पंडित रामचंद्र शुक्ल का ही है। उनकी समीक्षा किसी एक ग्रंथ पर आश्रित न होकर सभी ग्रंथों पर आश्रित है। फिर भी मानस पर ही उस आलोचना का धरातल अधिक है।

विश्वविद्यालयों में और कालेजों में हिंदी की उच्च शिक्षा की व्यवस्था हो जाने के कारण गोस्वामी तुलसीदास के समस्त ग्रंथों की पूर्ण और विशद समालोचनाएँ दिखाई पड़नी चाहिए थीं। परंतु काशी के प्रोफेसरों को छोड़कर अन्य स्थानों के प्रोफेसरों का ध्यान भी इस ओर नहीं गया। कुछ लोगों में तो अपनी लेखनी का प्रयोग करने में विकट संकोच है।

गोस्वामी तुलसीदास के संबंध में लोगों की जानकारी अधिक बढ़े और उनकी कृतियों के पठन-पाठन में सहायता मिले इसी लाभ को ध्यान में रखकर प्रस्तुत पुस्तकों को लिखा गया है। पहली पुस्तक में गोस्वामी तुलसीदास का एक संक्षिप्त जीवन-वृत्त दिया गया है। साथ ही साथ काव्यकला और गोस्वामी तुलसीदास की निजी प्रेरणा पर एक लंबा प्रबंध भी दिया गया है। इसके अनंतर गोस्वामी तुलसीदास की चार छोटी कृतियों पर समीक्षाएँ हैं। उन कृतियों के नाम हैं 'रामलला नहछू', 'बरवै रामायण', 'पार्वती-मंगल' तथा 'जानकी-मंगल'। इन आलोचनाओं के प्रसंग में बहुत सी और जानने योग्य बातें सम्मिलित कर दी गई हैं। दूसरी पुस्तक में उन्हीं चार पुस्तकों के उचित अध्ययन के लिये मूल पाठ के साथ साथ शब्दार्थ तथा टिप्पणियाँ देकर पाठ समझाया गया है। स्थान स्थान पर तुलना करने के लिये बाहर के पदों को उद्धृत किया गया है। अलंकारों का भी कहीं कहीं पर निर्देश कर दिया गया है।

पहले यह विचार था कि प्रस्तुत पुस्तकों के लिखने के लिये मुझे जिन जिन पुस्तकों को पढ़ना पड़ा है उनका उल्लेख, पुस्तकों के अंत में, कर दिया जाय। ऐसा एक स्थल पर लिख भी दिया गया है परंतु पुस्तकों की संख्या इतनी अधिक है कि उनका उल्लेख करना व्यर्थ का पांडित्य-प्रदर्शन करना मालूम होगा। एक ओर जहाँ

ऋण-स्वीकृति का कृतज्ञता-ज्ञापन हो जाता वहाँ दूसरी ओर व्यर्थ का विज्ञापन भी होता। इसी दृष्टि से जो पुस्तकें इन पुस्तकों की समीक्षा की सहायता के लिये पढ़ी गई हैं उनकी सूची यहाँ नहीं दी गई।

यदि हिंदी-संसार ने मेरी इन पुस्तकों को पसंद किया तो गोस्वामीजी की अन्य कृतियों की आलोचनाएँ और टीकाएँ लिखने का प्रयास करूँगा।

सद्गुरुशरण अवस्थी

विषय-सूची

श्यामसुंदरदास ने इस ग्रंथ को ठीक मानकर 'हिंदुस्तानी एकेडमी' से प्रकाशित अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' की रचना की है।

इन प्राचीन पुस्तकों के अतिरिक्त सर जॉर्ज ग्रियर्सन के लेखों में भी गोस्वामीजी की जीवनी पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'शिवसिंहसरोज', 'मिश्रबंधुविनोद', 'हिंदी-नवरत्न', 'कविताकौमुदी', पं० रामचंद्र शुक्ल के 'हिंदी-साहित्य का इतिहास', रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास के 'हिंदी भाषा और साहित्य' तथा पं० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' के इतिहास में भी गोस्वामीजी की जीवनी का चलताऊ वर्णन है।

गोस्वामी तुलसीदासजी की जन्म-तिथि पर खासा विवाद है; परंतु इधर के विद्वान् अधिकतर बाबा वेणीमाधवदास की ही तिथि को प्रामाणिक मानते हैं।

> पंद्रह सै चौवन विषै, कालिंदी के तीर।
> स्रावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ सरीर॥

रामचरित पर लिखा गया 'मानस-मयंक' भी इसका समर्थन करता है।

जन्म-स्थान का निश्चय भी विवाद से खाली नहीं है। लोग अपने अपने निवासस्थान में ही इन्हें दिखाने का प्रयास करते हैं। 'संक्षिप्त मूल गोसाईं चरित' के अनुसार ये राजापुर के निवासी थे। कोई कारण नहीं कि इसे हम क्यों न स्वीकार करें।*

गोस्वामी तुलसीदासजी सरवरिया ब्राह्मण थे यही सब ग्रंथों ने माना है, केवल मिश्रबंधुओं ने ही उन्हें कान्यकुब्ज बतलाने का

---

* बाबा रघुवरदास के 'तुलसीचरित' में गोस्वामीजी का स्थान कसिया लिखा है। यह कसिया मझौली रियासत में राजधानी से कुछ मील की दूरी पर है। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास कहते हैं—"आजकल मझौली रियासत कहाँ है और कैसी है नहीं कहा जा सकता है।" मझौली रियासत गोरखपुर जिले में है और कसिया उसी के अंतर्गत है।

विफल प्रयास किया है। गोस्वामीजी ने कहीं अपने माता-पिता का उल्लेख नहीं किया। ऐसा प्रसिद्ध अवश्य है कि उनके पिता आत्माराम और माता 'हुलसी' थीं। माता के नाम का प्रमाण तो 'संक्षिप्त मूल गोसाईंचरित' से भी हो जाता है परंतु पिता के नाम का अन्यत्र पता नहीं है। बाबा रघुवरदास के 'तुलसीचरित' में गोस्वामीजी के एक लंबे वंशवृक्ष का उल्लेख है परंतु उसका अनुमोदन अन्यत्र नहीं होता।

कवितावली में एक स्थान पर लिखा है—'मातु-पिता जग जाइ तज्यो'। विनयपत्रिका में लिखा है—'जनक जननि तज्यो'। इसका अनुमोदन बाबा वेणीमाधवदास करते हैं। त्याग करने का कारण 'संक्षिप्त मूल गोसाईंचरित' में गोस्वामीजी के जन्म की विचित्रता बतलाई गई है। पं० रामचंद्र शुक्ल की यह कल्पना कि पिता से न बनने के कारण यह घटना घटी, उनकी निजी है। इसके कोई प्रमाण नहीं मिलते। परित्यक्तावस्था के बाद वाली दीनावस्था का चित्रण बाबा वेणीमाधवदास ने काफी किया है। गोस्वामीजी की कृतियों में भी इस दीनावस्था के छींटे यत्र-तत्र मिल जाते हैं। इसी समय उनकी माता हुलसी का स्वर्गवास हो जाता है। परित्यक्तावस्था में किस अलौकिक विधान से गोस्वामीजी की जीवन-रक्षा हुई, इस विषय में 'संक्षिप्त मूल गोसाईं-चरित' पढ़ना चाहिए।

गोस्वामीजी के गुरु नरहरिदासजी थे। प्रियादासजी ने उनका नाम रामदास लिखा है। इन दासों में कोई विशेष अंतर नहीं दीखता। साधुओं के लौकिक नाम और साधुनाम का भी कहीं कहीं झगड़ा पड़ जाता है। संक्षिप्त मूल चरित के अनुसार गोस्वामीजी का यज्ञोपवीत १५६१ में हुआ। बहुत सी अन्य तिथियों की भाँति यह तिथि भी गणना द्वारा ठीक प्रमाणित की जा चुकी है। कहते हैं कि इनके गुरु नरहरिदासजी इन्हें शूकरक्षेत्र ले

गए और वहाँ इन्हें रामकथा सुनाई। चित्रकूट के निकट के 'सोरों' को शूकरक्षेत्र मानना भ्रम उत्पन्न करता है।

गोस्वामीजी काशी आ गए और वहाँ से फिर चित्रकूट गए। उनका भ्रमण और अध्ययन साथ साथ चलता रहा। बाबा रघुवरदास और बाबा वेणीमाधव में गोस्वामीजी के संबंध में सबसे भारी मतभेद उनके विवाह के संबंध में है। बाबा रघुवरदास उनके तीन विवाह लिखते हैं। 'संक्षिप्त मूल गोसाईं चरित' में केवल एक लिखा है। साधारण प्रचलित विवाह-संबंधी और उनकी स्त्री-संबंधी किंवदंती की पुष्टि 'संक्षिप्त मूल गोसाईंचरित' से होती है। गोस्वामीजी के पत्नी-प्रेम के संबंध में बहुत सी सरस भावनाएँ लोगों में प्रचलित हैं। 'संक्षिप्त मूल गोसाईं चरित' में इस घटना पर बहुत से छंद लिखे गए हैं। कुछ लेखकों का कहना है कि गोस्वामीजी की पत्नी उनके मुँह फेरते ही स्वर्गधाम सिधार गई। कुछ लोगों का कहना है कि पर्यटन-काल में पत्नी से फिर उनकी भेंट हुई। जो हो, यह घटना गोस्वामीजी के जीवन-काल में है बड़े महत्त्व की।

घर में पढ़े हुए प्रेम-पाठ को उन्होंने भगवान् के चरणों में दुहराया। उन्होंने ऐसा अवलंबन ढूँढ़ा जिसमें तिरस्कार की आशंका न थी। पत्नी के प्रति गहरी स्नेह-वृत्ति ने गोस्वामीजी को पहले ही से आत्मनकार और तीव्र अनुरक्ति का पाठ पढ़ा दिया था। केवल केंद्र-परिवर्तन की आवश्यकता थी। एक विलीन-शील, अस्पष्ट, प्रत्युत्तरहीन लक्ष्य के स्थान में स्थायी ज्वलंत स्फूर्तिप्रद बिंदु के मिल जाने भर की देर थी। उखड़ी हुई भक्ति-भावना दूने वेग के साथ संलग्न हो गई। व्यक्त और मूर्त्त होता हुआ भी गोस्वामीजी के मानवी प्रेम का अवलंबन झिझकता और हटता हुआ दिखाई दिया और अव्यक्त और अमूर्त होता हुआ भी दैवी अवलंबन थोड़े ही काल में उनकी गोद में खेलने लगा। मर्त्य की संलग्नता ने

व्यक्त को भी अस्पष्ट कर दिया और दैवी लगाव ने अस्पष्ट को भी मूर्त्त बना दिया। पहले लगाव के उखाड़ और दूसरे लगाव की संसक्ति के बीच का उनका समय बड़ा ही भीषण रहा होगा। इसके अनुभव उनके लिये कम मूल्य के न रहे होंगे। उनकी कृतियों में यह युग कई स्थलों पर स्पष्ट है। जीवनी-लेखकों ने इस युग पर कोई प्रकाश नहीं डाला। सामग्री के अभाव के कारण इधर की निकली हुई जीवनियों में भी इसकी चर्चा नहीं है। अनुमान यह होता है कि इस युग में गोस्वामीजी इधर-उधर मारे मारे घूमते रहे। कदाचित् उनके पैर भी न जानते होंगे कि वे कितना चलते थे। वानप्रस्थाश्रम का अतिक्रमण करके वे एकदम संन्यस्तावस्था की ओर खिंच रहे थे। भृगु-आश्रम, हंसनगर और परसिया होते हुए गोस्वामीजी गऊघाट के राजा से मिले। वहाँ से ब्रह्मपुर और कांत ग्राम पधारे। पं० रामचंद्र शुक्ल और रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास ने यह बात भ्रमोत्पादक लिखी है कि परसिया, गायघाट, ब्रह्मपुर और कांत ग्राम बलिया जिले में हैं। वास्तव में ये शाहाबाद जिले में हैं।

इसमें संदेह नहीं कि ज्यों ज्यों गोस्वामीजी संन्यस्तावस्था में आगे बढ़ते गए त्यों त्यों लोगों की पूज्य बुद्धि उनके प्रति बढ़ती गई। गोस्वामीजी के जीवन के साथ साथ अलौकिक घटनाएँ बँधने लगीं। स्वयं राम-दर्शन-संबंध वाली प्रेत-सहायता की बात विचित्र है। इस घटना का विशद वर्णन 'संक्षिप्त मूल चरित' और बाबा रघुनाथदास के 'तुलसीचरित' दोनों में है और भक्तों के बड़े काम की चीज है। प्रियादास ने भी इसकी चर्चा की है। हनुमान् की भक्ति के संबंध में भी बहुत से, चमत्कृत करनेवाले, कथानकों का वर्णन है। मगरू अहीर के उद्धार की वार्त्ता भी रोचक है। बाबा वेणीमाधवदास गोस्वामीजी को अपने समय में ही भगवान् बना

चुके थे और उनकी जीवनी को, पाठ करने के लिये, संक्षिप्त कर चुके थे। अतएव उनके द्वारा किसी प्रकार के चमत्कार का आरोप असंभव नहीं कहा जा सकता। यही वृत्ति बाबा रघुवरदास में भी दिखाई देती है। श्वेत सर्प का गोस्वामीजी के स्पर्श से मुनि हो जाना, उनके यहाँ पंडितों द्वारा चोरी कराते समय राम-लक्ष्मण का पहरा देना, हनुमान्‌जी का चोरों से उनकी रक्षा करना, भगवान् मधुसूदन का रामायण को सही करना, कलि की तलवार से गोस्वामीजी का हनुमान् द्वारा बचना, जानकीजी का बालिका के रूप में गोस्वामीजी को भोजन कराना, गोस्वामीजी का वृद्धा को युवती बना देना, स्त्री को पुरुष बना देना, मरे को जिलाकर विधवा को सधवा बना देना, चरणामृत द्वारा मृत बालकों को जीवनदान देना, कृष्ण भगवान् का गोस्वामीजी के लिये राम-रूप धारण करना, राजदूतों का कंठी-माला छीनते समय गोस्वामीजी को देखकर काँप जाना, सम्राट् की मूर्खता पर दिल्ली का—गोस्वामीजी की स्तुति के कारण—हनुमान् की सेना द्वारा विध्वंस किया जाना, गोस्वामीजी के वस्त्रों के छींटों से वेश्या में वैराग्य उत्पन्न हो जाना, गंगाजी की स्तुति द्वारा हरीदत्त ब्राह्मण की दरिद्रता दूर करना, प्रेत की मुक्ति करना इत्यादि इत्यादि चमत्कारपूर्ण घटनाओं से गोस्वामीजी की जीवनी गुँथी हुई है। इनकी चर्चा केवल इसलिये की गई है कि ये गाथाएँ गोस्वामीजी के चरित्र का एक अंग हैं। हमें इस बात से सरोकार नहीं कि वे सत्य हैं अथवा मिथ्या। हम कोई इतिहास नहीं लिखते। हम तो गोस्वामीजी का वह जीवन-वृत्त दे रहे हैं जो लोगों ने उनके लिये निर्माण किया है। समकालीन और परवर्ती व्यक्ति गोस्वामीजी को किस पूज्य दृष्टि से देखते थे इसका उल्लेख इन कहानियों में अवश्य है। हिंदुस्तानी एकेडमी से प्रकाशित 'गोस्वामी तुलसीदास' के विज्ञ लेखक ने गोस्वामीजी के संबंध की प्रत्येक चमत्कारिक

घटना को लिखकर उस पर कल्पना के बल पर वास्तविकता का आवरण देने का प्रयास किया है। कभी कभी उनकी उत्प्रेक्षाएँ उपहासास्पद हो गई हैं। हमारे विचार में यह प्रयास व्यर्थ और अनावश्यक है।

गोस्वामीजी अधिकतर काशी ही में रहते थे, इसके बहुत से बाहरी और भीतरी प्रमाण मिलते हैं। उनके भक्तों ने मंदिर-निर्माण में उन्हें आर्थिक सहायता दी। इधर उनके चमत्कारों की कथा फैलने लगी उधर उनके दर्शकों की भीड़ बढ़ने लगी। बहुत काल तक ये लोगों से छिपे रहे। अंत में भक्तों पर दया करके, उनके अनुरोध से, एक मचान पर उन्होंने आसन जमाया। भीड़ और भी बढ़ी। स्वामी हरीयानंद, हितहरिवंश और नंदलाल स्वामी ने उनसे भेंट की।

कवि-सम्राट् सूरदास ने भी गोस्वामीजी से भेंट की थी, ऐसा 'संक्षिप्त मूल चरित' में लिखा है। सूरदास का जीवन-संवत्, जो डाक्टर ग्रियर्सन ने निर्धारित किया है, यदि प्रामाणिक माना जाय तो यह भेंट उस समय असंभव है जिस समय का संकेत बाबा वेणी-माधवदास ने किया है। परंतु संवत् में हेर-फेर हो सकता है; भेंट अवश्य हुई होगी। गोस्वामीजी की कृतियों में सूरदास की उक्तियों का केवल नाम-परिवर्तन के साथ ज्यों का त्यों पाया जाना आलोचकों को भ्रम में डाल देता है। इस संबंध में अभी तक जो कुछ तर्क किया गया है वह परितुष्ट नहीं करता। गोस्वामीजी की प्रेरणा कवि-सम्राट् सूरदास के उपास्य देव के प्रति कविता करने की हो सकती है; उनकी अभिव्यंजन-प्रणाली का माध्यम अपनी काव्य-अभिव्यंजना के लिये वे स्वीकार कर सकते हैं; परंतु उनके छंदों को ज्यों के त्यों अपने ग्रंथों में स्वीकार कर लेना उनके लिये असंभव था। यह सब पीछे के संकलनकर्ताओं का ही प्रमाद अथवा सजग व्यवसाय हो सकता है।

मीराबाई के पद के संबंध में भी इसी प्रकार की ऐतिहासिक समीक्षा की गई है। मीराबाई का कथित पद और गोस्वामीजी का कथित उत्तर किसी भी पुस्तक में मिल सकता है। 'संक्षिप्त मूल गोसाईं चरित' में इस घटना को माना है। परंतु संवतों में जब तक कोई नया हेर-फेर न होगा तब तक इतिहासकार इस घटना को स्वीकार न करेंगे। पं० रामचंद्र शुक्ल इस घटना को तो ठीक नहीं मानते परंतु अन्यत्र अन्य उक्तियों के साथ गोस्वामीजी के मीरा को दिए हुए उत्तर को भी उद्धृत करके उनके समाज-आदर्श की समीक्षा करते हैं।

गोस्वामीजी की चार कृतियों की रचना-काल-संबंधी आलोचना इस पुस्तक में अन्यत्र की गई है। अन्य रचनाओं के रचना-काल की समीक्षा का यह स्थल नहीं है। 'कृष्ण-गीतावली' और 'राम-गीतावली' की रचना का प्रोत्साहन, 'संक्षिप्त मूल गोसाईं चरित' के अनुसार, दो बालकों के कारण हुआ। वे प्रतिदिन पदों को कंठ करके सुनाया करते थे।

अपने पर्यटन-काल में गोस्वामी तुलसीदास ने अवधपुरी पहुँचकर रामचरितमानस लिखने का विचार किया। रामचंद्रजी के जन्म-दिन का ठीक योग संवत् १६३१ में पड़ा। इसी दिन गोस्वामीजी ने रामायण आरंभ कर दी। यह संवत् 'मानस' में दिया हुआ है। अनुमान यह किया जाता है कि अरण्यकांड के लिखने तक गोस्वामीजी अयोध्या में रहे और बाद में काशी चले गए। किष्किंधाकांड का आरंभ काशी में ही हुआ। किष्किंधाकांड के आरंभ में काशी का वर्णन मिलता है। ग्रंथ की समाप्ति-तिथि का उल्लेख 'संक्षिप्त मूल गोसाईं चरित' में है; किंतु गणना की समीक्षा में वह ठीक नहीं उतरती।

इस स्थान पर हमें गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों की समीक्षा नहीं करनी है। अतएव 'मानस' के संबंध में भी कुछ न कहकर हम

इतना ही बतला देना चाहते हैं कि यह उनका सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है और उनकी अक्षय कीर्ति का निरंतर निर्झर है।

रामायण की सामग्री तुलसीदासजी ने कई स्थानों से ली है। उनका मुख्य आधार वाल्मीकि-रामायण है। तुलसीदासजी के इष्टदेव उनके स्वामी थे अतएव 'मानस' के पात्रों और वाल्मीकि-रामायण के पात्रों में बड़ा अंतर आ गया है। राम के चरित्र में शील, शक्ति और सौंदर्य का जैसा अनूठा समन्वय गोस्वामीजी ने दिखलाया है वैसा वाल्मीकिजी ने नहीं दिखलाया। वाल्मीकिजी के राम जिस स्थान पर लेटते हैं उस स्थान की पृथ्वी उनकी भुजा की गुरुता से दब जाती है। इसमें शक्ति-गुण अधिक है। सौंदर्य का कोमल चित्र सामने नहीं आता परंतु 'जहँ जहँ राम लषन सिय जाहीं, तहँ तहँ मेघ करहिं परछाहीं' में सौंदर्य-गुण चरम सीमा तक पहुँचा हुआ दिखाई देता है जिसका मूक प्रभाव मेघ ऐसे निर्जीव पदार्थ पर भी दृष्टिगत होता है। कौशल्याजी का चरित्र भी वाल्मीकि का अधिक मानवीय है परंतु तुलसीदासजी की कौशल्या बहुत ऊँचे उठ गई हैं। परशुरामजी के मिलने के समय में कुछ अंतर है। सेतुबंध-वर्णन वाल्मीकि में नहीं है। कहीं कहीं की उक्तियाँ रघुवंश, हनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव, अध्यात्म-रामायण आदि ग्रंथों से भी ले ली गई हैं। वर्षा और शरद् का वर्णन तो प्रायः ज्यों का त्यों श्रीमद्भागवत से अनुवादित है। इसी प्रकार 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' भी श्रीमद्भागवत की ही उक्ति है।

यह संसार के सर्वोत्कृष्ट महाकाव्यों में से एक है। महाभारत की भाँति इसमें कथाओं का ताँता नहीं है, गीता के समान केवल ज्ञान ही नहीं है, किसी प्रेमी की प्रेमिका के हेतु रोदन-लीला नहीं है; इसमें सुख है दुःख है, हर्ष है विषाद है, दुर्जनता की चरम सीमा है, साधना द्वारा संयमित सज्जनता की पराकाष्ठा है और कवि

की कवित्व-शक्ति की अपूर्व प्रतिभा का अनोखा विकास है—वास्तव में यह संसार का, मानव-जाति का महाकाव्य है। यदि अवकाश मिला तो रामायण की विशद आलोचना पृथक् रूप से की जायगी।

धीरे धीरे 'मानस' की ख्याति बहुत बढ़ गई। काशी के पंडितों को यह बात अखरी कि संस्कृत ग्रंथों से अधिक हिंदी ग्रंथ का अध्ययन बढ़ जाय। वे गोस्वामीजी से विरोध मानने लगे। इसके प्रमाण गोस्वामीजी की कृतियों में भी मिलते हैं। उनके प्राण-हरण तक का प्रयास किया गया। गोस्वामीजी को लौकिक और अलौकिक सहायता मिली और वे बच गए। इस ब्राह्मण-विरोध का वर्णन गोस्वामीजी की जीवनियों में बड़ा विशद मिलता है। गोस्वामीजी काशी छोड़कर चले ही गए होते, यदि उनके मित्र टोडरमल उनकी सहायता न करते।

विनयपत्रिका की सृष्टि हनुमान्‌जी के आदेशानुसार की गई कही जाती है। इसमें दैन्य, तितिक्षा, विश्वास इत्यादि भावों की बड़ी अनूठी अभिव्यक्ति है। पर्यटन-काल में ही सतसई की रचना हुई। 'संक्षिप्त मूल गोसाईंचरित' के अनुसार इसकी रचना-तिथि की गणना से एक दिन का अंतर आता है। कवि केशव से भी—'संक्षिप्त गोसाईंचरित' के अनुसार—गोस्वामीजी से भेंट हुई और गोस्वामीजी की ही प्रेरणा से उन्होंने रामचंद्रिका में रामचरित-गान किया।

गोस्वामीजी का पर्यटन निरंतर जारी रहा। वे दुखियों को सहायता देते हुए भ्रमण करते रहे। गोस्वामीजी ने दामोदर भाट को कवि होने का आशीर्वाद दिया, ऐसा 'संक्षिप्त मूल गोसाईं-चरित' में लिखा है। उनके पर्यटन का भूगोल प्रस्तुत करना हमें इष्ट नहीं, अतएव हम इतना ही कह देना अलम् समझते हैं कि उन्होंने लगभग सारे उत्तरापथ का भ्रमण किया था।

गोस्वामीजी के नाभादासजी से मिलने का प्रसंग बहुत ही रोचक है। साधु के जूते में खीर प्राप्त करने की उनकी अभिलाषा उनके जीवन पर एक विशेष प्रकाश डालती है। ऐसा भी प्रसिद्ध है कि गोस्वामीजी से कवि गंग की भी भेंट हुई है। इसका कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। अबुलफजल के 'अकबरनामे' में कवि गंग का नाम तो दिया गया है परंतु गोस्वामी तुलसीदास का नहीं है।

गोस्वामीजी-रचित १२ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं—(१) दोहावली, (२) कवित्त रामायण, (३) गीतावली, (४) रामचरितमानस, (५) रामाज्ञा, (६) विनयपत्रिका, (७) रामलला-नहछू, (८) पार्वती-मंगल, (९) जानकीमंगल, (१०) बरवै रामायण, (११) वैराग्य-संदीपनी और (१२) कृष्ण-गीतावली।

इनके अतिरिक्त १० ग्रंथों के नाम 'शिवसिंहसरोज' आदि में और मिलते हैं—(१) राम-सतसई, (२) संकटमोचन, (३) हनुमानबाहुक, (४) रामसलाका, (५) छंदावली, (६) छप्पय रामायण, (७) कड़खा रामायण, (८) रोला रामायण, (९) झूलना रामायण और (१०) कुंडलिया रामायण।

इनमें से कई तो मिलते नहीं और कई दूसरे ग्रंथों के अंश मात्र हैं। राम-सतसई एक बड़ा ग्रंथ प्रतीत होता है। मेरे कालेज के एक विद्यार्थी ने मुझे 'कुंडलिया रामायण' की एक हस्त-लिखित प्रति दिखलाई थी। पूज्य महावीरप्रसादजी द्विवेदी की धारणा है कि वह 'कुंडलिया रामायण' वास्तव में गोस्वामीजी-कृत ही है। पहले कुछ छंदों को पढ़कर मेरी भी यही धारणा बँध गई थी परंतु बाद की कुंडलियाँ पढ़ने से मुझे उक्त ग्रंथ गोस्वामीजी-कृत नहीं जँचता। उसके क्रियापद, शब्द-प्रयोग तुलसीदासजी के नहीं जँचते। परंतु ग्रंथ की पूर्ण समीक्षा बिना कोई सम्मति निश्चित नहीं की जा सकती।

गोसाईं जी-कृत बारह ग्रंथों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

'दोहावली' गोसाईंजी के उन दोहों का संग्रह है जो उन्होंने भिन्न भिन्न लौकिक स्वरूप तथा भगवान् के नाम के माहात्म्य और धर्म आदि के ऊपर कहे हैं। इनकी संख्या ५७५ कही जाती है। इनमें से कुछ दोहे तो रामायण में से ज्यों के त्यों निकालकर रख दिए गए हैं। कुछ ऐसे हैं जिनका आशय सरलता से समझ में नहीं आता। चातक की अन्योक्तियों में उनकी सच्ची लगन अंकित है। इनमें से कुछ तो अत्यंत सुंदर हैं; जैसे—

चातक तुलसी के मतें, स्वातिहु पियै न पानि।
प्रेम-तृसा बाढ़त भली, घटे घटैगी आनि॥
रटत रटत रसना लटी, तृसा सूखिगे अंग।
तुलसी चातक-प्रेम को, नित नूतन रुचि रंग॥
बध्यो बधिक पर्‌यो पुन्य जल, उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक-प्रेम-पट, मरतहु लगी न खोंच॥

इसमें कुछ दोहे ऐसे भी हैं जिनमें दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन हुआ है। अपने समय की शासन-प्रणाली के विषय में भी कुछ दोहे कहे हैं। गंगापुत्रों को दान देने की प्रणाली का भी विरोध किया गया है। इस प्रकार तुलसीदासजी का यह ग्रंथ सभी विषयों की विवेचना द्वारा अलंकृत है।

अपने समय की दशा का संकेत करनेवाले गोसाईंजी के कुछ दोहे नीचे दिए जाते हैं—

बादहिं सूद्र द्विजन सन, हम तुमतें कछु घाटि।
जानहिं ब्रह्म सो विप्रवर, आँख दिखावहिं डाँटि॥ ५५३॥
साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं वेद पुरान॥ ५५४॥

तुलसी पावस के समय, धरी कोकिलन मौन।
अब तो दादुर बोलिहैं, हमें पूछिहै कौन ॥ ५६४ ॥

'कवितावली' में भिन्न भिन्न समय के बनाए छंदों का संग्रह है। ये सब करीब करीब रामचरित-संबंधात्मक हैं। इस समय के कुछ छंदों अथवा रचनाओं द्वारा तुलसीदासजी के जीवन के किन्हीं अंशों पर कुछ प्रकाश पड़ता है। यह ग्रंथ सात कांडों में विभाजित है परंतु 'रामचरितमानस' की भाँति इसमें प्रत्येक विषय की विस्तृत विवेचना नहीं है। कहीं किसी किसी बात का तो केवल आभास मात्र है। रामचंद्रजी की जीवन-कथा किसी क्रम से नहीं दी गई है। भरत इत्यादि की तो इसमें चर्चा ही नहीं है। सारी कथा कवित्त, घनाक्षरी, सवैया और छप्पय आदि छंदों में कही गई है। तत्कालीन समाज का चित्र अत्यंत सुंदर है। शृंगाररस का एक प्रकार से अभाव सा है परंतु कहीं कहीं प्रेम-संबंधिनी अच्छी उक्ति भी मिल जाती है—

राम को रूप निहारति जानकि कंकन के नग की परछाहीं।
यात सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं ॥

इस ग्रंथ का अधिकांश भाग कवित्वपूर्ण नहीं है। काशी की महामारी का सविस्तर वर्णन दिया है। यह उनका सबसे अंतिम ग्रंथ सा ज्ञात होता है। लंका-दहन का वर्णन इस पुस्तक में बहुत मूर्तिमान् है। कहते हैं कि उनके ग्राम के समीप कहीं आग लगी थी, उसी को देखकर उन्होंने यह वर्णन किया था। इस ग्रंथ में राम के प्रति केवट के जैसे प्रेम का निरूपण है वैसा गोसाईंजी के ग्रंथों में अन्यत्र नहीं मिलता। बाल-मनोभाव का वर्णन भी अत्यंत सुंदर है।

प्रकृति का कैसा स्वाभाविक वर्णन इस छंद में है—

लीन्हों उखारि पहार विसाल, चल्यो तेहि काल, विलंब न लायो।
मारुतनंदन मारुत को, मन को, खगराज को वेग लजायो ॥

तीखी तुरा तुलसी कहतो, पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो ॥*

'गीतावली' ब्रजभाषा में राग-रागनियों में रचा गया रामचरित-संबंधी ग्रंथ है। इसमें कृष्ण-भक्ति-धारा के प्रसिद्ध कवियों की मधुर, सरस और कोमल वर्णन-शैली का ही अनुकरण हुआ है। बाल-लीला और राम-राज्य तथा रामचंद्रजी की क्रीड़ा और विहार आदि के वर्णन इसमें अत्यंत सुंदर हुए हैं। इस ग्रंथ के कुछ छंद 'सूर-सागर' में केवल नाम मात्र के अंतर से मिलते हैं। राम-विहार का वर्णन इसमें बिलकुल श्रीकृष्ण-लीला का अनुकरण सा प्रतीत होता है। कदाचित् यह सूर-सम्मिलन का प्रसाद है।

'रामचरित-मानस' ही वह सर्वप्रिय ग्रंथ है जिसकी प्रशंसा में प्रत्येक की लेखनी से कुछ न कुछ शब्द, हृदय की सच्ची प्रेरणा द्वारा प्रेरित होकर, निकले हैं। परंतु कुछ लिखने को अब भी शेष है। 'मानस' की पूर्णता का अनुभव वही कर सकता है जिसने इसे एक बार भी देखा है। आदर्श कविता के किसी प्रशंसात्मक वर्णन में चाहे कोई बढ़ जाय परंतु सबकी समता और सामंजस्य इतनी उचित मात्रा में और कहीं न मिलेगा। यह ग्रंथ अवधी भाषा में—चौपाई, दोहा, छंद, सोरठा आदि में—लिखा गया है। कवि की व्यंजक-शक्ति का विस्तार प्रबंध-काव्य में अनुपम चमत्कार उपस्थित कर देता है।

---

* अभी हाल में इंडियन प्रेस ने 'कवितावली' पर राय बहादुर पं० चंपाराम मिश्र की टीका प्रकाशित की है। कुछ लोगों ने विरोधवश उक्त टीका में व्यर्थ की अशुद्धियाँ निकाली हैं परंतु टीका बहुत उत्तम है और उक्त ग्रंथ पर अभी तक जितनी टीकाएँ निकली हैं उन सबसे अच्छी है। मिश्रजी ने केवल 'कवितावली' की उक्तियों के आधार पर जो गोस्वामी तुलसीदास की जीवनी प्रस्तुत की है, संभव है कि, उससे लोग सहमत न हों और उसे एकांगी समझें; परंतु इससे टीका की महत्ता कम नहीं होती।

'रामाज्ञा प्रश्न' का निर्माण तुलसीदासजी ने शकुन विचारने के लिये किया था। पुस्तक बनने के विषय में एक कहानी लिखी है। कहते हैं कि काशी में रामघाट के राजा के राजकुमार एक बार आखेट को गए। उनके किसी साथी को बाघ खा गया परंतु राजा को यह सूचना मिली कि उन्हीं के राजकुमार मारे गए हैं। राजा ने ठीक ठीक भेद जानने के लिये गंगाराम ज्योतिषी को बुला भेजा और कहा कि यदि तुम्हारी बात सच निकली तो मैं तुम्हें एक लाख रुपए भेंट करूँगा नहीं तो तुम्हें मृत्यु-दंड दिया जायगा। तुलसीदासजी गंगाराम के बड़े मित्र थे। उन्होंने यह पुस्तक ज्योतिषीजी को शोकित देखकर बनाई थी। कहते हैं कि कागज के अतिरिक्त और कुछ न मिलने के कारण यह पुस्तक कत्थे से लिखी गई है। इसी के अनुसार गंगारामजी ने राजा साहब को उचित फल बतलाया और उसके सत्य निकलने पर एक लक्ष रुपए प्राप्त किए। उन रुपयों में से गोस्वामीजी ने ज्योतीषी के आग्रह करने पर १२ सहस्र रुपए अत्यंत कठिनता से स्वीकार किए और उनसे हनुमान्‌जी के १२ मंदिर स्थापित करा दिए। पं० रामचंद्र शुक्ल के मतानुसार यह पुस्तक ठीक नहीं है।

'विनय-पत्रिका' कविता में, श्रीरामचंद्रजी के दरबार में, तुलसी-दासजी की अर्जी है। कहा जा चुका है कि एक समय कलि इन्हें प्रत्यक्ष रूप से आकर डरवाने लगा। इस पर इन्होंने हनुमान्‌जी का स्मरण किया। उन्होंने अनुमति दी कि श्रीरामचंद्रजी के दरबार के लिये एक अर्जी लिखी जाय। कहते हैं, इसी लिये गोस्वामीजी ने यह ग्रंथ बनाया।

कुछ लोगों का कहना है कि यह तुलसीदासजी का सर्वोत्कृष्ट ग्रंथ है। आदि के स्तोत्रों को छोड़कर अधिक पद मार्मिक हैं। यह ग्रंथ व्रज भाषा में है। इसमें सरसता कूट कूटकर भरी है। इसके

बहुत से छंद संसार के सर्वोच्च काव्य के समकक्ष रखे जा सकते हैं। भक्त-वत्सल के लिये दीन भक्त की आर्त्त पुकार की इतनी अनूठी व्यंजना किसी अन्य भाषा के काव्य में शायद ही देखने को मिले। प्रत्येक उद्गार में कवि का हृदय लिपटा हुआ दिखाई देता है। गीत एक से एक अच्छे हैं।

'रामलला नहछू', 'बरवै रामायण', 'पार्वतीमंगल' तथा 'जानकीमंगल' की विशद आलोचना इसी ग्रंथ में अन्यत्र देखिए।

'वैराग्य-संदीपनी' में संत-महात्माओं के लक्षण, उनकी प्रशंसा और वैराग्य के उत्कृष्ट वर्णन लिखे गए हैं। इसके तीन प्रधान अंग—संत-स्वभाव-वर्णन, संत-महिमा-वर्णन और शांति-वर्णन—हैं।

सूरदासजी ने रामचरित का जैसा वर्णन किया है वैसा ही तुलसीदासजी ने कृष्णचंद्रजी का वर्णन 'कृष्ण-गीतावली' में किया है। इसमें उनका पूरा चरित्र वर्णित नहीं है। भिन्न भिन्न लीलाओं पर इच्छानुसार कविता की गई है, और उसी को पुस्तक रूप दे दिया गया है। सफलता भी तुलसीदासजी को उतनी ही हुई है जितनी सूरदास-जी को राम-वर्णन में हुई है ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'सूर रामा-यण' से 'कृष्ण-गीतावली' कहीं अधिक उत्कृष्ट और अच्छी पुस्तक है।

संभव है, अभी गोस्वामीजी की जो कृतियाँ नहीं मिली हैं वे भी खोज द्वारा प्राप्त हों और किसी विशेष रूप से हम लोगों के वर्तमान ज्ञान की अभिवृद्धि करें।

गोस्वामीजी का वैयक्तिक स्वभाव बड़ा मृदुल और सहृदय प्रतीत होता है। अब्दुल रहीम खानखाना और तालुकेदार टोडर-मल इनके अभिन्न मित्र थे। टोडरमल की मृत्यु से इन्हें बड़ा दुःख हुआ था। इनके अन्य मित्र महाराजा मानसिंह और उनके भाई जगतसिंह थे। ये सज्जन आपसे बराबर मिलने आया करते थे। इतनी ऊँची पहुँच होने पर भी उनकी वृत्ति के संबंध में यह

अनुमान करना कि वे भिक्षा-वृत्ति से जीवन व्यतीत करते थे सहसा समझ में नहीं आता। जिन पदों को लिखकर यह अनुमान किया जाता है वास्तव में वे उनके दैन्यभाव के पद हैं जिनमें गहरी तितिक्षा और संसार से नकारवृत्ति की व्यंजना है। उन्हें काव्य-वाक्य न समझकर तथ्य-वाक्य समझना अनुचित है।

लोगों का मत है कि तुलसीदास की मृत्यु प्लेग के कारण हुई। कहते हैं कि अपने अंत समय तुलसीदासजी काशी में थे और वहाँ प्लेग फैला हुआ था। इसके प्रमाण में ये कवित्त उद्धृत किए जाते हैं—

संकर-सहर सर, नरनारि वारिचर,
विकल सकल महामारी माँजा भई है।
उछरत उतरात हहरात मरि जात,
भभरि भगात, जल-थल मीचुमई है।
देव न दयालु, महिपाल न कृपालु चित,
वारानसी बाढ़ति अनीति नित नई है।
पाहि रघुराज, पाहि कपिराज रामदूत,
रामहू की बिगरी तुहीं सुधारि लई है॥
एक तो कराल कलिकाल सूलमूल तामें,
कोढ़ में की खाजु सी सनीचरी है मीन की।
वेद-धर्म दूरि गए, भूमि-चोर भूप भए,
साधु सीद्यमान, जानि रीति पाप-पीन की।
दूबरे को दूसरो न द्वार, राम दयाधाम,
रावरी ही गति बल-विभव-विहीन की।
लागैगी पै लाज वा विराजमान विरुदहिं,
महाराज आजु जौ न देत दादि दीन की॥

फिर कहा जाता है कि उनका अंतिम कवित्त यह है—

कहौं हनुमान सों सुजान राम राय सों,
कृपानिधान संकर सावधान सुनिए।
हरष-विषाद-राग-रोष-गुन-दोष-मई,
बिरची बिरंचि सब देखियत दुनिए॥
माया जीव काल के, करम के, सुभाय के,
करैया राम, वेद कहैं, साँची मन गुनिए।
तुमतें कहा न होय, हा! हा! सो बुझैए मोहिं,
हौंहूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनिए॥

और फिर वहाँ से उठकर गंगा-तट पर आ पड़े जहाँ उन्होंने क्षेम-करी के दर्शन किए और यह सवैया कहा—

"कुंकुम रंग सुअंग जितो मुखचंद सो चंद सों होड़ परी है।
बोलत बोल समृद्ध चुवै, अवलोकत सोच विषाद हरी है॥
गौरी कि गंग विहंगिनि-वेष, कि मंजुल मूरति मोद-भरी है।
पेखि सप्रेम पयान समै सब सोच-विमोचन छेमकरी है॥"

बस, इसके उपरांत तुलसीदासजी की मृत्यु हो गई।

पं० रामचंद्र शुक्लजी का भी यही मत है। परंतु तुलसीदासजी के श्रद्धालु इससे सहमत नहीं हैं। उनका मत है कि तुलसीदासजी की मृत्यु प्लेग से नहीं हुई। इसके प्रमाण में वे कहते हैं कि 'हनु-मान-बाहुक' का, जो उनके मृत्यु-समय का कहा जाता है, बहुधा रोग-निवृत्ति के लिये पाठ किया जाता है। यदि तुलसीदासजी की मृत्यु उसी समय हुई होती तो यह पुस्तक अनुष्ठान-क्रिया के योग्य न होती। बाबा वेणीमाधवदास के 'संक्षिप्त मूल चरित' के पढ़ने से भी यही प्रतीत होता है कि उनकी मृत्यु 'हनुमान-बाहुक' के उपरांत तुरंत ही नहीं हुई। जहाँ पर इस पुस्तक का उल्लेख हुआ है, उसके बाद ही गोसाईंजी की मृत्यु की चर्चा नहीं है, वरन् अनेक अन्य घटनाओं के वर्णन के पश्चात् उनकी मृत्यु की तिथि आदि दी

गई है। हाल ही में एक लेख एक पत्रिका में प्रकाशित हुआ है जिससे यह सिद्ध होता है कि—

"हाँ हूँ रहौं मौन ही बयो सो जानि लुनिए।"

वाला पद 'मूल कवितावली' में है ही नहीं।

जो हो, उनकी मृत्यु संवत् १६८० में हुई, इससे सभी सहमत हैं। उनके मरने की तिथि के बारे में कुछ मत-भेद अवश्य है। अब तक इसके संबंध में यह दोहा प्रचलित था—

संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

अर्थात् संवत् १६८० में अस्सी घाट पर श्रावण शुक्ला सप्तमी के दिन तुलसीदासजी का परलोकवास हुआ।

'संक्षिप्त मूल चरित' में उनकी प्राणांत-तिथि इस प्रकार है—

'संवत् सोरह सै असी, असी गंग के तीर।
श्रावण श्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यो शरीर॥

यही तिथि इस समय मान्य है। टोडरमल तुलसीदासजी के परम मित्र थे। उनके घर के लोग आज तक इसी तिथि को एक सीधा गोसाईंजी के नाम से देते हैं। परंतु गणना से इसमें थोड़ा अंतर पड़ता है। फिर भी इस समय सभी विद्वान् इसी तिथि को मानते हैं। कहा जाता है कि जो भ्रम इस तिथि के संबंध में अभी तक प्रचलित था, वह केवल इस कारण कि इनकी जन्म-तिथि 'श्रावण शुक्ला सप्तमी', गलती से, इनकी मरण-तिथि के रूप में प्रचलित थी। मरण के समय के तुलसीदासजी के भाव देखिए—

"रामचंद्र यश बरनि कै, भयौ चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए, अब ही तुलसी सौन॥"

काव्यकला और गोस्वामीजी की निजी प्रेरणा

संसार के इतिहास में जब से लोग काव्य समझने लगे हैं, तभी से काव्य को परिभाषित करने की चेष्टा की जा रही है। इस दिशा में पूर्व और पश्चिम दोनों ओर प्रयास किया गया है। कला में काव्य का क्या स्थान है, भिन्न भिन्न आलोचकों ने उसकी उपयोगिता और अनुपयोगिता के संबंध में क्या कहा है तथा काव्य का जीवन से क्या संबंध है, इस दिशा में काफी चर्चा होने लगी है। पश्चिम-निवासियों ने काव्य को किस प्रकार परिभाषित किया है उसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

जानसन का कहना है कि "कविता छंदबद्ध प्रबंध है। उसके द्वारा कल्पना और विवेक की सहायता से आनंद और सत्य की अभिव्यंजना की जाती है।" मिल साहब का कहना है कि "काव्य विचार और शब्द द्वारा भावों की स्वतः व्यंजना है।" मेकाले का कथन है कि "कविता वह कला है जो शब्दों को इस प्रकार सजाती है कि वे विचार में भ्रम उत्पन्न कर दें। कवि शब्दों का उसी प्रकार प्रयोग करता है जिस प्रकार चित्रकार रंग का करता है।" कारलाइल कविता को 'संगीतमय विचार' मानते हैं। शेली का मत है कि "कविता साधारणतया कल्पना की व्यंजना है।" हैज़लिट उसे 'कला और मनोवेग की भाषा' मानते हैं। लीटेट कविता को 'सत्यं शिवं सुंदरम् की भावात्मक व्युत्पत्ति' मानते हैं। कालरिज की सम्मति में 'कविता विज्ञान की विरोधिनी है और उसका निकट संबंध आनंद से है, सत्यता से नहीं।' वर्ड्सवर्थ के अनुसार 'कविता सारी विद्याओं का प्राण और सूक्ष्म आध्यात्मिक तत्त्व है'। मेथ्यु आर्नल्ड उसे 'मानव जीवन की व्याख्या' मानते हैं। रसकिन का

कहना है कि 'कविता उदात्त मनोवृत्तियों के श्रेष्ठ आलंबनों की उपयुक्त व्यंजना है।' आर्नल्ड अन्यत्र उसे 'अत्यंत पूर्ण और आनंददायक मनुष्य-शक्ति की अभिव्यक्ति' मानते हैं।

ये सारी परिभाषाएँ अपूर्ण और असंतोषपूर्ण हैं। कुछ तो केवल काव्यमय उद्गार हैं, कुछ में आंशिक सत्यता है। इन परिभाषाओं के अतिरिक्त 'प्लेटो', 'एरिस्टाटिल' से लेकर आज तक जितने आलोचक हुए हैं उन्होंने कविता के संबंध में किसी न किसी नई धारणा की अभिव्यक्ति की है। पश्चिम ने भी, पूर्व के सदृश, कविता को बहिरंग और अंतरंग भागों में बाँटकर दोनों के पार्थक्य पर अधिक जोर देकर बहुत से तत्त्वों की कल्पना की है। अभी बहुत दिन नहीं हुए जब कविता के अंतरंग तीन तत्त्वों की चर्चा की गई थी। परंतु लेखकों ने उनका क्रम बेढंगा करके उनके समझने में कठिनता उत्पन्न कर दी है। राग, कल्पना और बुद्धि तत्त्वों का क्रम ऊपर ही जैसा है।

संसार में, बालक उत्पन्न होते ही अपना रागात्मक संबंध स्थापित करने का प्रयत्न करने लगता है। उसमें नैसर्गिक शक्ति होती है जिसे इच्छा या वृत्ति कहते हैं। यही वृत्ति संसार में अनुकूलता उपलब्ध करके 'प्रवृत्ति' में और प्रतिकूलता उपलब्ध करके 'निवृत्ति' में परिवर्तित हो जाती है। बच्चा जब आग में हाथ डालकर उसकी प्रतिकूलता अनुभव करता है तब उसे आग से निवृत्ति हो जाती है और जब मिठाई खाकर उसमें अनुकूलता अनुभव करता है तब वही वृत्ति प्रवृत्ति में परिणत हो जाती है। यही उस बालक का उक्त वस्तुओं के साथ रागात्मक संबंध है। प्रतिकूलात्मक और अनुकूलात्मक, प्रवृत्त्यात्मक और निवृत्त्यात्मक, सुखात्मक तथा दुःखात्मक इसी संबंध को रागात्मक संबंध कहते हैं। रागात्मक भाव स्मृति-पट पर अंकित होते चले जाते हैं।

कल्पना वह विधान है जिसके द्वारा स्मृति-पट पर अंकित रागों को हम स्मरण करते हैं। कल्पना की निधि स्मृति-पट या स्मृति-कोष है। कल्पना का विधान सरल और मिश्रित दो प्रकार का है। एक उड़ते हुए आदमी की कल्पना मिश्रित विधान का फल है। हम एक आदमी को सोचते हैं और फिर एक पक्षी की कल्पना करते हैं। उड़ते हुए पक्षी का पंख लेकर आदमी के लगाते हैं। यह लगाने का विधान हमारा जागरूक ज्ञान नहीं करता। यह अजागरूक अथवा अर्द्ध-जागरूक ज्ञान द्वारा होता है जिसका ज्ञान जागरूक ज्ञान को नहीं हो पाता। अर्द्ध-जागरूक और अजागरूक ज्ञान के कार्य-विधान का सुंदर और स्पष्ट कथन हम मनोविज्ञान-विश्लेषण शास्त्र में पढ़ सकते हैं। स्मृति-पट एक चलित चित्र के सदृश है। कल्पना के द्रुतवान् वेग से वह संचालित होकर अपने भावात्मक चित्र सम्मुख रखता है। जो चित्र हमें अच्छा लगता है वह समक्ष रुक जाता है। कल्पना की अप्रतिहत कला को 'मेधा' कहते हैं। भावमय चित्र उपस्थित करने के लिये, उसे स्पष्ट और प्रभावोत्पादक स्वरूप देने के लिये, कल्पना द्वारा पूर्व-संकलित चित्रों का निरीक्षण एवं चयन आवश्यक है। सादृश्यभाव की सहायता से अभिव्यंजनीय चित्र प्रभावोत्पादक और स्पष्ट हो जाता है। यही रागतत्त्व तथा कल्पना-तत्त्व का इतिहास है।

बुद्धि-तत्त्व स्थूल रूप में वह शक्ति है जो राग की उपयोगिता तथा कल्पना द्वारा आनीत चित्र की उपादेयता निर्धारित करती है। राग और कल्पना में हृदय की ही अधिक प्रतिच्छाया रहती है। बुद्धितत्त्व में हृदय से हटकर मन से काम लेना पड़ता है। बुद्धितत्त्व का उद्गम-स्थान, रागों और कल्पनाओं के उत्पादक हृदय का अक्रिय स्वरूप—जिसे मन कहते हैं—है। भारतीय शास्त्रों में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार एक ही वृत्ति के विकास

में भिन्न भिन्न स्थितियाँ हैं। बुद्धि-तत्त्व राग की भड़भड़ाहट तथा कल्पना की फड़फड़ाहट की कर्कशता दूर करने के लिये अत्यंत आवश्यक है। इसकी सहायता के बिना कविता कभी भी बड़े लोगों की वस्तु नहीं कही जा सकती। राग-समूह भिन्न भिन्न प्रकार के पौधे हैं। उनका चयन कल्पना करती है। परंतु किस पौधे को कहाँ लगाया जाय, किसकी कलम की जाय, किसका स्वरूप किस पौधे के साथ अधिक खिलता है, इसका निर्णय बुद्धि-तत्त्व करता है।

यहाँ हमें यह भ्रम न करना चाहिए कि बुद्धि-तत्त्व इन दोनों तत्त्वों से कोई बहुत पृथक् वस्तु है। भावों के आगे का काम कल्पना करती है। बुद्धि-तत्त्व भी कल्पना-प्रसूत स्वरूप के ही, जिसका अनुगमन हमने पहिले कभी कर रखा है, आश्रित रहता है। आप कभी भी बुद्धि द्वारा एक अच्छा उद्यान नहीं बना सकते जब तक आपने स्वयं कभी अच्छे उद्यान को न देखा हो अथवा उसके संबंध में अन्य किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त न किया हो। जो कुछ फेर-फार हम उद्यान में करते हैं उसका भी कारण विभिन्न उद्यानों का मानसिक दृष्टि में स्पष्टीभूत सौंदर्य ही है जिसे हम भावमय ज्ञान कहेंगे।

इस प्रकार राग, कल्पना और बुद्धि काव्य के अंतरंग स्वरूप कहे जाते हैं; बहिरंग स्वरूप शैली कहा जाता है। अंतरंग और बहि-रंग के झगड़े ने एक नया बवंडर खड़ा कर दिया है। कुछ लोग कविता का सर्वस्व उसका भाव, उसका विषय मानने लगे हैं और कुछ लोग अभिव्यंजना-शक्ति को ही सब कुछ मानते हैं। परंतु इस भ्रम में पड़कर यह कभी न मानना चाहिए कि काव्य के कथित अंतरंग और बहिरंग स्वरूप का कोई अपरिहार्य संबंध है।

भारतवर्ष के भी विद्वानों ने काव्य के स्वरूप को अनेक दृष्टि-कोणों से परिभाषित करने का प्रयत्न किया है। जिस स्वरूप में

उन्हें अधिक आकर्षण और अधिक लालित्य दिखाई पड़ा उसी को वे काव्य का प्रधान स्वरूप मान बैठे हैं। इसी से उन्होंने अनेक भूलें की हैं, जिन्हें परवर्ती विद्वानों ने ठीक किया है। आज वाग्भट्ट, उद्भट, दंडी और रुद्रट की अलंकार-विषयक काव्य की परिभाषा को कोई नहीं मानता। 'रीतिरात्मा काव्यस्य'[1], 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'[2], 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम्'[3], 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'[4] इत्यादि उक्तियों में आंशिक सत्यता और घोर अतिरंजना के दर्शन होते हैं। इन आचार्यों को अपनी परिभाषाओं को स्वाभाविक, तार्किक और न्यायसंगत बनाने के लिये अलंकारों और रीतियों को इतना विस्तृत करना पड़ा कि वे अनेक हो गईं और उनकी अभिधानप्रेरणा में अतिव्याप्ति दोष आ गया। रीतियों[5] की संख्या यद्यपि वैदर्भी, गौड़ी और पांचाली तीन ही रही परंतु वृत्तियों के आधार पर गुणों[6] की संख्या-वृद्धि

---

(१) वामन। (२) भामह। (३) जगन्नाथ। (४) दंडी।

(५) 'वचनविन्यासक्रमो रीतिः'।
'विशिष्टापदरचना रीतिः'। } —राजशेखर

(६) श्लेषः प्रसादः समता वा माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः॥—दंडी।
पदसंघटना रीतिरंगसंस्थाविशेषवत्।
उपकर्त्री रसादीनाम्............॥
माधुर्यव्यंजकैर्वर्णैं रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते।
ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बंध आडम्बरः पुनः॥
समासबहुला गौडी, वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः।
समस्तपंचपपदो बन्धः पाञ्चालिका मता॥—विश्वनाथ।

× × ×

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा।
गुणाः माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा॥

बहुत हो गई। वक्रोक्ति* को महत्त्व देनेवाले, अलंकार सिद्धांत के साथ ही साथ, विलीन हो गए। ध्वनि संप्रदायवालों को तो इस सिद्धांत के प्रतिपादकों का अंग ही मानना चाहिए। इस सिद्धांत का प्रचार इसलिये बढ़ा कि 'रस' सिद्धांत के परिपोषकों की संख्या बढ़ती ही गई। बाद में 'ध्वनि' संप्रदायवालों ने 'रस' संप्रदायवालों पर अपनी महत्ता प्रदर्शित करने के लिये अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि को रसध्वनि के साथ ला मिलाया जिससे उनका क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जाय।

कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य की बहुत सी परिभाषाएँ संस्कृत के विद्वानों ने कीं और वे भ्रमात्मक सिद्ध कर दी गईं परंतु 'रस' सिद्धांत अभी सभी विद्वानों को मान्य है।

चित्तद्रवीभावमयोह्लादो माधुर्यमुच्यते।
संभोगे करुणे विप्रलंभे शान्तेऽधिकं क्रमात्॥
मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।
ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते॥
वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु।
वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यंजकतां गताः॥
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी।
चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः॥
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।
शब्दास्तद्व्यंजका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः॥—विश्वनाथ।

* "भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम्।"—देखो राजानक कुंतक की वक्रोक्तिजीवित।

गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में, बालकांड में, एक स्थान पर लिखा है—

आखर अरथ अलंकृत नाना, छंद प्रबंध अनेक विधाना।
भावभेद रसभेद अपारा, कवित दोष गुण विविध प्रकारा॥

अक्षर-विज्ञान, अभिधा, लक्षणा और व्यंजना द्वारा विभिन्न अर्थों का प्रतिपादन, अलंकारों की बाढ़, छंदों की विभिन्नता, खंड-काव्य और महाकाव्य में प्रबंध-काव्य का विभाजन, भाव का विभाव अनुभाव संचारी भावों में विभेद, रसों का वर्गीकरण, कविता के श्लेष प्रसाद समता इत्यादि दस गुण तथा ग्राम्य अश्लील इत्यादि दोष* इन बातों का पूर्ण पांडित्य गोस्वामीजी में न हो किंतु उनका परिचय लक्षणग्रंथों से अवश्य था। यह ऊपर के अवतरण से स्पष्ट है। 'रस'-विषयक उनकी एक उक्ति अन्यत्र भी मिलती है। "यदपि कवित रस एकहु नाहीं।" यह एक नम्रता का वाक्य अवश्य है परंतु इससे यह ज्ञात होता है कि काव्य की सुंदरता के लिये 'रस' की अनिवार्यता गोस्वामीजी भी स्वीकार करते थे। उनकी वृत्ति इस सिद्धांत से प्रेरित दिखाई देती है।

'रस' सिद्धांत का आविर्भाव कब हुआ यह तो निश्चयात्मक रूप से निर्धारित करना कठिन है परंतु काव्य में रसों की महत्ता समय समय पर लोग स्वीकार करते आए हैं। अग्निपुराण में लिखा है, 'वाक्चातुर्यप्रधानोऽपि रसः ह्येवात्यजीवितम्'। शेखर तक का कथन है कि "अलंकारस्तु शोभायै रस आत्म्यपरे मनः।" साहित्यदर्पण के लेखक ने तो अत्यंत विद्वत्तापूर्ण प्रणाली

---

* काव्य में नीचे लिखे हुए दोष माने गए हैं:—

अतिकटुत्व, च्युतसंस्कृत, अश्लीलता, ग्राम्यता, अप्रतीतत्व, क्लिष्टता, पुनरुक्ति, अक्रम, दुष्क्रम, न्यूनपदत्व, अधिकपदत्व, प्रतिकूलवर्णता, अपुष्टार्थता, अप्रयुक्तता, असमर्थता, कथितपदत्व, कष्टार्थता, पतत्प्रकर्ष, संदिग्धता आदि।

द्वारा 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' की प्रतिष्ठा करके इसी सिद्धांत को पुनरुज्जीवित किया।

साधारणतया रससिद्धांत के प्रसवकर्ता प्रसिद्ध नाट्यकार भरत मुनि माने जाते हैं। उनके नाट्यशास्त्र में लिखा है—विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः (अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के संयोग से रस-निष्पत्ति होती है)।

वास्तव में जिस परिपक्व स्थिति को भरत मुनि ने रस संज्ञा दी है उसकी सिद्धि नाटक में ही सुलभ थी। उस समय के महा-काव्य और खंडकाव्य लिखने की जैसी परिपाटी चल निकली थी उसके अनुसार उनमें चमत्कार-प्रदर्शन की ओर अधिक प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। कालिदास तक के महाकाव्यों और खंड-काव्यों में यत्र-तत्र कल्पना का इतना बाहुल्य दिखाई पड़ता है कि भावपक्ष दब गया है। माघ में तो कल्पना के चमत्कार के साथ साथ मानसिक व्यायाम की प्रवृत्ति भी देख पड़ती है। ऐसी अवस्था में भावना का तीव्र स्वरूप कैसे दिखाई पड़े ? न किसी पात्र के चरित्र-चित्रण का ही भावात्मक विकास दिखाई देता है और न कथा का ही क्रमिक विकास भावोत्कर्ष को ध्यान में रखकर किया गया है। कहीं ऊहा के बल पर कल्पना के चमत्कार-पूर्ण चित्र हैं और कहीं अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करने की धुन के फल-स्वरूप अनावश्यक प्रसंगों से कथा की गति मंद कर दी गई है और भावपक्ष को बिल्कुल निर्बल कर दिया गया है। ऐसी अवस्था में 'रस' की उत्पत्ति उन श्रव्य काव्यों में कैसे संभव थी ! परंतु संस्कृत नाटकों में यह बात नहीं है। उनमें रस-निष्पत्ति की सारी सामग्री होती है। उनका समूचा प्रासाद ही भावोत्कर्ष की भित्ति पर खड़ा है।

इसी बात को ध्यान में रखकर भरत मुनि को 'रस' की निष्पत्ति नाटकों में ही माननी पड़ी। गोस्वामीजी के रामचरितमानस के सदृश

श्रव्य काव्य न थे। केशव की रामचंद्रिका के सदृश काव्यों की भरमार थी। बात यह है कि संस्कृत के कवियों ने कलापक्ष और भावपक्ष के लिये दो भिन्न क्षेत्रों को अधिकतर चुन लिया। श्रव्य काव्य को कला की प्रतिष्ठा का साधन बनाया गया और दृश्य काव्य में रसात्मकता कूट कूटकर भर दी गई। दृश्य काव्यों को सुबोध बनाकर दर्शकों के बोधगम्य बनाना था। कला को साधारण व्यक्तियों की बुद्धि में उतार देना कोई सरल कार्य नहीं। अतएव विद्वानों के लिये श्रव्य काव्य ही उपयुक्त साधन थे। इस भावना से ही प्रेरित होकर क्षेत्रों की विभिन्नता स्थापित की गई। यह विभाजन सर्वत्र नहीं है परंतु उद्देश्य ऐसा ही प्रतीत होता है।

यहाँ यह न समझना चाहिए कि स्फुट छंदों में 'रस' की सिद्धि संभव ही नहीं। नाटकों के अंतर्गत एक से एक सुंदर स्फुट छंद आते हैं। उनसे 'रस' के उत्तेजन में बड़ी सहायता मिलती है। परंतु इस बात को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि एक अकेले स्फुट छंद से, चाहे वह कितना ही रस-संपन्न हो, रस-निष्पत्ति इतनी नहीं हो सकती और न उसका उतना चिरस्थायी प्रभाव ही दूसरे पर पड़ सकता है, जितना कि सामूहिक रूप से नाटक का पड़ता है। फिर संस्कृत छंदों के लेखकों का अधिकांश श्रम उक्ति-वैचित्र्य के प्रदर्शन में ही लग गया, रसात्मकता गौण रही।

नाट्यशास्त्र में 'रस' के वास्तविक स्वरूप के संबंध में एक स्थान पर लिखा है—

न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृतासिद्धिस्तयोरभिनये भवेत्॥

अर्थात् 'भाव' के बिना 'रस' और 'रस' के बिना भाव नहीं होता; एक की सिद्धि दूसरे पर निर्भर है। अभिप्राय यह है

कि जिस प्रकार भाव बढ़कर स्थायी भाव और फिर अपने ही दूसरे सादृश्य-स्वरूप संचारी भाव की सहायता से 'रस' बन जाता है—अर्थात् वासना-रूप 'रस' को पूर्ण रूप से उद्दीप्त कर देता है—उसी प्रकार उद्भूत 'रस' सहायक भावों को मनोवृत्तिमय बनाने में सहायता देता है। यही 'रस' और 'भाव' का अन्योन्याश्रय भाव है और इसी को सहायता का आदान-प्रदान कहेंगे। 'काव्य-प्रकाश' में 'रस' को भाव से पृथक् मानकर भरत मुनि की व्याख्या से कोई विरोध नहीं खड़ा किया गया है। जब 'काव्यप्रकाश' का लेखक इसको 'ब्रह्मानंदसहोदर' कहता है तब वह उसकी अत्यंत परिपकावस्था को ध्यान में रखता है जिसकी परिस्थिति भाव से भिन्न है। अन्यथा भाव के तीव्रतम स्वरूपों को ही 'रस' की संज्ञा दी जाती है। आगे की पंक्तियों में हम यह समझाने का प्रयत्न करेंगे कि 'भाव', 'स्थायो भाव' और 'रस' किस प्रकार हमारे मनोवेगमय द्रवणशील मानसिक तथ्य के द्रुत, द्रुततर और द्रुततम स्वरूप हैं। मानसिक दृष्टि में वे संसार के गत्यात्मक सौंदर्य के झीने, हल्के और गहरे स्वरूप के स्पष्टीकरण हैं।

हम संसार में सारी ज्ञानेंद्रियों को खोलकर घूमते फिरते हैं। बहुत सी वस्तुओं को देखते और बहुत सी बातों को सुनते हैं। बहुत से पदार्थों का आस्वादन करते हैं और बहुत सी गंध हमारी घ्राणेंद्रिय तक पहुँचती हैं। जन्म से ही यह व्यापार आरंभ हो जाता है और ज्यों ज्यों हम बढ़ते जाते हैं, यह अधिक विशद, पूर्ण और संकुल होता जाता है। साथ ही साथ हमारी तद्विषयक इंद्रियों में भी ज्ञान-संबंधो विकास होता जाता है। परंतु प्रत्येक दृष्ट वस्तु, श्रुत ज्ञान और स्पृष्ट पदार्थ हमें स्मरण नहीं आता और न सब सूँघो हुई वस्तुओं और आस्वादित पदार्थों के रसों का ही हमें ध्यान रहता है। हाँ, अशेष सृष्टि में इन ज्ञानेंद्रियों का

हमारा कोई विशेष प्रकार का संपर्क कभी कभी मन में अटक रहता है। यह तभी संभव है जब उस संपर्क में कोई विशेष महत्त्व है। हम घर से कालेज प्रतिदिन साइकिल पर जाते हैं परंतु यदि कोई पूछे कि मार्ग में कितने मकान पड़ते हैं तो हम न बता सकेंगे। परंतु यदि हमें दीनावस्था में विकल कोई भिखारिणी आर्तनाद करती हुई मिल जाय तो हम उसकी ओर रुककर देखेंगे। कदाचित् उतरकर उसकी सहायता करेंगे और उसके बाद कालेज की ओर अग्रसर होंगे। इस भिखारिणी की आकृति मन में स्थान कर लेगी और कम से कम थोड़े दिनों तक हम उसे न भूलेंगे। कारण यह है कि इस भिखारिणी की विपन्नावस्था का सौंदर्य-चित्र नेत्रेंद्रिय के सन्निकर्ष से मन पर अंकित हो गया और उसने हृदय में एक विशेष प्रकार की परिस्थिति उत्पन्न कर दी। इसी परिस्थिति को हम भाव कहते हैं। अतएव यह तात्पर्य निकला कि विश्व के गत्यात्मक क्रियाकलाप के संपर्क द्वारा इंद्रियों की मध्यस्थता से सौंदर्य-तथ्य (सौंदर्य शुद्ध दार्शनिक अर्थ में प्रयुक्त है, इसका अर्थ पदार्थों में आकृष्ट करनेवाले गुणों से है) हृदय में स्पष्ट होकर जिस विकार को उत्पन्न करता है उसे भाव कहते हैं। यह स्नायुओं में एक प्रकार का प्रकंपन-मात्र है। इसी परिस्थिति को अधिक समीचीन बनाने की दृष्टि से हम कह सकते हैं कि गत्यात्मक क्रियाकलाप के संपर्क द्वारा इंद्रियों की मध्यस्थता से सौंदर्य-तथ्य हृदय में स्पष्ट होकर वासना-रूप में सुषुप्त तद्विषयक प्रत्युत्तर-शील परिस्थितियों को सजग करता है। यह सजग परिस्थिति भाव है। जितनी ही देर यह वासना सजग रहेगी उतना ही भाव तीव्र रहेगा। यदि यह सजग वासना परिस्थितियों के कारण अधिक काल तक उद्दीप्त रही तो वह स्थायी भाव हो गई और यदि और भी अधिक काल तक यह भावना उद्दीप्त बनी रही और

प्राणी का सजग स्वरूप उसकी मस्ती में ओतप्रोत रहा तो वही परिस्थिति रस कहलावेगी।

स्थायी भाव और संचारी भाव को भी समझ लेना चाहिए। वासना-रूप में स्थित जब ऐसे भाव थोड़े समय के लिये सजग हो उठते हैं जिनसे स्थायी भाव के उत्कर्ष में शक्ति मिलती है तो उन्हें संचारी भाव कहते हैं। इन्हें कल्पना के प्रत्यय समझना चाहिए। कल्पना ही पूर्व-अनुभूत सादृश्य भावों को समक्ष रखती है और उनके द्वारा समुत्थित स्थायी भाव को उत्कर्ष दिलाती है। कल्पना का प्रत्यय कहने में लोग कदाचित् इसलिये संकोच करें कि सजग प्रयत्न द्वारा स्मरण की हुई परिस्थिति को ही हम कल्पना कहते हैं परंतु संचारी भाव स्वयं उद्भूत अथवा स्वत: उद्दीप्त वासना है। परंतु यह उक्ति अधिक संगत नहीं। असजग और अर्ध-सजग ज्ञान के भी प्रयत्न होते हैं जिन्हें सजग ज्ञान स्वयं नहीं जान पाते। अतएव सजग ज्ञान को जो भाव स्वयं उद्भूत दिखाई पड़ते हैं वे भी अर्ध-सजग और असजग ज्ञान के ही प्रयत्न हैं।

संचारी भाव क्या है, इसे हम उदाहरण देकर और भी स्पष्ट कर देना चाहते हैं। रीति-ग्रंथकारों ने 'रति' नामक स्थायी भाव के ही उदाहरण सर्वत्र इतने अधिक दिए हैं, और वे इतने आकर्षक हैं, कि अन्य स्थायी भावों के उदाहरण सोचना असंभव सा हो गया है। हम यहाँ क्रोध स्थायी भाव से संबंध रखनेवाले संचारी भाव का उदाहरण देकर अपनी बात समझाने का प्रयत्न करेंगे।

आप साइकिल पर कहीं जा रहे हैं। एक उद्धत नवयुवक अपनी साइकिल लेकर आपके इतना निकट आ निकला है कि आप घबरा जाते हैं और आपमें उसके प्रति रोष उत्पन्न हो जाता है, अथवा वासना-रूप में स्थित रोष की उत्पत्ति हो जाती है। परंतु यह भाव क्षणिक रहकर विलीन हो जाता है। यदि वह

अपनी साइकिल आपसे लड़ा देता है और आप गिर जाते हैं तो आप उठकर गाली-गलौज करने लगते हैं, आपकी आकृति तमतमा उठती है और मारपीट की नौबत आ जाती है। इस समय वह रोष भाव क्रोध के स्थायी भाव में परिवर्तित हो जाता है। वासना-रूप में स्थित रोष अधिक वेग से सजग हो उठता है और उसकी संज्ञा क्रोध हो जाती है। इसी बीच में अगर आपको यह स्मरण हो आया कि इसी उद्धत नवयुवक ने एक बार और आपको साइकिल से गिरा दिया था तो तुरंत ही आप उसे मार बैठेंगे। यह स्मृति 'संचारी भाव' है जिसने क्रोध के स्थायी भाव को अधिक उत्कर्ष प्रदान करने में सहायता दी।

साहित्यकारों ने संचारी भावों की संख्या ३३ रखी है जिनके नाम किसी भी रीति-ग्रंथ में मिल सकते हैं। परंतु इनकी संख्या इतनी ही है, यह प्रमाण अकाट्य नहीं है। एक प्रतिभा-संपन्न कवि न जाने कितनी मानसिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन कराता है और न जाने किस रूप में किस परिस्थिति को रखता है। इसका कोई नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता। देव ने, कहा जाता है कि, एक नए संचारी 'छल' का प्रयोग करके संचारियों की संख्या चौंतीस कर दी है। कविता की दृष्टि से इसमें चाहे जो कुछ नवीनता हो किंतु मनोविज्ञान का साधारण विद्यार्थी भी इसमें कोई मौलिकता स्वीकार नहीं कर सकता। कवि की प्रशंसा, जहाँ तक उसकी सूझ है, की जा सकती है; परंतु वह स्रष्टा का समकक्ष नहीं बनाया जा सकता। संचारी भावों की संख्या निश्चित करना मूर्खता है। हाँ, स्थूल रूप में विशेष विशेष प्रकार के संचारी भावों की कोई भी संख्या निश्चित की जा सकती है। साहित्य में ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जहाँ ग्रंथों में गिनाया हुआ संचारी भाव स्थायी भाव के आसन में आसीन दिखाई पड़ता है। हमारा

अभिप्राय यह है कि जिन भावों को हम ३३ संचारी भावों में विभक्त मानते हैं उनमें से ही कभी एक विभाव-अनुभाव-संयुक्त स्थायी भाव के स्वरूप में दिखाई पड़ता है।

ऐसी अवस्था में स्थायी भावों की संख्या भी निश्चित नहीं की जा सकती। जिस रस की निष्पत्ति में जिन भावों की स्थिति अंत तक अपेक्षित न हो उनमें वे स्थायी भाव भी संचारी भाव हो जाते हैं। अलंकार-रत्नाकर में कहा है—'स्तोकैर्विभावैरुत्पन्नास्त एव व्यभिचारिणः'। अर्थात् थोड़े से भावों से उत्पन्न होनेवाले जो स्थायी भाव हैं वे व्यभिचारी (संचारी) हो जाते हैं। इसका भी उदाहरण हम नीचे देते हैं—

सुनि पदमावति रिस न सँभारी, सखिन साथ आई फुलवारी।

यहाँ 'रिस' अर्थात् क्रोध स्थायी भाव नहीं वरन् संचारी भाव है।

सारांश यह निकला कि वेग विशेष के कारण किसी भाव को संचारी और स्थायी संज्ञा मिलती है। जो जल में बुलबुले की भाँति उत्पन्न और विलीन होकर उद्भूत स्थायी भाव के उत्कर्ष में सहायता देते हैं उन्हें संचारी भाव कहते हैं। संचारी का अर्थ दास अथवा सहायता देनेवाला है; साथ चलनेवाला नहीं। संचारी भाव की भाँति स्थायी भाव विकृत नहीं होते।

स्थायी भावों की चर्चा हम ऊपर कर चुके हैं। यद्यपि रीति-ग्रंथकारों ने उनकी संख्या सीमित करके नव रसों के अनुकूल नव ही स्थायी भाव माने हैं तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि उनकी संख्या इतनी ही है। इस संबंध में कुछ विवेचन ऊपर किया गया है। रीति-ग्रंथकारों ने जिन जिन स्थायी भावों को माना है उनके नाम और उदाहरण किसी भी लक्षण-ग्रंथ में मिल सकते हैं। ऊपर यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि जहाँ कोई भी स्थायी भाव अपने से अन्यत्र किसी दूसरे रस के संबंध में उत्पन्न

और विलीन होता है वहाँ वह केवल संचारी ही रह जाता है। 'हास्य' कभी कभी शृंगार का संचारी होकर आता है। इसी प्रकार शोक स्थायी भाव कभी करुण और कभी विप्रलंभ शृंगार रस के साथ संचारी के स्वरूप में आ सकता है। इसी प्रकार क्रोध, जुगुप्सा और उत्साह आदि क्रमशः रौद्र, वीभत्स और वीर रसों के वैसे स्थायी भाव हैं, परंतु शांत अथवा रौद्र आदि रसों के संचारी के रूप में भी आ सकते हैं।

अब हमें रस-निरूपण के पूर्व कुछ और पारिभाषिक शब्दों को जान लेना है। काव्यप्रकाश में लिखा है कि—

> कारणान्यथ कार्याणि सहकारिणि यानि च।
> रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः॥
> विभावानुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
> व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसस्मृतः॥

इस श्लोक का साधारणतः अर्थ केवल इतना ही है कि काव्य में अथवा नाटक में 'रति' इत्यादि स्थायी भावों के जो कारण हैं उन्हें विभाव, जो कार्य हैं उन्हें अनुभाव और जो सहकारी कारण हैं उन्हें व्यभिचारी भाव या संचारी भाव कहते हैं। विभाव आदि से अभिव्यक्त स्थायी भाव 'रस' कहलाता है।

मानव जीवन में शृंगार रस बहुत व्याप्त है। रति भाव वैसे ही जीवन का स्थायी भाव हो रहा है। इसी लिये रीति-ग्रंथकारों ने और रसों और स्थायी भावों की अपेक्षा शृंगार रस और रति स्थायी भाव का उदाहरण-स्वरूप अधिक आश्रय लिया है*।

---

* राय बहादुर बाबू श्यामसुंदरदास ने इसी संबंध में एक दूसरी बात लिखी है। 'रूपक-रहस्य' पृष्ठ १०८ में वे कहते हैं—

राजशेखर ने नंदिकेश्वर को रस-सिद्धांत का प्रवर्तक माना है, और यह संभवतः इसी लिये कि उन्होंने कामशास्त्र पर ग्रंथ लिखे थे। रति-रहस्य,

और वास्तव में रति स्थायी भाव की बहुत सी मानसिक परिस्थितियों से हम लोग अभिज्ञ हैं। इसी लिये उनका उदाहरण जल्दी सूझता है। काव्य का भी बहुत कुछ क्षेत्र शृंगार रस की ही अभिव्यक्ति में व्यय किया गया है। इसी कारण कुछ लोग रस-सिद्धांत में ही अव्याप्ति दोष देखते हैं। इसमें कवियों की भाव-सीमा की इयत्ता प्रदर्शित होती है सिद्धांत का कोई दोष नहीं। अस्तु, इस स्थान पर हमें मनोविज्ञान नहीं समझना है। हमें तो केवल यह जानना अभीष्ट है कि विभाव आदि क्या हैं।

विभाव को स्थायी भाव का कारण कहा जाता है। जिस परिस्थिति के कारण रसिक जनों में वासना-रूप में स्थित रस (प्रगाढ़ भावना) सजग हो जाय उसे विभाव कहते हैं। अग्नि-पुराण ने विभावों को दो कोटियों में विभाजित किया है। उन्हें 'आलंबन' और 'उद्दीपन' संज्ञा दी गई है—

विभावो नाम सद्वेधाऽऽलंबनोद्दीपनात्मकः।

वास्तव में आलंबन वह बाह्य परिस्थिति है जिस पर रस की निष्पत्ति ठहरती है। उत्तररामचरित नाटक में राम और सीता करुण रस के आलंबन हैं तथा उनके प्रतिरूप अभिनेता अभिन्न समझे जाने के कारण वही राम और सीता का स्थान ग्रहण करके उसी रस के आलंबन बन जाते हैं। अभिप्राय यह है कि जिस

पंचसायक और वात्स्यायन के काम-सूत्रों में क्रमशः नंदिकेश्वर, नंदीश्वर और नंदी नाम से इनके वाक्य उद्धृत किए गए हैं। शृंगार रस सब रसों में प्रधान माना जाता है। उसे रसराज की उपाधि दी गई है और शृंगार तथा काम-शास्त्र का परस्पर संबंध होने के कारण पीछे के आचार्यों ने शृंगार रस की सीमा लाँघकर उसके नाम पर काम-शास्त्र के क्षेत्र में अनधिकार प्रवेश कर लिया। इसी से जान पड़ता है कि काम-शास्त्र के आचार्य रस-सिद्धांत के आचार्य माने जाने लगे। रस पर नंदिकेश्वर के किसी ग्रंथ का उल्लेख नहीं मिलता।

बाह्य परिस्थिति पर रस की निष्पत्ति अवलंबित रहती है वह उस रस का आलंबन कहा जाता है। जलते हुए शवों की भरमार, यकृत् और मासपिंडों का गीधों द्वारा चौबीसों घंटे घसीटा जाना, सड़े-गले शवों की निरंतर दुर्गंधि और अँतड़ियों से उलूक की क्रीड़ा, ये सब श्मशान को वीभत्स रस का आलंबन बनाए रहते हैं।

अब यहाँ पर प्रश्न उठता है कि बाह्य प्रत्यय के अतिरिक्त क्या उस मानसिक परिस्थिति को, जिस पर कोई रस आलंबित रहता है, हम आलंबन कह सकते हैं। क्या आलंबन का स्वरूप नाट्य-जगत् में ही होता है ? क्या नाटकों के अतिरिक्त मनःक्षेत्र में आलंबन की स्थिति नहीं ?

इसका उत्तर हमें दूसरी कठिनता की ओर ले जाता है। स्वयं स्थायी भाव अथवा उसकी परिपक्वावस्था रस भी एक मानसिक परिस्थिति है। इस परिस्थिति और आलंबनों के स्वरूप के पार्थक्य को समझ लेना चाहिए। किसी के न मिलने के कारण चिरंतन हुआ दुःख अथवा स्थायी शोक जो परिस्थितियों के तीव्र हो जाने से विप्रलंभ शृंगार अथवा करुणा में परिवर्तित हो जाता है वह दूसरी बात है और अपने अभीष्ट की मनुहार का सुंदर चित्र जो नेत्रों के निकट लगा लगा घूमता है वह दूसरी बात है। इसी चित्र पर रस का टिकाव है। अतएव प्रथम को हम स्थायी भाव और रस तथा दूसरी मानसिक परिस्थिति को हम आलंबन कह सकते हैं। यहाँ पर आलंबन बाह्य जगत् की वस्तु न होकर अंतर्जगत् की वस्तु कहलाएगी। अतएव नाटक के क्षेत्र से हटकर श्रव्य काव्य के स्वरूप में भी उसकी स्थिति संभव है।

हमने ऊपर जो दृष्टांत दिया है उसके समझने में भ्रम उत्पन्न हो सकता है। पाठकगण संचारी भाव और आलंबन को अभिन्न समझकर भ्रम कर सकते हैं। अतएव यह समझ लेना चाहिए

कि जो भाव हमको प्रियतम का चित्र सामने लाकर उसे बार बार संचरित करता है वह स्मृति संचारी अवश्य है और विप्रलंभ शृंगार अथवा करुणा को उससे सजग रहने में सहायता मिलती है; परंतु नेत्रों के समक्ष अटका हुआ चित्र, जिसमें केवल मूर्तिमान् होने की कमी है, आलंबन ही कहा जायगा।

अग्निपुराण के अनुसार विभाव का जो दूसरा विभाग स्थापित किया गया है उसे उद्दीपन संज्ञा मिली है। जो बाह्य परिस्थिति सहसा उत्पन्न होकर उद्दीप्त स्थायी भाव को और अधिक सजग कर देती है उसे उद्दीपन कहते हैं। उसी को दूसरे प्रकार से यों भी कहा जा सकता है कि जिस बाह्य परिस्थिति में सहसा पड़ जाने से स्थायी भाव का स्वरूप बहुत उग्र होकर रस में परिणत होने लगता है और बहुत तीव्र स्वरूप धारण करता है उसे उद्दीपन कहते हैं। संभोग शृंगार की परितुष्टि के लिये नायक को एकांत में नायिका का मिल जाना, घने कुंज से छन छनकर आती हुई निखरी चाँदनी का दिखाई पड़ना और शीतल मंद सुगंध-युक्त वायु का चलने लगना इत्यादि चार स्थितियाँ पृथक् पृथक् रूप से उद्दीपन का काम कर सकती हैं। अतएव उन्हें उद्दीपन विभाव की संज्ञा दी जायगी। करुणा की परितुष्टि के लिये नायिका की समाधि के सहसा दर्शन और विप्रलंभ शृंगार के लिये प्रासाद में घूमते घूमते नायिका की सेज के दर्शन, रौद्र की परितुष्टि के लिये शत्रु की गालियों के समय किसी घनिष्ठ आत्मीय का आना, वीर की परितुष्टि के लिये पंक्तिबद्ध सेना के समक्ष चारणों की सहसा ललकार, वीभत्स के लिये मांस की चिराइँध में श्मशान पर खड़े हुए व्यक्ति के बहुत निकट रक्त से लथपथ एक मांस का लोथड़ा गिरना इत्यादि सब उद्दीपन ही कहे जायँगे।

इस संबंध में भी यह विचार करना है कि उद्दीपन बाह्य पदार्थ के अतिरिक्त अमूर्त भी हो सकते हैं अथवा नहीं और आलंबन के

सदृश उनका भी मानसिक जगत् में कोई अस्तित्व है या नहीं। इसी प्रकार नाटकों के अतिरिक्त श्रव्य काव्यों में भी उनकी योजना हो सकती है अथवा नहीं। इसका भी वही उत्तर होगा जो आलंबनों के संबंध में दिया गया है। स्मृति संचारी की सहायता से उद्दीपन का स्पष्टीकरण मानसिक जगत् में भी हो सकता है। हमारा किसी शत्रु से घोर युद्ध हुआ है। हम बहुत आहत हुए हैं। शत्रु ने हमारा बहुत अपमान किया है। हम बदला लेने को निरंतर सोचा करते हैं। क्रोध का स्थायी भाव रौद्र रस तक पहुँच गया है। शत्रु की गाली देनेवाली आकृति और रक्त-लोहित नेत्र आँखों के समक्ष लगे लगे घूमते हैं और रौद्र रस का आलंबन हो रहे हैं। युद्ध की परिस्थिति के संबंध की और भी बहुत सी बातें स्मृति संचारी द्वारा रस को उद्दीप्त करती और विलीन हो जाती हैं। इतने में अपने एक आत्मीय और क्षुद्र सेवक का चित्र आ जाता है जिसके समक्ष हमें मारा गया था और हमारा अपमान किया गया था। वह चित्र उद्दीपन का कार्य करता है और रस को अधिक उद्दीप्त कर देता है। अतएव इसे हम उद्दीपन विभाव कह सकते हैं।

विभावों की मीमांसा के पश्चात् हमें यह भी समझना है कि अनुभाव क्या हैं। 'काव्य-प्रकाश' के श्लोक के अनुसार उन्हें रस का अथवा स्थायी भाव का कार्य समझना चाहिए। 'अनुभावयन्ति इति अनुभावाः'—जिनके द्वारा अनुभव किया जाय वे अनुभाव हैं। अर्थात् पश्चात् की उन परिस्थितियों को अनुभाव कहते हैं जिनके द्वारा हम यह जान सकते हैं कि अमुक भाव उद्दीप्त है, स्थायी भाव हो गया है अथवा 'रस' संज्ञा तक पहुँच गया है। पश्चात् की परिस्थिति से हमारा अभिप्राय भाव अथवा स्थायी भाव की उद्दीप्त अवस्था के पश्चात् की क्रियाओं से है। 'अनु' का अर्थ ही 'पीछे' का है। अमरकोष में अनुभाव शब्द का अर्थ लिखते

हुए लेखक ने लिखा है—"अनुभावो भावबोधकः"—इसका भी वही अर्थ है।

अनुभावों की संख्या निश्चित करना मूर्खता है। किसी भी रीति-ग्रंथ में उनकी संख्या सीमित करने का प्रयत्न नहीं किया गया। रति स्थायी भाव के अनुभावों का थोड़ा-बहुत विश्लेषण है। शृंगाररसात्मक बहुत सी मानसिक परिस्थितियों और ऐहिक विकारों का वर्णन इसी के अंतर्गत किया गया है। हम आगे उनका दिग्दर्शन कराएँगे और उस विवेचना से यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि विभावों की भाँति अनुभावों की भी मानसिक परि-स्थिति संभव है और बाह्य जगत् अथवा शरीर में स्पष्ट हुए बाह्य विकार ही केवल अनुभाव नहीं हैं।

शृंगार रस में प्रेमी और प्रियतम का कटाक्ष आदि, परस्पर आलिं-गन करना और बाहुओं को फैलाना; हास्य रस में आँखें मिच जाना और मुँह का फैलना; करुण रस में पृथ्वी पर गिर पड़ना, आर्तनाद से रोना, वेग से साँस लेना, आकृति का रंग उतर जाना, संज्ञा-शून्य हो जाना और पागलों की भाँति प्रलाप करना; रौद्र रस में ओठों को दाँतों में दाबना, भौंहें चढ़ जाना, नेत्रों का लाल हो जाना, आत्म-श्लाघा, कर्कश स्वर और रोमांच होना; वीर रस में कंटकित होना; भयानक रस में मुँह का रंग उतर जाना, काँपने लगना, कंठ अवरुद्ध हो जाना, वीभत्स रस में थूकने लगना, नाक सिकोड़ना, वायु-स्तंभन करना; अद्‌भुत रस में गद्‌गद हो जाना, अपने को भूल जाना तथा शांत रस में विरक्ति प्रकट करना आदि अनुभाव ही कहे जायँगे।

शृंगार रस के अनुभावों को 'काव्यप्रकाश' में तीन श्रेणियों में रखा गया है। अनुभाव मानसिक परिस्थिति से उतरकर ऐहिक विकार के स्वरूप में किस प्रकार आता है, इसका कोई शास्त्रीय

विवेचन नहीं किया गया। कदाचित् इसलिये कि किसी रस, अथवा स्थायी भाव का प्रभाव सबके ऊपर एक सा नहीं पड़ता। कुछ सजग जागरूक नियंत्रणशील व्यक्ति गहरी से गहरी भावना को तिरोहित किए रह सकते हैं और कुछ द्रवणशील भावुक व्यक्ति हलके से हलके भावना के झोंके को सँभाल नहीं सकते। मानसिक भावनाओं का शरीर के विकारों से कहाँ तक कार्य-कारण संबंध है, इस विषय में पाश्चात्य दार्शनिकों ने यथेष्ट विवाद किया है। हमारे यहाँ के दार्शनिक बाबू भगवानदास प्रभृति भी इस संबंध में अपना एक विशेष मत रखते हैं। मानसिक जगत् में विश्लेषण मनोविज्ञान के आविर्भाव के साथ साथ पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी यहाँ के सिद्धांतों से कुछ मिलता-जुलता सिद्धांत स्थिर किया है। लक्षण-ग्रंथों में अनुभावों की संख्या तीन गिनाई गई है। पहले वर्ग में अंगज अलंकार के अंतर्गत तीन अनुभावों का वर्णन है। भाव का अनुभाव में साधारण अर्थ से इतर अर्थ है। उसका प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। रस से ओत-प्रोत चित्त की प्रथम विकारावस्था को भाव कहते हैं। प्रत्येक तीव्र मानसिक अवस्था (रस अथवा स्थायी भाव) की प्रथम क्रियात्मक प्रेरणा को भाव संज्ञा दी गई है। सब रसों में सम भाव से इस अनुभाव को स्वीकार करना चाहिए परंतु और रसों के अनुभावों का उतना विश्लेषण ही नहीं किया गया। अतएव केवल शृंगार के अंतर्गत ही इसकी चर्चा है। दूसरा अनुभाव 'हाव' कहा जाता है। संभोग शृंगार के अंतर्गत यह परिस्थिति मानी जा सकती है। भ्रुकुटी-परिचालन, नेत्र में मादकशीलता को—जिनके द्वारा संभोग-इच्छा की उत्कटता प्रदर्शित हो—'हाव' कहते हैं। तीसरा अनुभाव 'हेला' कहलाता है। यह एक प्रकार से संभोगेच्छा का संपूर्ण संश्लिष्ट ऐहिक प्रदर्शन है। इन तीनों अनुभावों में एक

प्रकार का क्रम है और ये द्रुत, द्रुततर और द्रुततम परिस्थितियों में रस को अभिव्यक्त करते हैं।

अयत्नज अलंकार अनुभावों में भी क्रम दिखाई देता है। इनमें प्रथम चार का नाम है—शोभा, कांति, दीप्ति और माधुर्य। इन चारों में एक क्रम है। चारों युवावस्था से ओत-प्रोत संभोग शृंगार की तीव्रता अभिव्यक्त करनेवाली ऐहिक प्रकाश की विषमता के द्योतक हैं। इनका न्यूनाधिक्य-क्रम वही है जो ऊपर लिखा गया है। कांति में विलास का प्रदर्शन शोभा से अधिक रहता है और दीप्ति में उससे भी अधिक होता है। माधुर्य वह अवस्था है जब रमणीयता का भाव, पात्र से इतर भी, सर्वत्र, जहाँ कहीं भी दृष्टि विक्षेप किया जाय, दिखाइ पड़ता है। यह संभोग शृंगार की वह स्थिति है जब शृंगार-भावना का प्रभाव इतना बढ़ जाता है कि सभी इंद्रिय-गम्य वस्तुओं में अनुकूलता ही अनुकूलता और सुंदरता ही सुंदरता दिखाई पड़ती है और मन सब में ऐक्य का रमण करता है। 'अजातशत्रु' नाटक का एक पद देकर हम इस माधुर्य अनुभाव का उदाहरण देते हैं। प्रसादजी लिखते हैं—

हमारे वक्ष में बनकर हृदय तव छवि समाएगी।
स्वयं निज माधुरी छवि का रसीला राग गाएगी॥
अलग तब चेतना ही चित्त में कुछ रह न जाएगी।
अकेले विश्व-मंदिर में तुम्हीं को देख पाएगी॥

वास्तव में यह वह स्थिति है जब ज्ञाता और ज्ञेय तथा ध्याता और ध्येय में ऐक्य का अनुभव होने लगता है। संभोग शृंगार में ओत-प्रोत स्वयं मन की अनुकूलता की ही यह प्रतिच्छाया है।

इसी प्रकार विप्रलंभ शृंगार में गोपिकाएँ अपने विरहदग्ध हृदय की प्रतिच्छाया मधुवन को जलाकर देखना चाहती हैं। वे अपने विदग्ध हृदय का सौंदर्य (अथवा माधुर्य) सर्वत्र देखना

चाहती हैं। केवल शृंगार के अंतर्गत इस अनुभाव को सीमित कर देने से इसकी बोध-इयत्ता परिमित हो गई है।

पाँचवाँ अनुभाव 'प्रगल्भता' बताया जाता है। भावना की तीव्रता कांति के स्वरूप के साथ अभिव्यक्त होकर जब ऐहिक व्यवहार में अथवा कथोपकथन में दृष्टिगत होती है तब 'प्रगल्भता' अनुभाव समझना चाहिए। छठा अनुभाव 'औदार्य' पूर्व-कथित अनुभाव के परवर्ती स्वरूप का नाम है जिससे व्यवहार-कुशलता की श्रेष्ठता ज्ञात होती है। 'धैर्य' सातवाँ अनुभाव है जिसमें शृंगार रस की इतिश्री समझनी चाहिए। आत्मश्लाघा से विहीन आत्म-विश्वास इसका स्वरूप है। यह भक्त की वह अवस्था है जो आत्म-रमण से मिलती-जुलती है। वह अपने ही में अपने को पहचान गया है। इसमें चंचलता नहीं होती।

तीसरे वर्ग में दिए हुए अनुभावों में कोई दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक क्रम नहीं दिखाई देता। इनका नाम स्वभावज अलंकार है। तद्विषयक मानसिक परिस्थितियों का एक प्रकार का समाहार सा है। 'लीला' वह अनुभाव है जिसे अनुकरण अनुभाव कह सकते हैं। भावातिरेक में आकर प्रियतम के वेष और वाणी का अनुकरण करना 'लीला' कहलाता है। यह अनुकरण प्रवृत्ति सजग और असजग दोनों प्रकार की हो सकती है। 'सुमरत तुमहिं तुमहिं होइ जाई' इसका अंतिम स्वरूप है। इसके भी तीन भेद माने गए हैं। विलास इससे बिलकुल पृथक् है। समक्ष प्रियतम के आ जाने से गति में, मुख में, आकृति में, नेत्रों में किसी प्रकार की विलक्षणता का आ जाना 'विलास' कहलाता है। 'विच्छित्ति' वह योजना है जिसके द्वारा कांति का संवर्धन किया जाता है। 'विव्वोक' एक प्रचलित शृंगारिक अनुभाव है—अति गर्व के कारण प्रिय वस्तुओं को भी ठुकराना जिनके प्रति उत्कट

स्नेह है। 'किलकिंचित्' वह अनुभाव है जिसमें कई अनुभाव मिश्रित रहते हैं; जैसे मुस्कराहट, हँसी, श्रम इत्यादि। अत्यंत सहृदय व्यक्ति के समक्ष उपस्थित होने पर 'हर्ष', 'मंद हास', 'कुछ श्वास', 'कुछ क्रोध', 'कुछ श्रम' का महान् उद्रेक किलकिंचित् का अभिधान है। मोट्टायित भी एक प्रचलित अनुभाव है। प्रिय की कथा सुनकर अत्यंत स्नेह उत्पन्न होना ही मोट्टायित है। 'कुट्टमित' शृंगार का एक बड़ा स्वाभाविक अनुभाव है। अभीष्ट व्यक्ति द्वारा अंगस्पर्श होने पर हृदय में आंतरिक हर्ष को गोपन करके बाहरी घबराहट के साथ सिर और हाथों का परिचालन करना इस अनुभाव की व्याख्या है। इसी प्रकार प्रियतम के आगमन से हर्षातिरेक के द्वारा वेष-भूषा की व्याख्या में व्यतिक्रम को 'विभ्रम' कहते हैं। 'अंगों' को सुकुमारता से रखना 'ललित' है। उनकी सुकुमारता पर गर्व होना 'भेद' है और कहने के समय वाणी का अवोध हो जाना 'विकृत' है। विरह की मूर्तिमती वेदना 'तपन' है और जानी हुई वस्तु को भी प्रिय के सामने पूछना 'मौग्ध्य' है। 'आक्षेप' अनुभाव 'विभ्रम' से मिलता-जुलता है। आभूषणों की अधूरी रचना, बिना कारण इधर उधर भौंचक्के की भाँति देखना, कुछ रहस्यपूर्ण बात धीरे धीरे कह देना 'विक्षेप' है। प्रियतम को देखने के लिये विह्वल हो जाना 'कुतूहल' है। वास्तव में यह अनुभाव अद्भुत रस का ही है। परंतु संभोग शृंगार में भी इसकी योजना की गई है। दोनों में सिद्धांतत: कोई अंतर नहीं है। शृंगार-उन्मत्तता के कारण अकारण हँसी 'हसित' और प्रिय के कारण अकारण डरना और चकित होना 'चकित' है। लौकिक भाषा में हम प्रिय और प्रियतम के विहार को 'ललित' कहेंगे। वास्तव में ध्याता और ध्येय, ज्ञाता और ज्ञेय के, पूर्ण ऐक्य के लिये संभोग शृंगार की यह परिस्थिति ('ललित') पराकाष्ठा है।

आचार्यों ने इन अनुभावों को किसी सिद्धांत के अनुकूल विभाजित अवश्य किया है। तीन वर्गों के नाम स्वतः सुबोध हैं। 'अंगज अलंकार' तथा 'अयत्नज अलंकार' के अंतर्गत आए हुए विभावों का कुछ स्वरूप वर्ग नाम से स्पष्ट हो जाता है परंतु स्वभाव-सिद्ध अलंकार के 'कृतिसाध्य' अनुभावों में कोई विशेष क्रम नहीं दिखाई देता। उसके अंतर्गत मानसिक और ऐहिक दोनों विकारों का संमिश्रण है और यह अवश्य समझ में नहीं आता कि अलंकार नाम क्यों रखा गया है। कदाचित् इसी लिये कि ये शृंगार के अलंकार-स्वरूप हैं।

वैसे तो 'सात्त्विक' भावों को इन्हीं तीन वर्गों के अंतरर्गत रखा जा सकता है परंतु रीति-ग्रंथकारों ने उन्हें अलग ही लिखा है, कदाचित् इसलिये कि उनका स्वरूप निजी केवलता रखता है। वास्तव में ये भाव न होकर भाव के बाह्य स्वरूप हैं। तीव्र मनोवेग का ऐहिक प्रदर्शन ही 'सात्त्विक भाव' कहलाता है। दूसरे शब्दों में सात्त्विक भाव रसोद्दीप्ति की बाहरी झलक हैं। सात्त्विक शब्द सत्त्व की भाववाचक संज्ञा है। सत्त्व अंतःकरण का वह प्रत्यय है जिसका धर्म रस का प्रकाश करना है। 'सत्त्व' द्वारा संघटित विपर्यय शरीर की झिलमिली से अभिव्यक्त सात्त्विक भाव कहलाते हैं। वास्तव में तार्किक दृष्टि से इनकी गणना अनुभावों के अंतर्गत होनी चाहिए। केवल एक विशेष परिपाटी के कारण इनका नामकरण पृथक् किया गया है।

सात्त्विक भावों की संख्या आचार्यों ने आठ गिनाई है। किसी भी रीति-ग्रंथ में उनके नाम और उनकी व्याख्या मिल सकती है। यह नहीं कहा जा सकता कि इनकी संख्या आठ ही है, अधिक नहीं है। परंतु ऐसे सात्त्विक भाव, जो सब रसों में दिखाई पड़ते हैं, कदाचित् उपरिनिर्दिष्ट आठ ही होंगे, यद्यपि इनके अतिरिक्त पृथक्

पृथक् रस के पृथक् पृथक् सात्त्विक और भी हैं। उनका प्रदर्शन हम लोग प्रतिदिन अपने शरीर पर देखते हैं।

इस प्रसंग के समाप्त होने के पूर्व रस के संबंध की भी कुछ बातें जान लेनी हैं। रसास्वादन अथवा रसानुभव किस विधान से होता है, इस संबंध में प्राचीन आचार्यों के कुछ मतभेद हैं। उनके मत संक्षेप में हम नीचे देते हैं।

आचार्यप्रवर भट्ट लोल्लट का कथन है कि प्रारंभिक अर्थ में रस का संबंध नायक से है। नायक की मानसिक परिस्थिति के कुशल अभिनय के कारण दर्शक लोग रस की उपस्थिति का आरोप अभिनेता में करने लगते हैं। यह भ्रम है परंतु अनुभूत भ्रम है। दर्शकों का यही अभिनेता में आंतरिक रीति का अनुभव उन्हें आनंद प्रदान करता है। लोल्लट महोदय का उपरिनिर्दिष्ट विचार 'रस' की निष्पत्ति को नायक अथवा अभिनेता तक ही सीमित रखता है; दर्शकों की भावनाओं और मनोवेगों से उसका कोई संबंध नहीं।

दूसरे आचार्य शंकुक इससे आगे बढ़े हैं। उन्होंने रस की निष्पत्ति का अर्थ अनुभूति माना है। उनका कहना है कि पूरी शिक्षा पाए हुए अभिनेता अपनी कुशलता के कारण नायक के कार्य का जीवित दृश्य स्वयं दर्शकों के समक्ष उपस्थित कर देते हैं। दर्शक कुछ क्षणों के लिये नायक और नट में कोई भेद नहीं कर पाता और उसी में 'रस' की उपस्थिति मानता है। दर्शक अपने मानसिक जगत् में इस प्रेम पर विचार करता है और आनंद अनुभव करता है। शंकुक महोदय के सिद्धांत में एक नवीनता अवश्य है। उन्होंने उसकी चर्चा दर्शक के संबंध में भी की है, परंतु 'रस' की स्थिति नायक ही में मानी है।

आचार्य भट्टनायक इसको कार्य न मानकर भोग्य मानते हैं और दर्शक के हृदय में भी उन्होंने 'रस' की उपस्थिति मानी है।

'रसास्वाद' को भट्टनायक परब्रह्म साक्षात्कार के समकक्ष समझते हैं। जिस प्रकार परब्रह्मानुभूति आनंदमय है उसी प्रकार 'रसानुभूति' भी। अज्ञान के आवरण में यह छिपा रहता है। ज्योंही घूँघट उठा 'रस' प्रकट हो जाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि 'रस' वास्तव में अभिव्यक्ति है। उनका कहना है 'रति' इत्यादि मानसिक परिस्थितियाँ दर्शकों के मन में तिरोहित रूप से विद्यमान हैं; 'विभाव' आदि के उत्तेजन से वे जागरित हो जाती हैं और रस की परिस्थिति तक पहुँच जाती हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से 'रस' को हृदय की ही परिस्थिति माननी पड़ेगी। साक्षात् अथवा परोक्ष पूर्वानुभव हृदय के मनोवेगमय स्वरूप प्रतिबिंबित होते जाते हैं। सादृश्य की उपस्थिति से उन प्रतिबिंबों में प्रकंपन होता है। 'विभाव', 'अनुभाव' और 'संचारी भावों' के समाहार को ही ऊपर 'सादृश्य' नाम दिया गया है। प्रकंपन में वर्गीकरण होता जाता है और तत्संबंधी प्राचीन 'सादृश्य' ही समक्ष आते हैं तथा प्रकंपन को अधिक वेगवान् बनाते हैं। प्रकंपन की चरम परिस्थिति ही 'रस' का परिपाक है। पूर्ण प्रकंपन के गत्यात्मक स्वरूप के सौंदर्य में स्थायित्व है। इसी कारण रस की परमावस्था में गति भी है और स्थायित्व भी। इसी प्रकंपन के द्रुत, द्रुततर, द्रुततम स्वरूप को ही 'भाव', 'स्थायी भाव' और 'रस' समझना चाहिए। यह प्रकंपन नायक की भाँति दर्शक में भी उत्पन्न होता है। दर्शक जब शकुंतला को दुष्यंत के अंक में देखता है तब शकुंतला के लिये उसकी 'रति' नहीं उत्पन्न होती वरन् अपनी नायिका के लिये होती है। वह उसकी दबी हुई असजग भावना है। यद्यपि उसको अंकित हुए बहुत काल हो गए और वह नष्ट प्रत्यय के रूप में केवल आकार मात्र रह गई है और अपनी नायिका

उसे स्मरण भी नहीं आती तो भी शकुंतला की बाहरी सुंदरता को देखकर उसकी ओर ले जानेवाली वृत्ति पुरानी ही है। वह वेग पुराने संस्कार का ही है। केंद्र में परिवर्तन हो सकता है। सजग ज्ञान भूल कर सकता है। वह समक्ष की शकुंतला में ही अपनी प्रेयसी का आरोप कर सकता है; परंतु मनोवेग की प्रेरणा अर्द्ध-सजग और असजग ज्ञान की संकुलित की हुई बात है जिसके मूल में उसकी निजी प्रेयसी अथवा परोक्ष के अनुभव की प्रेयसी ही हो सकती है, शकुंतला नहीं। अतएव दर्शक की शकुंतला-विषयक रति अवास्तविक और व्यभिचारपूर्ण है। उक्त परिस्थिति में जब दर्शक शकुंतला में रति अनुभव करता है तब अपने निजी तद्विषयक हृदय के प्रत्यय में स्पंदनशीलता अनुभव करता है। यदि दर्शक में तद्विषयक साक्षात् अथवा परोक्ष अनुभव नहीं है तो सहानुभूति नहीं आ सकती और न प्रकंपन ही हो सकेगा। फिर 'रस' की निष्पत्ति कैसे हो सकती है? दस वर्ष के किसी बालक में उर्वशी के हाव-भाव, भ्रू-भंग, कटाक्ष-विक्षेप आदि 'रति' जागरित नहीं कर सकते और न सच्चे कायर के हृदय में राणा प्रताप के जोशीले से जोशीले वीर-गीतों से वीरता का संचार हो सकता है। रस की निष्पत्ति के लिये पहले हृदय का परिष्कार करना होगा। सब रस भी सबमें पूर्ण नहीं होते अतएव उनका प्रकंपन अथवा उनकी निष्पत्ति भी उसी अनुपात से होती है। जिधर जिस प्राणी की परिस्थिति जीवन में ले गई उधर उसकी सहानुभूति अधिक हो जाती है और तद्विषयक वासना भी अधिक सजग हो जाती है। मरणांतर दूसरे जीवन में आत्मा कुछ संस्कारों को अपने साथ लाती है। माता-पिता के रज-वीर्य में उनकी प्रवृत्ति के उद्दीप्त मनोवेगमय संस्कार भी कुछ हममें मिले रहते हैं। इसी से परिस्थितियों के सम होने पर भी व्यक्तियों के मनोवेगों में अंतर होता है।

रसों के संबंध में एक बात और शेष रह गई है। इनकी संख्या के संबंध में मतभेद है। कुछ लोग वात्सल्य और प्रेम दो और नए रसों को बढ़ाकर इनकी संख्या-वृद्धि करने का समर्थन करते हैं। हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं और न किसी को इसमें कोई मतभेद होना चाहिए। कवि-सम्राट् सूरदास की अनुकंपा से हमें वात्सल्य 'रस' मिला। संभव है, किसी और बड़े कवि का आविर्भाव हो और वह किसी अन्य मानसिक परिस्थिति को ढूँढ़ निकाले और उसमें प्रविष्ट होकर उसकी आश्रित अनेक परिस्थितियों की झाँकी अपने काव्य में दिखा दे। 'दैन्य' और 'विनय' को ही लीजिए। गोस्वामी तुलसीदास, कवि-सम्राट् सूरदास, भक्त-प्रवर मीरा तथा अनेक संत कवि इन परिस्थितियों के संबंध में इतनी मार्मिक और व्यापक उक्तियाँ कह गए हैं कि बहुत संभव है कि आगामी कोई आलोचक इनके स्वतंत्र विभाव, अनुभाव और संचारी भाव ढूँढ़कर प्राचीन रसों के कठघरे से इन्हें निकालकर स्वतंत्र स्थिति प्रदान करें। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी भी भाव को स्थायी भाव और रस की परिस्थिति तक पहुँचाना एक प्रतिभा-संपन्न कवि का ही काम है। आचार्य लोग चाहे प्राचीनवाद की झोंक में वर्तमान रसों के अंतर्गत उसे समझाने का प्रयास करें अथवा नवीनवाद का आश्रय लेकर उसका नया नाम-संस्करण करें; किंतु रसों की संख्या-वृद्धि के विषय में व्यर्थ की दलबंदी खड़ी करना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है।

कुछ लोग 'शांत' रस को रस नहीं मानते। वह नाटक के गत्यात्मक वातावरण के है भी प्रतिकूल। परंतु शांतरस रस नहीं है यह कहना भ्रमपूर्ण है। शांतरस का स्थायी भाव निर्वेद गिनाया गया है। हृदय की वह परिस्थिति जो संसार के प्रतिघात से सभी क्रिया-संकुलता से संकुचित होकर नकारात्मक स्वरूप स्वीकार करती

है, शांतरस की जननी है। उसके सात्त्विक भाव अन्य सारे सात्त्विक भावों के निषेधात्मक हैं। सब रसों की इतिश्री में शांत-रस की अथश्री है। इससे यह न समझना चाहिए कि क्रिया-विधान में समूचे नवों रसों से इसका विरोध है। अन्य रसों की भाँति इसके भी कुछ पोषक रस हैं और यह भी कुछ रसों का पोषक है; परंतु इसकी पूर्ण उपस्थिति में दूसरे रसों की पूर्ण अनु-परिस्थिति वांछनीय है।

एक सज्जन ने आचार्यों के गिनाए हुए नवों रसों को काम, क्रोध, मद, लोभ और मोह इन पाँच परिस्थितियों के अंतर्गत रखने का उपहासास्पद प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि इन्हीं पाँचों के अंतर्गत सभी रस आ जाते हैं। वास्तव में ये पाँच परि-स्थितियाँ मनुष्य की निम्न भावनाएँ कही जाती हैं। रसों के अंत-र्गत उदात्त मनोभावनाएँ भी हैं। कवित्व के लिये सांसारिकों की दृष्टि से आँकी हुई बुराई मान्य नहीं। कलाकार संपूर्ण को, अभेद्य को, अभिन्न को देखता और अभिव्यक्त करता है। इस संपूर्ण में बुराई और भलाई सभी हैं। दोनों की अभिव्यक्ति एक दूसरे की पूरक है। एक को लेकर वह दूसरे को किसी मूल्य पर छोड़ नहीं सकता; अन्यथा वह सच्चे पारदर्शी कलाकार के स्थान से गिर जायगा।

इस समीक्षा के समाप्त करने के बाद यह भी आवश्यक है कि गोस्वामीजी की काव्य-विषयक विशिष्टता समझ ली जाय।

गोस्वामी तुलसीदासजी ने जहाँ संसार के और विषयों पर अपना मत प्रकट किया है वहाँ कविता क्या है, इस संबंध में भी अपने विचार व्यक्त किए हैं। रामचरितमानस के आरंभ में बालकांड के अंतर्गत गोस्वामीजी ने कविता की परिभाषा में एक रूपक खड़ा किया है। हम उसे आगे उद्धृत करते हैं—

हृदय सिंधु मति सीप-समाना। स्वाती सारद कहहिं सुजाना॥
जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥
जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥

विश्लेषण में यह रूपक निम्नलिखित प्रकार से पृथक् किया जा सकता है—

हृदय—सिंधु	कबित—मुकुतामनि
मति—सीप	जुगुति—बेधि (वेधना और पोहना)
सारद—स्वाति	रामचरित—बर ताग
बिचारू—बर बारि	अनुराग—सोभा

स्वाती नक्षत्र आने पर सिंधु-स्थित सीप में सुंदर वर्षा होती है और इस कारण उसमें मोती उत्पन्न होते हैं जिन्हें वेधकर और माला में पोहकर सज्जन लोग अपने हृदय में धारण करते हैं। इसी प्रकार हृदयस्थित मति में शारदा की प्रेरणा से जब सुंदर विचारों की वर्षा होती है तब उसमें कविता उत्पन्न होती है, जिसे सज्जन लोग रामचंद्रजी की गाथा में संग्रथित करके अनुराग से हृदय में धारण करते हैं।

इस प्रकार रूपक का आवरण हट जाने पर अर्थ स्पष्ट हो जाता है। परंतु पारिभाषिक शब्दों को और अधिक समझ लेने की आवश्यकता है। हम एक एक करके रूपक में प्रयुक्त प्रत्येक आवश्यक शब्द की व्याख्या करेंगे।

मानव शरीर-संगठन में एक ऐसा पदार्थ निहित है जिसमें संसार की बाह्य वस्तुएँ और क्रियाएँ प्रतिकृत हो सकती हैं। इसको हम हृदय कहते हैं। इस समूचे हृदय की परिमित परिधि में एक स्वीकारात्मक परिस्थिति है। इसमें ग्राहिका शक्ति है। यह बाह्य स्वरूपों और क्रियाओं को तथा तद्विषयक अनुभवों और विचारों

को अंकित करके संरक्षित रखती है। इसी को मति कहते हैं; परंतु स्वरूपों और क्रियाओं की तथा अनुभवों और विचारों की सृष्टि करना अथवा उन्हें ऐसी परिस्थिति प्रदान करना कि मति की स्वीकारात्मक और ग्राहिका वृत्ति उन्हें स्वस्थ कर ले, मति की शक्ति के परे है। यह परिस्थिति श्री शारदा उत्पन्न कर सकती है। वाक् की अधिष्ठात्री देवी को शारदा कहते हैं। शारदा के सन्निवेश से गोस्वामीजी ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य केवल अपनी निजी शक्ति से कविता नहीं कर सकता। उसमें ग्राहिका शक्ति होने पर भी बाह्य क्रिया-विधानों का वह स्वरूप दृष्टिगत न होगा जिसे मति स्वीकार करे।

स्वाती के साथ शारदा का रूपक बाँधकर गोस्वामीजी ने अपनी परिभाषा को और भी वैज्ञानिक और समीचीन बना दिया है। स्वाती वह नक्षत्र अथवा काल-विशेष है जिस समय वर्षा होने से सीप में पहुँचा हुआ जल मोती उत्पन्न करता है। अतएव शारदा को भी वह विशेष दैवी परिस्थिति कह सकते हैं जिसकी उपस्थिति सर्वकालीन नहीं है वरन् यदा-कदा ही होती है। वह एकांत की आनंदपूर्ण अवस्था है जिसमें सारी प्राचीन भावनाएँ आंतरिक दृष्टि पर (गोस्वामीजी के अनुसार मति पर) सहसा आलोकित हो जाती हैं। वास्तव में आनंद के उद्रेकवाली यह एकांतजन्य परिस्थिति और श्री शारदा द्वारा संगठित परिस्थिति एक ही बात है। एक अँगरेज कवि ने एक स्थान पर उक्त परिस्थिति का आलोक वर्णन करते हुए अपनी स्थिति को ऐसी बतलाया है जिसमें वह वस्तुओं के आंतरिक जीवन तक को देखने लगता था* ।

---

*" In which we see unto the life of things. "

गोस्वामीजी का कहना है कि इस वातावरण को संघटित करने के लिये दैवी सहायता की आवश्यकता है। मनुष्य अपनी निजी शक्ति से कुछ नहीं कर सकता। यहाँ पर एक प्रकार से घोर जड़-वाद का विरोध किया गया है।

'वर वारि' की उपमा 'विचार' से दी है। बाह्य स्वरूपों और घटनाओं के संपर्क से जो विकार उत्पन्न होते हैं उसे 'विचार' कहते हैं। इसे 'अनुभव', 'भाव' अथवा 'राग' भी कह सकते हैं। इसी बात को और भी अधिक स्पष्ट किया जा सकता है।

मनुष्य मात्र के रूप-विधान में एक विकार उपस्थित है जो उसका संबंध बाह्य स्वरूपों और क्रिया-विधानों से स्थापित करता है। यही विकार इंद्रियों का बाह्य जगत् से संपर्क कराता है। गीता में कहा है—

"मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय ! शीतोष्णसुखदुःखदाः।"

'बाह्य पदार्थों का इंद्रिय-स्पर्श सुख-दुःख और शीतोष्ण उत्पन्न करनेवाला है; हे कुंती (मर्त्य महिला) के पुत्र ! प्रत्येक प्राणी के लिये यह ध्रुव सत्य है।'

इन्हीं अनुकूलात्मक और प्रतिकूलात्मक, अनुरागात्मक और विरागात्मक तथा प्रवृत्यात्मक और निवृत्यात्मक-संबंधजन्य अनुभवों को गोस्वामीजी ने 'विचार' संज्ञा दी है। अँगरेजी का 'आइडिया' शब्द इसका पर्याय है।

बाह्य पदार्थों से संपर्क का ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक स्थूल ज्ञान और दूसरा सूक्ष्म ज्ञान। जहाँ पर इंद्रियों का ज्ञान इंद्रियों तक ही परिमित होकर रह जाता है उसे स्थूल ज्ञान कहते हैं; परंतु जहाँ इंद्रियों के सन्निकर्ष से वह मन तक पहुँचता है उसे सूक्ष्म ज्ञान कहते हैं। रूपक के स्वरूप में यह कहा जायगा कि सूक्ष्म ज्ञान के ही सन्निकर्ष से 'विचार' 'मति' तक पहुँचते हैं।

काव्यक्षेत्र में सूक्ष्म ज्ञान विवक्षित रहता है, स्थूल ज्ञान नहीं। जिसकी बुद्धि जितनी ही अधिक विकसित होगी उसका सूक्ष्म ज्ञान उतना ही तीव्र होगा। एक मोटा काम करनेवाले निर्बुद्धि का सूक्ष्म ज्ञान लगभग नहीं के बराबर होता है। अपने निकट से निकट संबंधी के मृत्यु-शोक को भी वह शीघ्र से शीघ्र भूल जाता है और स्वयं अपने वैवाहिक आनंद का भी आनंद उसे क्षणिक होता है। जो स्थूल ज्ञान सूक्ष्म ज्ञान की सीमा आक्रांत करते भी हैं वे अत्यंत अस्पष्ट और कुंठित होते हैं; इसी से वे चिपक नहीं पाते। 'विचार', 'मति' की उस अंतरतम स्थिति तक पहुँच नहीं पाते जहाँ वे गड़कर कविता की सृष्टि कर सकें। स्वाती का जलबिंदु सीप के कक्ष तक नहीं पहुँचता जिससे मोती उत्पन्न हो सके। वर्षा निरंतर हो रही है परंतु स्वाती नक्षत्र के आने पर ही जल सीप तक पहुँचकर प्रभाव उत्पन्न कर सकेगा। विश्व-संपर्क-जन्य विचारों का निरंतर आविर्भाव हो रहा है। परंतु शारदा की अनुकंपा से ही उनकी पहुँच 'मति' तक हो सकती है जिससे कविता का जन्म हो। बुद्धि और निर्बुद्धि की विषमता, जिसके कारण विचार मति तक नहीं पहुँच सकते अथवा कुंठित रूप में पहुँचते हैं, ईश्वर-प्रदत्त है और शारदा की ही अनुकंपा से वह परिस्थिति निर्बुद्धि में भी उत्पन्न हो सकती है जिसमें वह सूक्ष्म ज्ञान-प्राप्ति का अधिकारी हो सके—'मूक होइ बाचाल, पंगु चढ़इ गिरिबर गहन'।

चौपाई के अंतिम पद में आया हुआ 'कवित' शब्द 'कविता' के लिये है। कविता से अभिप्राय छपी हुई, लिखी हुई अथवा व्यक्त नाद में अभिव्यक्त की हुई पिंगल-शास्त्र के अनुकूल छंदबद्ध कविता से नहीं है वरन् हृदयकक्ष के मति-संपुट में कसमसाते हुए उन उत्तप्त सजग और सजीव भावों से है जिनका प्रसव, महर्षि

वाल्मीकि की वाणी की भाँति, किसी भी अनुकूल परिस्थिति के सहसा उत्पन्न हो जाने से व्यक्त नाद में हो सकता है।

गोस्वामीजी की परिभाषा में आए हुए दोहे से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने काव्य में कलापक्ष की उपेक्षा नहीं की, वरन् उसे काव्य के पूर्ण होने में एक आवश्यक अंग माना है। कला से यहाँ हमारा अभिप्राय कविता के रूप-सौष्ठव से है। जिस विधान से कविता का रूप सँवारा जाता है उसे गोस्वामीजी ने 'युक्ति' संज्ञा दी है। मोतियों को यत्न के साथ तागे में पिरोकर माला बनाई जाती है जिसे सज्जन व्यक्ति अपने स्वच्छ वक्षःस्थल पर धारण करते हैं। उस माला की शोभा अत्यंत सुहावनी होती है। उसी प्रकार मतिस्थ विचारों को युक्ति अथवा काव्य-कला-कुशलता के सहारे रामचंद्रजी की गाथा में नियोजित कर जो रामचरित काव्य प्रस्तुत हो उसे सज्जन लोग, अर्थात् काव्य-मर्मज्ञ, हृदयस्थ करें और उससे सबका अनुराग अथवा प्रेम हो। 'मति' में कसमसाते विचार उपस्थित हैं। उन्हें व्यक्त नाद में अभिव्यक्त करने के पूर्व कोई स्वरूप देना आवश्यक है। गोस्वामीजी की दृष्टि में रामचंद्रजी की जीवन-गाथा यह सर्वश्रेष्ठ स्वरूप है। उनकी धारणा है कि काव्यशक्ति का उपयोग केवल अपने उपास्य देव के गुणानुवाद के गान में ही करना चाहिए। रामचरित को ही वे उपयुक्त विषय समझते हैं जिसके आधार पर काव्य का स्वरूप खड़ा किया जा सकता है। गोस्वामीजी मनुष्यों पर काव्य-रचना के बिल्कुल प्रतिकूल हैं—

"कीन्हें प्राकृत नर गुन-गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥"

इस अर्द्धाली में उन राज्याश्रित कवियों को फटकारा गया है जो पैसे के लिये अपने आश्रयदाताओं के चरित्र काव्य-बद्ध करते हैं।

गोस्वामीजी का परम विश्वास है कि इस प्रकार से प्रस्तुत किया हुआ श्रीरामचंद्र का जीवन-वृत्त काव्य-मर्मज्ञों को अत्यंत आकर्षक होगा। वे लोग परिष्कृत मन से इस चरित्र को हृदयंगम करेंगे।

यहाँ तक तो गोस्वामीजी की काव्य-परिभाषा को समझने का प्रयत्न किया गया है। अब हमें ऐसे सिद्धांतों की मीमांसा करनी है जो इस परिभाषा से निर्धारित होते हैं।

गोस्वामीजी ने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि दो शक्तियों के परस्पर सहयोग से ही कविता का प्रादुर्भाव होता है। चाहे उन्हें दैवी और मानवी कहें, चाहे उच्च और निम्न। मनुष्य की सतत जागरूक उत्कट अभिलाषा जब नीचे से दैवी शक्ति का आह्वान करेगी तब ऊपर की दैवी शक्ति प्रत्युत्तर अवश्य देगी। गोस्वामीजी स्फुरणवाद के भ्रमात्मक सिद्धांत को नहीं मानते। वे इस धारणा को अस्वीकार करते हैं कि दैवी विधान के परिष्कारों की उपेक्षा करके कोई व्यक्ति कवि हो सकता है। उसी प्रकार उनका यह भी मत है कि मनुष्य केवल अपनी शक्ति से, स्वरूप की अभिव्यक्ति के लिये, आवरण विदीर्ण नहीं कर सकता और न दैवी प्रकाश से इस अंधकारमय संसार को केवल अपने ही बल पर आलोकित कर सकता है। यह श्री शारदा का कार्य है। मस्त कर देनेवाली दैवी मधुरिमा की वर्षा वही करती है। उसका संपर्क परम आनंद की सृष्टि करता है। अपने अभ्यंतर में श्री शारदा की उपस्थिति का मनुष्य ने अनुभव किया नहीं कि वह भावातिरेक और भाव-वैचित्र्य से आंदोलित हो उठता है। स्वरूप-सौंदर्य और क्रिया-सौंदर्य सुकुमार वृत्तियों के साथ उसी प्रकार श्री शारदा से निकलते हैं जिस प्रकार सूर्य से प्रकाश निकलता है। जहाँ कहीं उसका अलौकिक दृष्टि-विक्षेप हुआ, जहाँ कहीं उसकी सुंदर मुस-

कान पड़ी, मन आकृष्ट होकर बंदी हो गया और आत्मा एक अपूर्व आनंद में निमग्न हो गई। उसके स्पर्श में चुंबक का प्रभाव है। उसका अलौकिक और सुकुमार प्रभाव मन, जीवन और शरीर तीनों को परिष्कृत कर देता है। जहाँ कहीं वह चरण-विन्यास करती है वहाँ सर्वतोन्मुख आनंद के विचित्र स्रोत बहने लगते हैं। परंतु जब तक मनुष्य की निम्न प्रकृति क्रियाशील है, उसे वैयक्तिक प्रयत्न करना आवश्यक है। यह प्रयत्न तीन प्रकार का है—(१) आकांक्षा, (२) अस्वीकार और (३) समर्पण। इन तीनों में परस्पर बड़ा संबंध होता है और ये अन्योन्याश्रय भाव से एक दूसरे से मिले रहते हैं।

'आकांक्षा' बड़ी बलवती होनी चाहिए। तीव्रता के साथ साथ उसमें स्थायित्व अपेक्षित है। मन का उत्कट संकल्प, हृदय का तीव्र अन्वेषण, आत्मा का निस्संदेह स्वीकार, ऐहिक चेतना के खोलने और द्रवित करने की गहरी अभिलाषा, अवतीर्ण हुए अलौकिक सौंदर्य के लिये निरंतर और सजग अध्यवसाय द्वारा आधार का परिष्कार इत्यादि कुछ आवश्यक विधान हैं। इन्हीं को हम सीप अथवा मति की 'आकांक्षा' कह सकते हैं। प्रयत्नत्रयी का यह पहला सोपान है।

'सीप' वर्षाकाल के संपूर्ण जल को अस्वीकार करती चली जाती है और शांतिपूर्वक स्वाती के जल की प्रतीक्षा करती है। 'मति' के अर्थ में यह अस्वीकृति निम्न पाशविक प्रवृत्ति की है। मन से पक्षपात को और प्रलोभन-संलग्न स्वभाव को बहिष्कृत करना पड़ता है जिससे सत्य ज्ञान का प्रवेश अनवरुद्ध रूप से हो सके। 'मति' को शांत, ज्ञान-संपन्न, स्वीकारशील तथा प्रत्युत्तरशील बनाकर कुत्सित भावनाओं (इच्छा, भोग, उद्विग्नता, विकार, वासना, स्वार्थ, मद, अहंकार, काम, क्रोध, मोह, लोभ, मत्सर, ईर्ष्या, सत्यविरोध आदि कुवृत्तियों) को त्या-

गना पड़ता है। ऐसे ही प्रयत्न द्वारा वह मानसिक अवस्था उत्पन्न हो सकती है जब सच्ची शक्ति और सच्चे आनंद की वर्षा ऊपर से होती है। इस सहयोग से 'मति' में बृहत् शक्ति-संपन्न विभूति का आविर्भाव होता है जिसके स्थायित्व के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि शरीर विकार-शून्य, संदेह-शून्य, आडंबर-शून्य, भेद-शून्य, हठ-शून्य, प्रमाद-शून्य, आलस्य-शून्य, अपरिवर्तनशीलता-शून्य हो और कोई भी मानसिक आवेग उस पर प्रभाव न डाल सके। प्रयत्नत्रयी का यह दूसरा सोपान है।

अपने समूचे व्यक्तित्व को, अपने सारे संबंध को, अपनी सारी चेतना को उस असीम तीव्रता, उस असीम शांति, उस असीम अनुभव, दैवी शक्ति श्री शारदा के चरणों में समर्पित करना प्रयत्नत्रयी का अंतिम सोपान है। इस प्रकार उसका व्यक्तित्व अवैयक्तिक और असीम व्यवस्था की अभिव्यक्ति का साधन हो जाता है। यही 'सीप' का स्वीकार अथवा मति की ग्राहिका शक्ति है।

ज्योंही प्रयत्नत्रयी की समाप्ति हुई, दैवी सौंदर्य की वर्षा आरंभ हो जाती है। ऐसे व्यक्ति को दैवी प्रकृति का पूर्ण स्वरूप जानकर श्री शारदा स्वयं अधिक से अधिक विभूति प्रदान करती है। हृदय समूचे जीवन के भावुक स्वरूप से द्रवित हो उठता है और महान् सौंदर्य से लिपट जाता है। निरंतर चेतना में वह एक सजीव स्फुलिंग हो जाता है। यह सजीव दैवी स्फुरण विभिन्न भावों से टकराता है—जीवन को स्पर्श कर बहनेवाले विचारों से उलझ जाता है। वह अतीत की प्रतिध्वनि सुनता है और अदृश्य के स्वर्ग-संगीत की नीची और ऊँची स्वर-लहरी को ग्रहण करता है। जीवन-व्यापी असीम के राग से उसका राग मिल जाता है—उसे अलौकिक आलोक दीखने लगता है। वह तथ्य को मूर्तिमान् देकर काव्यबद्ध कर देता है। ऐसा ही काव्य समय के वातायन से

झाँकते हुए चिरंतन ज्ञान के सूक्ष्म अध्यात्म का प्राण कहा जाता है। 'युक्ति' के सहारे अर्थात् कलापक्ष का आश्रय लेकर, इस हृदयस्थ काव्य को अपनी गाथा में बद्ध कर कवि कविता के रूप में इसे सूर्य का प्रकाश दिखाता है।

यथार्थ सौंदर्य के भावज्ञान को ऐसे सौंदर्य-स्वरूप से गोस्वामीजी पृथक् नहीं समझते जो समूचा और पूर्ण है। कला की सच्ची चेतना हमें तभी आती है जब हम अपने इंद्रिय-अनुभव और इंद्रिय-सुख को पार्थिव क्षेत्र से ऊपर उठाकर प्राणेंद्रिय और आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान कर सकें। ऐसी कविता में स्वर्ग और मर्त्य के पूर्ण सौभाग्य की अभिव्यक्ति होती है। इस आदियज्ञ अथवा रसयज्ञ में अपरा और परा प्रकृति का सामंजस्य होता है। पूर्ण सौंदर्य की पुकार से अपने तत्पर और प्रत्युत्तरशील व्यक्तित्व को मिलाकर कवि विश्व की विधेयात्मक प्रेरणा का उपकरण बन जाता है। जीवन की चित्रशाला में उसके नेत्र ऐसे रंग-बिरंगे चित्रों की समीक्षा के लिये अभ्यस्त हो जाते हैं, जिनका प्रणयन विश्व के अलौकिक चितेरे के मन में, हाथ में और हृदय में है।

जानाते यन्न चन्द्रार्कौ, जानन्ते यन्न योगिनः।
जानीते यन्न भर्गोऽपि तज्जानाति कविः स्वयम्॥

"जिस रहस्य को चंद्र और सूर्य नहीं समझ सकते, जिस तथ्य तक योगियों की भी पहुँच नहीं है, जिसे स्वयं भर्ग भी नहीं समझ सकते उस सत्ता का ज्ञान कवि को स्वतः हो जाता है।" सांसारिक जीवन की घटनाओं की व्याख्या द्वारा कविता उस अलौकिक जीवन के रहस्योद्घाटन का प्रयत्न करती है जो अस्तित्व के प्रकाश में आने-वाला है। मानवी, प्राकृतिक और दैवी इन तीनों परिस्थितियों के अनूठे सामंजस्य के निकट बैठी हुई अपनी आत्मा किस प्रकार

अभिव्यक्त हो और कवि अपने आप को किस प्रकार खोले, इसी प्रयास में कविता की सृष्टि का मूल रहस्य है।

कवि का हृदय भगवान् का शासन-पीठ है। कवि कोषाध्यक्ष है। उसके पास वे कुंजियाँ उपस्थित हैं जिनके द्वारा भगवान् तक पहुँचने का मार्ग खुल सकता है। अखंड सत्ता के अनुसंधान के लिये मानवी आकांक्षाओं की अभिव्यंजना को इसी लिये कविता कहा गया है। कवि ससीम सौंदर्य को असीम सौंदर्य के साथ एक सूत्र में बँधा हुआ देखता है। इंद्रधनुष के सौंदर्य में उसे पूर्ण सौंदर्य की ज्योति टिमटिमाती हुई दीख पड़ती है। वास्तव में पूर्ण सौंदर्य का विस्तार सापेक्ष प्राकृतिक सौंदर्य से ही हो सकता है। आप नामरूपात्मक, स्वरूपात्मक, शरीरात्मक, सामाजिक, मानसिक, आध्यात्मिक इत्यादि भयों को जीत लीजिए और श्री शारदा के द्वार पर आत्म-समर्पण कर दीजिए, आप अपने को जीवन के रागों में ओत-प्रोत पावेंगे। आप में जीवन के लिये गहरी सहानुभूति उत्पन्न हो जायगी। प्रत्येक थिरकती हुई छाया आपको भावावेश से प्लुत कर देगी और प्रत्येक आर्त्त स्वर से आप सहसा सिहर उठेंगे।

पाश्चात्य देशों में कविता की, वर्त्तमान युग की सबसे अर्वाचीन, मीमांसा क्या की जाती है उसे भी समझ लेना है। यह भी समझ लेना चाहिए कि गोस्वामीजी की व्याख्या का आजकल क्या मूल्य है।

कविता का आविर्भाव किस प्रकार होता है, इस संबंध में विचित्र विचित्र धारणाएँ व्यक्त करने का साहस किया गया है। कुछ लोग उसे रति-जन्य बतलाते हैं। कुछ लोग इसे पशु-प्रकृति की प्रबलता से प्रादुर्भूत मानते हैं। कुछ लोगों की दृष्टि में केवल लय से कविता का जन्म होता है। इसी प्रकार की अनेक बेढंगी बातें कही गई हैं और कही जाती हैं। यदि कविता की उत्पत्ति का वास्तव में यही रहस्य होता तो अच्छी बुरी और ऊँची नीची कविता का

कोई वर्गीकरण होना ही असंभव था। अर्वाचीन मनःतत्त्ववेत्ता यह बतलाने का प्रयत्न करते हैं कि कवि संसार की घटनाओं और स्वरूपों के प्रति पूर्ण स्वीकारात्मक भाव रखता है और बाह्य जगत् को उसके तथ्यों को समझाने का प्रयत्न करता है। निर्जीव प्रयत्न में एकत्र किए हुए सौंदर्य-भावों को शोधकर ही कविता की खोज नहीं कर सकते और न कविता भाग्याधीन ही है, जो कवि से सहसा टकरा जाय। कविता का आविर्भाव तभी होता है जब हमारा हृदय विश्व के क्रिया-विधान और स्वरूप-विधान को अंतर्लीन कर ले तथा हमारा समूचा व्यक्तित्व इनकी लंबाई, चौड़ाई, ऊँचाई और गहराई को आलिंगन करने लगे। यह कार्य न तो केवल कल्पना से संभव हो सकता है और न बुद्धि से। यह कार्य तो विधेयात्मक स्फूर्ति का है। बाह्य क्रिया-कलाप का समुच्चय करके अथवा केवल भाग्यवश किसी तथ्यखंड से टकराकर कविता को उत्पन्न नहीं किया जा सकता। आजकल के मनोविज्ञानवेत्ताओं का यही मत है।

अब यह सोचना है कि यह विधेयात्मक स्फूर्ति किस प्रकार उत्पन्न होती है। मनोविज्ञानवेत्ता इसका यह उत्तर देते हैं कि हमें बुद्धि और ज्ञान की लौ हमेशा सजग और जाज्वल्यमान रखनी चाहिए। क्रिया-विधान और स्वरूप-विधान के हमारे सांसारिक अनुभव अपनी परिपक्वावस्था में हममें सजगता, जागरूकता अथवा बुद्धिमत्ता उत्पन्न करते हैं। बुद्धिमत्ता के ज्वलंत प्रकाश में स्फूर्ति उत्पन्न होती है और स्फूर्ति की परमावस्था में दैवी प्रेरणा का जन्म होता है। दैवी प्रेरणा का जन्म होते ही उच्च कविता का आविर्भाव होता है।

संभव है कि पाठकों के हृदय में यह प्रश्न उठे कि क्या बुद्धिशील व्यक्ति की भाँति परिश्रमी व्यक्ति भी काव्य के मर्म तक पहुँच सकता है। इसका उत्तर स्पष्ट है। परिश्रमी व्यक्ति के निर्जीव

परिश्रम के पुरस्कार-स्वरूप उसे, आरूढ़ होने के लिये, उन्नति के साधारण सोपान मिलेंगे जिन पर क्रमशः चढ़कर वह उन्नति की अंतिम अवस्था तक पहुँच सकता है। उसे कछुवे की गति से चलकर सारी अवस्थाओं को पार करना होगा। एक बुद्धिमान् व्यक्ति के लिये वही विधान और वही मार्ग है और उसे भी उन्हीं अवस्थाओं से निकलना पड़ता है, परंतु केंद्रित अथवा संक्षिप्त विधान के अनुकूल उसकी गति बड़ी तीव्र होती है। प्रत्येक अवस्था से निकलते हुए उसे कोई नहीं देखता और समय भी कम लगता है। एक मेधावी व्यक्ति द्रुत विधान का आश्रय लेता है। कार्य-कारण का युग्म अपनी चपला गति के कारण चमत्कृत कर देता है, परंतु वास्तव में कोई चमत्कार नहीं होता। जिस प्रकार किसी रेखा के अंतर्बिंदु नहीं दिखाई देते वरन् एक सीधी रेखा दिखाई देती है उसी प्रकार मेधावी व्यक्ति की तीव्र गति के स्थानांतर लक्षित नहीं होते। वह अपनी आत्मा के सन्निवेश से कार्य संपादन करता है। उसकी प्रज्ञा काव्य-विषय की प्रज्ञा से एक हो जाती है। वह निष्क्रिय भाव से स्वरूप-विधान और क्रिया-विधान को भावगम्य करता है। यदि बुद्धि निर्विकार है तो भाव में तथ्य का स्वरूप दृष्टिगत हो जायगा। आध्यात्मिक और कर्तरि अनुभव 'प्रत्यक्ष' अर्थ का बोध कराता है और दैवी प्रेरणा वाक् प्रदान करती है। स्फूर्ति उचित निष्कर्ष और उचित सिद्धांत प्रदान करती है तथा विवेक भ्रांतियों से बचाता है।

एक परिश्रमी और प्रज्ञावान् व्यक्ति में सबसे बड़ा अंतर यह है कि परिश्रमी व्यक्ति उन्नति के स्वास्थ्यपूर्ण और सच्चे मार्ग का अनुसरण नहीं करता; जितना ऊँचा उठने की उसमें शक्ति है उतना ऊँचा नहीं उठ पाता। प्रज्ञावान् कवि दैवी स्पर्श से संचलित किए हुए सौष्ठव द्वारा हम लोगों को साधारण क्रिया-

कलाप के वातावरण से ऊँचा उठा देते हैं। ऐसे प्रतिभा-संपन्न कवि हमारे समक्ष हमारी संभावनाएँ खोलकर रख देते हैं। वे अपने को संपूर्ण बनाकर प्रकृति के भेदों के सामंजस्य उपस्थित कर देते हैं। इसी उन्नति को हम उच्च काव्य की सृष्टि का कारण कह सकते हैं। हिंसक पक्षी जिस वेग, जिस सजगता और तत्परता से अपना भोजन पकड़े रहता है और उसके साथ ऊपर उठा चला जाता है, उसी संलग्नता से अच्छी कविता जीवन को ग्रहण किए हुए ऊपर के वायु-मंडल में विचरण करती है। परंतु इस परिस्थिति के लिये हृदय की शालीनता की आवश्यकता है। उच्च-काव्य-कला-संपन्न, चतुरता से सन्निविष्ट, तथ्य की सुंदर झाँकियों से आलोकित, मानव-हृदय में बैठी हुई सौंदर्य-परंपरा से परिपूर्ण नाटकों की सृष्टि ऊपर के सिद्धांत के अनुकूल हुई है और इसी अध्यवसाय से कवि सार्वभौमिक सौंदर्य को साक्षात् रूप में देखने लगता है। संगीत-मकरंद में नारदजी 'कवि' को इस प्रकार परिभाषित करते हैं—

"शुचिर्दक्षः शांतः सजनविनतः सुंदरतरः
कलावेदी विद्वानतिमृदुपदः काव्यचतुरः।
रसज्ञः दैवज्ञः सरसहृदयः सत्कुलभवः
शुभाकारश्छंदो गुणगणविवेकी स च कविः॥"

इस विशेषण-समाहार में यद्यपि कोई व्यवस्था नहीं है परंतु कवि के सच्चे स्वरूप को कुछ समझाने का प्रयत्न अवश्य किया गया है।

गोस्वामी तुलसीदासजी कविता के सच्चे स्वरूप को समझते थे—उन्हें उसका बोध था। ऊपर की काव्य-विषयक सारी मीमांसा उन्हीं के चौपाई और दोहे के आधार पर की गई है। आगे उनके काव्य के संबंध में संक्षिप्त चर्चा की जायगी।

गोस्वामी तुलसीदासजी के संबंध में समय समय पर बहुत कुछ लिखा जा चुका है और लिखा जा रहा है। तो भी यह सब अभी

तक का ही है। वे पवित्र भक्त, निर्मल मित्र और कुशल सुधारक थे। उनकी आलोचना की टाँकी समाज-प्रतिमा के खुरखुरेपन को मिटाने के लिये उतनी कठोरता के साथ प्रयुक्त नहीं हुई—केवल दो एक स्थलों को छोड़कर—जितनी कठोरता के साथ कबीर ने उसका प्रयोग किया। सुधारक के वेष में कबीर की व्यंग्य वाक्यावली का कशाघात अपढ़ लोगों को तो कुछ काल के लिये सजग कर सका परंतु समाज के उच्च वर्ग के लोग उससे तिलमिला गए। यह विरोध इतना बढ़ा कि उन्हें नीचा दिखाने के लिये, कबीर को वेदशास्त्र, ज्ञान-विज्ञान सभी की तीव्र निंदा करनी पड़ी और पंडितों को उनकी मूर्खता का ढोल पीटना पड़ा। परीक्षा में पड़े हुए कबीर जब किसी संस्कृत वाक्य का अर्थ न बतला सकते थे तब स्वयं एक कूट लिखकर अपमानित भावना का प्रतिशोध लेते थे। इन कूटों की पहेली को कौन समझता? अतएव मूर्ख शिष्यों के समक्ष उनका आदर बढ़ जाता था। शासन अक्षुण्ण रखने के लिये अहम्मन्यता के साथ चिपकना अनिवार्य था। उपदेशक बनना और मर्मज्ञ प्रदर्शित करना भी इसी भावना के परिचायक हैं।

इससे यह न समझना चाहिए कि कबीर की उपदेश-वृत्ति और सर्वज्ञता प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति केवल ढोंग अथवा डींग थी। वे वैयक्तिक पवित्रता की साधना में एक ऐसे स्थान पर अवश्य पहुँच चुके थे जहाँ से वे अपने वाक्यों को आत्मश्लाघा न समझते थे। परंतु इस बड़े संघर्ष से प्रस्फुटित कबीर-धर्म अशिक्षितों तक ही परिमित रहा। उसे विद्वानों ने कभी ग्रहण न किया। उनके सुधारों में बेढंगी क्रांति थी।

गोस्वामीजी दूसरे प्रकार के सुधारक थे। उनका कोई निजी मत न था। उन्होंने अपने अध्ययन से जान लिया था कि सनातन धर्म में भी ऐसी कोई कमी नहीं है कि किसी नए धर्म का सूत्रपात किया जाय।

व्यावहारिक बुराइयाँ सभी धर्मों में प्रविष्ट हो जाती हैं। जिस समय किसी जाति-विशेष की मानसिक दुर्बलता इस सीमा तक पहुँच जाती है कि वह अमूर्त स्वरूपों को ग्रहण नहीं कर पाती, उस समय अपनी उपासना की परितुष्टि के लिये वह उन स्वरूपों को मूर्त आकार देती है। यूनान के अनेक देवताओं का बेढंगा स्वरूप इसी मनोभाव का प्रतिरूप है। भारतवर्ष में भी जब जन-समुदाय के मन पर सरस्वती के अमूर्त गुणों का संरक्षण न रह सका तो उनके चार हाथ लगाए गए। हंस वाहन ढूँढ़ा गया; हाथों में पुस्तक और वीणा दी गई। इस साकार रूप में ही साधारण व्यक्तियों को सांत्वना मिलती है। विद्वानों के निकट इन प्रतीकों का कुछ भी उपयोग नहीं है। हाँ, जब इन प्रतीकों की आड़ में कोई कुशल कवि मानसिक परिस्थितियों की गहरी और आदर्श उलझन को अभिव्यक्त करता है तब विद्वानों के भाव-स्वरूप पर भी स्पंदन होता है और वे प्रतीक विद्वानों की भी वस्तु हो जाते हैं। बुद्धि-वैषम्य सृष्टि के आदि से ही है। इसी को ताड़कर जिन कवियों ने पंडितों और जनता दोनों के मनोभावों को स्पष्ट करनेवाली कृतियाँ लिखी हैं उन्हीं का सम्मान है। केवल एक को साथ रखनेवाली कविता एकांगी ही समझी जाती है। अभद्रता और सुंदरता के बीच में केवल एक पतली रेखा है। उसको ताड़ना कलाकार के लिये बड़ा ही आवश्यक कार्य है। यह रेखा ऐसी सीमा है जहाँ लोकाभिरुचि और विद्वानों की अभिरुचि मिलती है। गोस्वामीजी इस रेखा को ताड़ ही नहीं गए थे वरन् इसी के ऊपर ही उन्होंने काव्य का सारा प्रासाद खड़ा किया। रामचंद्र को साकार स्वरूप में खड़ा कर लौकिक और अलौकिक के अनूठे सामंजस्य द्वारा उन्होंने उनके लिये जो वायु-मंडल, जो वातावरण, जो परिस्थितियाँ निर्मित कीं वे जनता के लिये सुख-स्वप्न की वस्तु भी हैं और ठोस संसर्ग

की भी। साधारण लोग गोस्वामीजी के मानस में ध्वनि और संगीत से ही भाव और रस में गोते लगाने लगते हैं और पंडित लोग भाव और रस में निमग्न ध्वनि और संगीत का साकार स्वरूप अनुभव करते हैं।

गोस्वामीजी को राम-स्वरूप की दरकार अपने लिये न थी। वे दशरथपुत्र के साकार स्वरूप को खड़ा किए बिना ही उपासना-क्षेत्र में बहुत आगे बढ़े हुए थे। वे तो नाम के अमूर्त स्वरूप में ही सब कुछ मानते थे—

"राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥"

बालकांड की कथा को प्रारंभ करने के पूर्व ही उन्होंने स्पष्टतया 'नाम' को दशरथपुत्र राम से ऊँचा कहा है। इस उक्ति का उनके लोक-धर्म की संस्थापना से कोई विरोध नहीं। वास्तव में जब से पं० रामचंद्रजी शुक्ल ने अपनी आलोचना द्वारा गोस्वामीजी की कविता में लोक-धर्म का दिग्दर्शन कराया तब से परवर्ती सारे आलोचकों का ध्यान उस ओर से हटता ही नहीं। लोक-धर्म के गहरे रंग की ऐनक लगाने से उनका साधु-धर्म धूमिल दिखाई देने लगा है। यह न भूलना चाहिए कि उन्होंने समाज-सुधार के लिये, लोक-धर्म के नाम पर, जो कुछ भी किया वह गौण था। प्रधानता तो वैयक्तिक उन्नति की ही थी। नहीं तो वे मीरा को यह परामर्श न देते—

"जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिए ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥"

साधु-धर्म में गुरु का स्थान सर्वोच्च है। स्थान स्थान पर उन्होंने गुरु की प्रशंसा की है। यह भी नहीं कि (पं० रामचंद्र शुक्ल के कथनानुसार) उन्होंने अपने ग्रंथों को गणेश की वंदना से ही प्रारंभ किया हो। गुरु की वंदना से भी उनके ग्रंथों का आरंभ हुआ। वे ब्राह्मण थे। समाज में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च है। उन्होंने समाजवाद का पक्षपात किया है, प्राचीन रूढ़ियों की रक्षा के लिये यत्न

किया है। तीर्थ, व्रत, नियम, उपवास, माला, तिलक, गंगा-स्नान इत्यादि की ओर उन्होंने प्रवृत्ति पैदा की है। परंतु साधु-धर्म का सम्मान उनके हृदय में बहुत बड़ा है। वैयक्तिक पवित्रता की समता में सारी रूढ़ियाँ उड़ जाती हैं। रामचंद्र शबरी के जूठे बेर खा लेते हैं और ब्रह्मर्षि वशिष्ठ अछूत निषाद को गले लगाते हैं। इन उदाहरणों से लोक-धर्म की पुष्टि में यह कह देना कि उनका किसी जाति से विरोध न था उतना सत्य नहीं जितना सत्य यह है कि वैयक्तिक पवित्रता की धारा में उनका लोक-धर्म मारा मारा फिरता था। गोस्वामीजी वहीं तक लोक-धर्म के साथ थे जहाँ तक साधु-धर्म से उसका विरोध न था। इधर-उधर के अवतरणों से जहाँ कहीं भी गोस्वामीजी साधु-धर्म से उतरे हुए प्रतीत होते हैं उसका कारण यह नहीं है कि लोक-धर्म की वेदी पर साधु-धर्म की बलि दी गई है, वरन् उन स्थलों पर गोस्वामीजी ने रूढ़ियों की रक्षा करके मनमानी उच्छृंखलता को दबाया है। विभीषण, भ्रातृ-द्रोह और देश-द्रोह करके, लोक-धर्म का अच्छा उदाहरण उपस्थित नहीं करता। शत्रु से मिलकर सुग्रीव का भाई को मरवाना और उसकी स्त्री को ब्याह लेना लोक-धर्म का अच्छा आदर्श नहीं। मंदोदरी पति को शत्रु रामचंद्र के समक्ष "खल खद्योत दिवाकर जैसा" कहकर भारत-ललनाओं के समक्ष लोक-धर्म का कोई ऊँचा आदर्श उपस्थित नहीं करती। इन पात्रों का साधु-पात्रों में परिगणन केवल साधु-धर्म के बल पर किया जा सकता है, लोक-धर्म के बल पर नहीं।

यह ठीक है कि गोस्वामीजी को सृष्टि के दुष्ट स्वरूपों का वैसा ही सूक्ष्म परिज्ञान था जैसा कि साधु चरित्रों का—और दुष्टों को सुधारने के लौकिक प्रयासों को वे कहीं कहीं पर साधु प्रयोगों के आदर्शवाद के झमेले से अच्छा समझते थे—परंतु इसका अर्थ यह

नहीं है कि उन्होंने उन लौकिक नियमों को आदर्श माना है। लोक-धर्म के, इस सीमा तक, वे अनुयायी न थे। यह ठीक है कि सृष्टि के आदि से ही सब लोग एक से भले नहीं हुए। यह विकासवाद के भी प्रतिकूल है। सारा राष्ट्र एक गाल पर थप्पड़ खाकर दूसरा गाल नहीं फेर सकता, यह भी किसी हद तक ठीक है; परंतु इस कारण साधु सिद्धांतों के विकास के लिये समाज को न तैयार करना सर्वथा ठीक नहीं। साधु-प्रवर गोस्वामीजी ऐसा घोर अन्याय नहीं कर सकते थे। आज महात्मा गाँधी, यह समझकर भी कि उनका अहिंसात्मक आंदोलन लोक-धर्म के स्वरूप में गृहीत नहीं हो सकता, उसमें हेर-फेर करने को तैयार नहीं हैं, वरन् राष्ट्र को अपने साथ ले चलने का प्रयास करते हैं। गोस्वामीजी यदि महात्मा थे तो वे दूसरी बात कर ही कैसे सकते थे।

महात्मा तुलसीदास को इस भावना से खाली समझना उन्हें नीचे गिराने का प्रयास करना है। संसार की बुराई और भलाई दोनों का उन्हें ज्ञान था। दोनों को ही वे उस अखंड सत्ता की दो भिन्न परिस्थितियाँ समझते थे। इसी लिये उन्होंने उसी भक्ति से खलों और दुष्टों की वंदना की है जिस भक्ति से साधुओं और देवताओं की—

"सगुनु पीरु अवगुनजल ताता। मिलइ रचइ परपंच बिधाता।"

और एक स्थान पर कहा है—

"जड़ चेतन गुनदोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिँ पय, परिहरि बारि-बिकार॥"

इस विश्व में उन्नतिशील विकास-प्रिय सज्जनों के लिये "हंस" संज्ञा है।

एक बड़े कवि के लिये अभिव्यक्ति की दोनों विभूतियों का ज्ञान अपेक्षित है, अन्यथा काव्य में वह वेग नहीं आ सकता। बुरे पात्रों के सहारे अच्छे पात्रों का उत्कर्ष बढ़ता है। बूट जितने ही काले

होंगे, गोरा पैर उतना ही अधिक चमकेगा। इस पूर्ण ज्ञान की अभिव्यक्ति से गोस्वामीजी के लोक-धर्म से कोई संबंध नहीं। गोस्वामीजी ने साकार भगवान् की अभिव्यक्ति केवल इसलिये की है कि लोग उनके भगवान् को जानें और उनके प्रति भक्ति करें। राम-चरित-चित्रण केवल इसी प्रकार से सुंदर हो सकता है जिस प्रकार से गोस्वामीजी ने किया है। यदि मानस में लोक-धर्म के दर्शन होते हैं तो उसका श्रेय उनके उपास्य देव को है, वाल्मीकिजी का है, "प्रसन्नराघव"कार का है और अनेक पूर्ववर्ती रामचरित-लेखकों को है। उनकी यदि कोई निजी विशेषता है तो वह उनके साधु-धर्म की है।

कहने का अभिप्राय यह है कि पं० रामचंद्र शुक्ल ने गोस्वामीजी की आलोचना में उन्हें लोक-धर्म-प्रचारक की ऐसी मोटी और आलोकमय वर्दी पहना दी है कि दूसरे आलोचकों के नेत्र सबसे पहले उसी से चकाचौंध हो जाते हैं। जितने ग्रंथ बाद में निकले सभी में, इस सिद्धांत को अक्षुण्ण मानकर, इसी के आस-पास फेरी की गई है। यह मनोभाव सत्समालोचना के प्रतिकूल है। विज्ञ लेखक श्रीयुत शुक्लजी की आलोचना को यदि सावधानी से कई बार पढ़ा जाय तो अनेक ऐसे स्थान मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने लोक-धर्म को आवश्यकता से अधिक ढूँढ़ा है; उसकी अतिरंजना की है; अपने ज्ञान की प्रतिच्छाया को गोस्वामीजी के काव्य-कानन में स्थान दिया है।

गोस्वामीजी के चौपाई-दोहे में प्रबंध-काव्य लिखने के आदर्श मलिक मुहम्मद जायसी थे। अन्यान्य सूफी कवियों ने भी इन्हीं दोनों छंदों का आश्रय लिया है। परंतु चौपाई कितना बड़ा छंद है इसका ठीक ज्ञान जायसी को न था। कदाचित् गोस्वामीजी भी एक अर्द्धाली को ही चौपाई समझते थे। जायसी कहते हैं—

'हौं पंडितन्ह केर पछलगा ।' गोस्वामीजी ने इससे भी अधिक विनम्रता दिखाई है। परंतु दोनों कवियों का बड़ा भारी अंतर उनके उपासना-भेद का है। जायसी अन्योक्ति के गुंफन में निराकार भगवान् की उद्भावना उपस्थित करते हैं और उपासना के सोपान से उस लोक तक पहुँच जाते हैं जहाँ से अखण्ड सत्ता की झलक दीख पड़ती है। प्रत्यक्ष में परोक्ष का आरोप करके जायसी ने सुंदर सुंदर रहस्यमय झाँकियाँ दिखाई हैं। परंतु गोस्वामीजी की सभी आराधना धनुष-बाणवाले राम पर ही हिलगकर रह गई। 'सियाराम-मय सब जग' में उन्हें 'सिया-राम' की साकार प्रतिमा ही दीख पड़ी। यदि इससे वे ऊपर उठते और किसी अनैसर्गिक अलौकिक भाव-लोक में राम और सीता को ढूँढ़ते, उनके न मिलने पर रोते, सतत प्रयत्न करते तो कभी कभी भावातिरेक में उन्हें भी झलक मिलती और उनकी उक्तियों में भी रहस्यवाद की मीठी अभिव्यक्ति दिखाई पड़ती। गोस्वामीजी इसी कारण रहस्यवादी नहीं हो सके। "केशव कहि न जाय का कहिए" वाली उक्ति में गोस्वामीजी, व्यक्त स्वरूप की इयत्ता में संकुलता अभिव्यक्त कर, जो रहस्यवाद की ओर खिचे हुए दिखाई देते हैं वह केवल राम के साकार स्वरूप से कुछ काल के लिये हट जाने के कारण। परंतु हृदय के अनुमोदन न करने के कारण इस उक्ति में काव्य नहीं है, औत्सुक्य मात्र प्रदर्शन किया गया है। उक्ति रहस्य-मय न होकर दुरूह होकर रह गई है।

गोस्वामीजी बड़े आशावादी थे। उन्हें वस्तुओं की और क्रिया-स्वरूपों के सौंदर्य-वृद्धि की मंगल आशा है। बुराई के ऊपर भलाई की विजय पर उन्हें विश्वास है। अपने उद्धार की भी आशा है—

"कबहुँ कि हैं। यहि रहनि रहैंगो।"

प्रबंध-रचना के लिये चौपाई और दोहे से कोई अच्छा छंद नहीं। संगीत के विभिन्न स्वरूपों में भी यह गाया जा सकता है।

गोस्वामीजी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। उन्होंने धर्मशास्त्रों और काव्यों का भली भाँति अनुशीलन किया था। यद्यपि, समयानुकूल, वे विद्वान् पहले और कवि बाद में थे परंतु अंत में वे कवि प्रथम और विद्वान् बाद में रह गए। उनकी प्रबंध-रचना अद्वितीय और उनका चरित्र-चित्रण असाधारण होता था। मार्मिक स्थलों का चयन, अनावश्यक उपकरणों की कलम करना वे खूब जानते थे। यद्यपि वे निसर्ग का संश्लिष्ट चित्र अत्यंत उत्तम नहीं खींच सकते थे तो भी मानव-समाज के स्वभाव में उनकी पैठ गहरी थी। उदात्त वृत्तियों की सभी परिस्थितियों का उन्हें ज्ञान था। उनकी पंक्तियों से रस टपकता है। उनके वर्णनों में मनोरंजकता और आकर्षण है। वे समय के प्रवर्तक थे, काव्य में युगांतर-कारक थे। वे ज्ञान के संस्थापक और भक्ति के प्राण थे। उन्होंने भक्ति-मंदाकिनी में नवीन प्रवाह उत्पन्न किया। वे गृहस्थों के साधु और साधुओं के गृहस्थ थे। उनमें दैवी स्फुलिंगों का प्रकाश और दानवी वृत्तियों का नियंत्रण था। वे पूर्णता में अपूर्ण और अपूर्णों में पूर्ण थे। वे वैयक्तिक साधना के बल पर, पवित्रता के मचान पर बैठे बैठे भी, मानवीय झटकों का अनुभव करते थे। दूसरों के लिये उनके पास चमत्कार थे, दूसरों की सहायता के लिये उनका सर्वस्व था; परंतु अपनी बाहु-पीड़ा को वे दूर न कर सके। महात्मा ईसा ने कितनों का भला किया परंतु वे अपने को सूली से मुक्त न कर सके। महात्मागण अपने लाभ के लिये नहीं हैं। अगस्त्य का वैभव भरत की अभ्यर्थना के लिये था, स्वयं अपने लिये नहीं। गोस्वामीजी मनुष्य रूप में देवता और देवता के रूप में मनुष्य थे।

गोस्वामीजी का सबसे बड़ा गुण उनके जीवन की निष्कपटता और उक्ति की निश्छलता है। अपने विषय में वे लिखते हैं—

> जे जनमे कलिकाल कराला। करतब बायस बेष मराला॥
> चलत कुपंथ बेद-मग छाँड़े। कपट कलेवर कलिमल भाँड़े॥
> बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन-कोह-काम के॥
> तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धरमध्वज धंधकधोरी॥

यह वंचक उक्ति नहीं है और न इसमें अतिरंजना ही है। इसमें उनका निजी स्वीकार है। पाप के स्वीकार का यह भाव विरलों में दिखाई देता है। गोस्वामीजी की इस उक्ति के समक्ष मेरे निकट उनकी, लोक-धर्म और साधु-धर्म की, सारी उक्तियाँ न्यौछावर हैं। इससे पतितों को सहारा मिलता है।

गोस्वामीजी की कविता की जितनी प्रशंसा की जाय, कम है। एक नहीं, दस नहीं, सहस्रों ऐसे नए भावों और मुहावरों का प्रयोग इस महाकवि ने किया है जो अपनी विशिष्टता के लिये अमर हैं। गोस्वामीजी के हाथों में पड़कर प्रांतीय बोली अवधी सारे उत्तरापथ में पढ़ी जानेवाली सुंदर भाषा हो गई। उन्होंने ब्रजभाषा के रूप को भी निखारा और सुसंस्कृत किया। नई-पुरानी सभी अभिव्यंजन-प्रणालियों को उन्होंने फिर से सजीव करके खड़ा किया। उनके लिये अभिव्यंग्य और अभिव्यंजना में कोई अंतर न था। शैली की जटिलता और दुरूहता उनमें नाम लेने को भी नहीं है। विचार साफ साफ और सुलझे हुए हैं। वास्तव में यह कहना कि अमुक भावना या विचार हम स्पष्ट व्यक्त नहीं कर सकते यही कहने के बराबर है कि अमुक विचार या भाव हमें स्वयं स्पष्ट नहीं है। शैली के सँवारने का तात्पर्य अस्पष्ट उलझे हुए भाव के सँवारने के अतिरिक्त दूसरा हो ही नहीं सकता।

गोस्वामीजी की किसी भी कृति में रसात्मकता का तूफान नहीं है। विश्व के सभी बड़े से बड़े काव्यों में यही बात है। गोस्वामीजी की गहरी से गहरी भावना में विस्फोट का झकझोर नहीं है। परंतु यह बात नहीं कि वे रुला या हँसा न सकें। ऊँची कला का चिह्न ऊँची गति-विधि है। ऊँचे विषय का चिह्न है व्यापक सहृदयता।

कवि के लिये हकलाना उतना ही बड़ा दोष है जितना वक्ता के लिये। काव्य-निर्माण में काव्यगत परिस्थितियों को समय समय पर छोड़ देना और उनकी अभिव्यक्ति न करना जान-बूझकर काव्य को दुरूह बनाना है। एक सुंदर रंगीन तितली का सौंदर्य जब तक हम गुलाब के लाल फूल के आसन पर अनुभव करते हैं तब तक वह उछलकर घास की पतली सींक पर झूलने लगती है। यहाँ भी उसके स्वरूप के सौंदर्य का पूर्ण निरीक्षण नहीं हो पाता कि वह, वायु में गोते लगाती हुई, नीम की ऊँची चोटी पर जा बैठती है। यह वृत्ति काव्य में अच्छी नहीं। वर्तमान युग की कविता का यह बड़ा भारी दोष है। गोस्वामी तुलसीदास इस चंचलता से कोसों दूर हैं। सौंदर्य के गत्यात्मक निर्माण के लिये भी विना लगाम की कल्पना व्यर्थ है।

गोस्वामी तुलसीदास का महत्त्व इस बात में ही नहीं है कि उन्होंने पुण्य के ही स्वरूप खींचे हैं। उन्होंने पाप को भी खूब पहचानकर उसका भी अंकन किया है। यदि हम उनकी सारी कृतियों से पाप की प्रतिरूप परिस्थितियों का संकलन करें तो हमें पाप की समूची मूर्ति मिल जाती है। पाप स्वार्थ है। वह अपने सच्चे स्वरूप के विरोध का निष्कर्ष है, वह देवत्व के प्रति क्रांति है। वास्तव में वह सारी ऊँची वृत्तियों का नकार है। वह अखंड शक्ति से दूर रखने की दीवार है। पाप कोई कार्य-विशेष नहीं है यद्यपि

पाप का कार्य क्रियात्मक स्वरूप हो सकता है। वह वास्तव में मानसिक स्थिति है जिसका आदि और अंत 'अहं' है और जिसका 'मैं' के अतिरिक्त किसी वस्तु पर विश्वास नहीं। वह आत्मा और शेष आत्मा के जोड़ में विश्वास नहीं करता। वह 'मैं अरु मोर' और 'तोर तैं' तक ही सीमित रहना चाहता है।

पाप का यह स्वरूप भीषण अवश्य है परंतु अजेय नहीं। गोस्वामीजी की सारी काव्य-शक्ति इसी के साथ युद्ध करने में व्यय हुई है।

गोस्वामीजी-लिखित १००० पृष्ठों में कदाचित् ही कोई अनाकर्षक पृष्ठ मिले। इतिहास को उन्होंने पहले-पहल काव्यबद्ध किया है। दर्शन के अंगों को सिखाने के लिये उन्होंने काव्य-शक्ति का व्यय नहीं किया। किसी वाद के पचड़े में न पड़कर उसका उतना ही अंश उन्हें स्वीकार रहा है जो भावना-क्षेत्र में लाया जा सके। काव्य के लक्षणों की भी जानकारी उन्होंने अपने ही तक सीमित रखी। ऊपर से वे अज्ञान ही घोषित करते रहे। वे कविता के लिये कविता नहीं करते, वरन् सुख के लिये कविता करते हैं।

यह ठीक है कि गोस्वामीजी वस्तु में मौलिक नहीं हैं परंतु ढंग में वे मूल से भी मौलिक हैं। पौधे विभिन्न वनों से संचित किए गए हैं परंतु बगीचे की व्यवस्था उनकी निजी है। उनके मानस में पात्रों की एक सेना है जिनके नाम ऐतिहासिक अवश्य हैं परंतु उनकी सृष्टि का कारण गोस्वामीजी की निजी प्रेरणा है। पात्रों की एकांतता, उनका जीवन, उनकी वाणी, उनका रहन-सहन—सबमें विशिष्टता है। गोस्वामीजी प्राणों को दोनों मुट्ठियों में भरकर निकलते हैं और उन्हें अपने राम के पीछे पीछे बिखेरते फिरते हैं। अयोध्या के घोड़े और तोते परिजनों से भी अधिक दुखी हैं। चित्रकूट की पहाड़ी मानों श्वास लेती है और वहाँ के पशु-पक्षी, वृक्ष और घन सब, कान लगाकर, सभा की बातें सुनते हैं।

गोस्वामीजी की कृतियाँ बहुत ऊँची हैं परंतु वे उनसे भी अधिक ऊँचे हैं। उन्होंने शूद्रों के लिये जो कुछ कहा है उस पर इस युग में हम मुँह बनाते हैं; उन्होंने स्त्रियों के प्रति जो क्रूरता दिखाई है, उस पर हम उन्हें नासमझ कहते हैं; उन्होंने प्राचीनता के साथ जो अटूट लगाव दिखाया है उस पर हम उन्हें अनुदार कहते हैं। परंतु हम उन्हें कपटी और दंभी नहीं कहते। उनके गहरे से गहरे पक्षपात में ईमानदारी है; उनकी कट्टर से कट्टर उक्ति में पवित्र साहस और निश्छल बल है।

कबीर ने अपने विचारों को आकाश में फेंककर उनके टेढ़े-मेढ़े चित्रों द्वारा सत्य के विचित्र स्वरूपों की प्रतिष्ठा की है। विरोध की लड़ी में सीधे-सादे तथ्यों को भी उन्होंने घपले में डाल दिया है। व्यंग की वर्षा पहले वे वेग के साथ करते हैं और फिर रुककर कहने लगते हैं "इसमें यह तथ्य है"। स्वीकृत संस्कारों को धरा-चुंबन कराती हुई कबीर-कविता की भीषण आँधी नवीन असाधारण चमत्कृत सत्यों को, घोर घरघराहट में, सुनाती जाती है। गोस्वामीजी में ऐसी कोई बात नहीं है। वे बवंडर की तरह नहीं उठते। उनमें जीवन के संघर्ष की भीषण क्रांति नहीं है। उनमें असाधारण कसमसाहट नहीं है। उनके मुख से दौड़-धूप का फेनिल नहीं झरता। उनकी वृत्ति गंभीर है जिसकी प्रेरणा से क्रांति की उग्रता, कसमसाहट का सँकरापन और संघर्ष का फेनिल अपने स्वरूप को भूलकर मस्ती के पालने में सो जाता है। उनकी कविता में जीवन का स्वरूप और जीवन के स्वरूप के निर्माण करने की प्रेरणा है। वह जीवन सी है और जीवन के लिये है।

विश्व के कवियों ने या तो साधु-महात्माओं के आसन पर बैठकर गहरी धार्मिक उत्तेजना से ओत-प्रोत बिखरे हुए छंद कहे हैं

और अखंड ज्योति की कौंध की रहस्यमय, अस्पष्ट और अस्फुट रेखाएँ अंकित की हैं या सांसारिक जीवन के जलते हुए एकांत चित्र खींचे हैं जो धर्म और अध्यात्म से उदासीन दिखाई पड़ते हैं। गोस्वामीजी पहले कवि हैं जिन्होंने इन दोनों वर्गों को समन्वित किया। आदर्श और तथ्य उनमें ऐसे घुले-मिले हैं कि उनका आदर्श तथ्य है और उनका तथ्य ही आदर्श है।

गोस्वामीजी भारतवर्ष के उऋण ऋणी हैं। भारतीय संस्कृति की वे कीर्ति हैं। वे सच्चे साधु हैं, निश्छल भक्त हैं, छिपे हुए शिक्षक हैं और धीमे सुधारक हैं। उनकी चमत्कारपूर्ण असाधारण ईमानदारी निखरी हुई चमकती है जिसका प्रकाश प्राणों में पैठकर उत्तेजना को विह्वल कर देता है। मर्त्य और स्वर्ग का ऐसा अनूठा सोहाग विश्व के साहित्य में कदाचित् ही कहीं मिले। इंद्रियों की चेतनाएँ और मन की संवेदनाएँ अद्भुत तपस्या के साथ अध्यात्म-प्राण का आलिंगन करती हैं। स्वर्ग की सुधा का बहाव गोस्वामीजी की नस नस में झलकता है। उनकी दैवी अंत:प्रेरणा विश्व के व्यवहार-शास्त्र की नींव है। उसमें संकुलता उतनी ही है जितनी मनुष्य-जीवन में।

गोस्वामीजी की कृतियों में आलस्य है, तंद्रा है, निद्रा है। उनमें केवल सूखी सजगता ही नहीं है, आर्द्र विस्मरण भी है। विश्व के तमाम रंगों से चित्रित, अलौकिक चमत्कार से भरी, होने पर भी गोस्वामीजी की सादी उक्तियाँ स्थल स्थल पर एक के बाद एक निकलकर नाचते हुए मोर के पंखों की भाँति सजकर फैलती चली आती हैं। हम देखते हैं और सोचने लगते हैं। तुम देखते हो और रो पड़ते हो। वे देखते हैं और मुँह फाड़ देते हैं। कोई मोर की ठमक पर पंख का हिलना देख रहा है, कोई उसकी मसृणता और चित्रता पर मुग्ध है, और किसी में समूचा सौंदर्य हृदय में पैठकर

प्राण में घुल-मिल गया है। गोस्वामीजी का ज्वालामुखी फूट नहीं निकलता। उस पर जागरूकता का मोटा तवा रखा हुआ है। यह अवरोध केवल उसी समय हिल उठता है जब भक्ति-निर्झरिणी दैन्य के पुलिन से होकर ज्वाला पर छन्न से जा गिरती है और सारी विह्वलता लिए हुए आत्मा ऊपर की ओर वेग के साथ सिमटकर उड़ती है। कवि अपनी वैयक्तिक भावना की पावन भूमि पर पहुँच जाता है और मार्ग में ऐसा प्रकाश विकीर्ण करता जाता है कि अंधों को भी चलने का सहारा दीखने लगता है।

गोस्वामीजी नए होते हुए भी पुराने हैं और पुराने होते हुए भी नए। जितनी बार लोग उनकी पंक्तियों को पढ़ते हैं, नया श्वास खिंचता है और नए प्राणों के झूले में नया सौरभ फैलता है। नया संगीत, नया भाव-खंड, नया विचार और कला का नया रूप गोस्वामीजी की पंक्तियों के सिंहावलोकन का अनिवार्य निष्कर्ष है। पिछली पुरानी बस्ती के ऊपर निरंतर नई अटारियाँ बना करती हैं। वे संसार के थे और संसार में थे; फिर भी संसार के नहीं थे और संसार में नहीं थे।

उनकी कृतियों में विलक्षण जागरित तंद्रा और सजीव भावुक मननशीलता है। उनकी भावुकता में और उनकी भाव-व्यंजना में पग पग पर मर्यादा की अनूठी हिचक दृष्टिगत होती है। भावुकता में भोलापन है और जागरूकता में धीमी गति है। उनकी पहली कृतियों की प्रभा लजीली है। उसमें विलास तो है, परंतु भभक नहीं है। अंतिम रचनाओं में अस्पर्शता नहीं है प्रत्युत स्पष्ट पुकार है। गोस्वामीजी कहीं दुरूह नहीं हैं। अस्पष्ट को स्पष्ट बनाने में और उलझनों को सुलझाने में ही दुरूहता आती है। गोस्वामीजी ने ऐसा कोई प्रयास नहीं किया,

यही उनमें सबसे बड़ी कमी है और यही उनकी सबसे अधिक प्रसिद्धि भी।

आगे गोस्वामीजी की चार छोटी कृतियों की समीक्षा की जायगी और स्थल स्थल पर उनकी कविता के संबंध में जो नये तथ्य दृष्टिगत हुए हैं उन पर प्रकाश डाला जायगा।

रामलला नहछू

गोस्वामी तुलसीदासजी का हिंदी में जो स्थान है वह किसी से छिपा नहीं है; परंतु तो भी अन्य साहित्य-प्रिय देशों में छोटे छोटे कवियों के संबंध में जितना विवेचन हो चुका है उतना हिंदी-कवि-सम्राट् गोस्वामीजी के संबंध में अभी नहीं हुआ। इँगलैंड में शेक्सपियर के नाटकों की जितनी संख्या है उससे कई गुनी अधिक उनकी आलोचनाओं की संख्या है। कॉलेज में विद्यार्थियों को नाटक चाहे थोड़े ही पढ़ने पड़ें, परंतु आलोचनात्मक पुस्तकों की भरमार रहती है।

कई वर्ष हुए गोस्वामीजी की शताब्दी बड़े समारोह से मनाई गई थी। उस समय काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने इस दिशा में जो कार्य किया था वह अत्यंत श्लाघ्य एवं प्रशंसनीय है। उक्त सभा ने तीन ग्रंथों में गोस्वामीजी की सारी कृतियों का संग्रह प्रकाशित किया है। अंतिम भाग में उनकी जीवनी है और भिन्न भिन्न विद्वानों के आलोचनात्मक लेख हैं। इस ग्रंथ में पंडित रामचंद्र शुक्ल का लेख बहुत ही विशद और पूर्ण है। अन्य सज्जनों के लेखों में भी कतिपय सुंदर लेख हैं।

गोस्वामी तुलसीदासजी पर श्री लमगोड़ाजी बहुत दिनों से अपनी आलोचनाएँ लिख रहे हैं और वे समय समय पर पत्रों में प्रकाशित होती रही हैं। परंतु उनकी कृतियाँ बहुत कुछ रामचरित-मानस पर ही निर्धारित हैं। काशी के स्वर्गीय लाला भगवानदीनजी ने गोस्वामीजी के कुछ अन्य ग्रंथों की टीकाएँ लिखी हैं, जो पुस्तकों को अवगत करने के लिये निःसंदेह उपयोगी हैं। वियोगी हरि जी की

विनयपत्रिका सुंदर वस्तु है। बाबा वेणीमाधवदास के मूल चरित का संक्षिप्त भाग भी उपलब्ध हुआ है। इसकी महत्ता स्वीकार करने में विभिन्न विचार हैं। मिश्र-बंधुओं की सम्मति में यह निरर्थक और कपोल-कल्पित है। मिश्र-बंधुओं ने स्वयं अपने 'विनोद' में तुलसीदासजी के संबंध में जो लेख लिखा है वह आजकल की दृष्टि से थोड़ा पिछड़ा हुआ है। बाबू श्यामसुंदरदास ने 'गोस्वामी तुलसीदास' नाम की एक अच्छी पुस्तक हिंदुस्तानी एकेडमी में प्रकाशित कराई है। इधर गंगा-पुस्तकमाला द्वारा प्रकाशित कुछ कृतियों में तथा 'माधुरी' और 'सरस्वती' के कुछ लेखों में गोस्वामीजी के संबंध में अधिक नई बातें लिखी गई हैं।

इस ग्रंथ के प्रस्तुत करने में जिन जिन साधनों का उपयोग किया गया है उनकी चर्चा अन्यत्र कर दी गई है। लेखक ने जान-बूझकर गोस्वामीजी के छोटे ग्रंथों को ही चुनकर उनकी आलोचना प्रस्तुत की है। एक तो इन ग्रंथों की बहुत कुछ चर्चा लेखक ने मासिक पत्रों में आज तक की है अतएव हिंदी-संसार को प्रस्तुत आलोचनाओं के परखने का मौका मिल चुका है, और दूसरे आलोच्य-ग्रंथ छोटे होने के कारण लेखक का कार्य सरल है। यदि इन आलोचनाओं का मूल्य हुआ तो गोस्वामीजी की अन्य कृतियों पर भी कुछ कहने का साहस किया जायगा।

सबसे पहले रामलला नहछू की चर्चा की जाती है। रामलला नहछू २० छंदों का सुंदर ग्रंथ है। यह सोहर छंद में लिखा गया है। सोहर छंद हमारे प्रांत का एक अत्यंत प्रसिद्ध सरल छंद है। यह पुत्रोत्पत्ति के अवसर पर गाया जाता है। फिर पुत्र के उत्साह-संबंधी जितने कार्य होते हैं, उन सबमें यह छंद गाया जाता है। छठी, कर्णवेध, केश-मुंडन, नहछू, यज्ञोपवीत इत्यादि सब अवसरों पर स्त्रियाँ मधुर स्वर से इसे गाया करती

हैं। स्त्रियाँ इसकी मात्राओं में तथा लंबाई-चौड़ाई में भी, अपनी रुचि के अनुकूल, परिवर्तन कर लेती हैं। इस छंद का सबसे बड़ा गुण 'प्रवाह' है। स्त्रियाँ इसे गाती हैं, अतएव इसमें कड़े कड़े तत्सम शब्दों का प्रयोग होने से अस्वाभाविकता आ जाती है। इसी दृष्टि से गोस्वामीजी ने इसमें कठिन शब्दों का प्रयोग नहीं किया है। साधारण बोलचाल के शब्दों का आधिक्य है। **उदाहरणार्थ—**

(१) जुवतिन्ह मंगल गाइ राम **अन्हवाइय** हो।
(२) मनिदीप **बराय** बैठि तेहि आसन हो।
(३) बिहँसत आउ लोहारिनि हाथ **बरायन** हो।
(४) अहिरिनि हाथ **दहेंड़ि** सगुन लेइ आवइ हो।
(५) रूपसलोनि तँबोलिनि **बीरा** हाथहि हो।
(६) ······लगाइ सुगंधन **बीरा** हो।
(७) कटि कै छीनि **बरिनिश्राँ**······।
(८) कोसल्या की **जेठि** ···।
(९) भरि गारी **निवछावरि** ···।
(१०) दूलह कै **महतारि**······।

कुछ विद्वानों का मत है कि यह 'नहछू'-वर्णन विवाह के समय का है। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदासजी ने भी, अपने 'गोस्वामी तुलसीदास' नामक ग्रंथ में, इसे विवाह के समय का ही स्वीकार किया है। उक्त ग्रंथ में इसकी आलोचना इस प्रकार है— "रामलला नहछू सोहर छंद के बीस तुकों का छोटा सा ग्रंथ है। भारतवर्ष के पूर्वीय प्रांत में अवध से लेकर बिहार तक बरात के पहले चौक बैठने के समय नाइन के नहछू कराने की रीति प्रचलित है। इस पुस्तिका में वही लीला गाई गई है। इधर का सोहर छंद एक विशेष छंद है जिसे स्त्रियाँ पुत्रोत्सव आदि अवसरों

पर गाती हैं। पंडित रामगुलाम द्विवेदी का मत है कि नहछू चारों भाइयों के जनेऊ के समय का है। संयुक्त प्रदेश, मिथिला आदि प्रांतों में यज्ञोपवीत के समय भी नहछू होता है। रामचंद्र का विवाह अकस्मात् जनकपुर में स्थिर हो गया, इसलिये विवाह में नहछू नहीं हुआ। गोसाईंजी ने इसे वास्तव में विवाह के समय के गंदे नहछुओं के स्थान पर गाने के लिये बनाया है। उनका मतलब राम-विवाह ही से है। कथा-प्रसंग में पूर्वापर संबंध की रक्षा का ध्यान इसी लिये उसमें नहीं किया गया है।"

पंडित रामगुलाम द्विवेदी का यह मत तो ठीक है कि यह नहछू यज्ञोपवीत के समय का है, परंतु चारों भाइयों के लिये है यह ठीक नहीं। यह 'रामलला' का 'नहछू' है। यद्यपि उपवीत-संस्कार सब बालकों का साथ ही-साथ हुआ था तथापि जिस संस्कार ने गोस्वामीजी में कवित्व जागरित किया वह उनके उपास्य देव ही का संस्कार हो सकता है। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदासजी इसे विवाह के समय का नहछू क्यों मानते हैं, इसका उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया। उनका अनुमान है कि गंदे नहछुओं के स्थान में गाने के लिये गोस्वामीजी ने इसे रचा है। संभव है, यह अनुमान ठीक हो। गंदे नहछू उपवीत के समय भी गाए जाते हैं। इसी लिये सर जार्ज ग्रियर्सन महोदय ने भी उसे यज्ञोपवीत के समय का ही माना है।

कोटिन्ह बाजन बाजहिँ दसरथ के गृह हो।
आजु अवधपुर आनँद नहछू राम क हो।

इन दो अवतरणों से यह स्पष्ट है कि रामचंद्रजी का नहछू अयोध्यापुरी में, दशरथजी के महल में, हुआ। विवाह के पूर्व रामचंद्रजी जनकपुर से 'दशरथपुर' आए ही नहीं। अतएव यह प्रसंग घटना-विरुद्ध है, और फिर कौशल्या आदि रानियाँ जनक-

पुर भी नहीं गई जिनकी उपस्थिति इस कथा में वर्णित है। इन बातों से स्पष्ट है कि या तो यह माना जाय कि उक्त नहछू उपवीत के समय का है अथवा यह कि गोस्वामीजी ने इसे संभाव्य काल्पनिक साधारण घटनाओं के आधार पर रचा है। इतिहास की उपेक्षा करके, कोई कवि अथवा कलाकार सत्य का गला नहीं घोटता जब तक उसे काव्य-क्षेत्र में किसी नवीन तथ्य की अभिव्यक्ति न करनी हो। किंतु ऐसी कोई बात नहीं है। आगे हमें इस बात की और समीक्षा कर लेनी है कि इस नहछू को यज्ञोपवीत के नहछू मान लेने में क्या अड़चन हो सकती है। इस संबंध में किसी सज्जन ने 'हिंदुस्तानी' पत्रिका में, अपनी बुद्धि के अनुकूल बहुत कुछ लिखा है। उसका कुछ अंश हम नीचे देते हैं—

"तथ्य यह है कि रामलला नहछू विवाह के अवसर का है और अयोध्या में हुआ। 'रामलला नहछू' में राम के लिये स्पष्ट 'दूलह' तथा 'बर' शब्दों का प्रयोग किया गया है—

गोद लिहे कौसल्या बैठी रामहि बर हो।
सोभित दूलह राम सीस पर आँचर हो॥ ९॥
आनँद हिय न समाइ देखि रामहि बर हो॥ १०॥
दूलह कै महतारि देखि मन हरषइ हो॥ १९॥

इसके अतिरिक्त उक्त ग्रंथ में वर्णित लोकाचार भी विवाह का ही है—

बनि बनि आवति नारि जानि गृह मायन हो॥ ५॥
दरजिनि गोरे गात लिहे कर जोरा हो॥ ६॥
मोचिनि बदन-सकोचिनि हीरा माँगन हो।
पनहि लिहे कर सोभित सुंदर आँगन हो।
बतिया कै सुघरि मलिनिया सुंदर गातहि हो।
कनक रतनमनि मौर लिहे मुसुकातहि हो।

नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो।
रामलला सकुचाहिँ देखि महतारी हो।

"उपर्युक्त उदाहरण से यह नितांत स्पष्ट हो जाता है कि विवाह के पूर्व मायन का दिन है। दरजिन दूलह के लिये जोड़ा (जामा), मोचिन पनही तथा मालिन मौर लाती है। नाउन रनिवास तथा रनिवास राम को गारी देते हैं। जिन्हें वैवाहिक तथा यज्ञोपवीत के लोकाचारों का तनिक भी ज्ञान है, जिसके लिये प्रत्येक पाठक से आशा की जाती है, वे इसके लिये तनिक भी संदेह में नहीं पड़ सकते।"

ऊपर के अवतरण में पहली बात तो यही भ्रमात्मक है कि पदों में दूलह शब्द आया है इसलिये यह नहछू विवाह के ही समय का है। विवाह और यज्ञोपवीत में नहछुओं के गाने में कोई अंतर नहीं होता। एक ही गाने दोनों अवसरों पर गाए जाते हैं। 'दूलह', 'बर', 'बनरा' ये शब्द बराबर आते हैं। इनके आने से यज्ञोपवीत के नहछू में कोई व्याघात नहीं होता। बैसवाड़े के आसपास के सब लोग यह जानते हैं कि यज्ञोपवीत और विवाह दोनों के पूर्व मातृ-पूजन होता है। उसके भी कुछ दिन पूर्व एक दिन ऐसा होता है जिस दिन गीत निकलता है, अर्थात् कुछ गानेवाली महिलाएँ एकत्र होकर मंगल गीत गाती हैं। उस दिन से विवाह अथवा यज्ञोपवीत के दिन तक निरंतर महिलाएँ एकत्र होकर शाम को गाती हैं। इनके गानों में 'बनरे' अवश्य होते हैं। 'बनरे' का अर्थ भी 'दूलह' और 'वर' ही होता है, कम से कम उनका प्रयोग इसी अर्थ में है। ये बनरे विवाह और यज्ञोपवीत दोनों उत्सवों में समान रूप से गाए जाते हैं। 'बनरा' के आ जाने से इन्हें यज्ञोपवीत के उत्सव से बहिष्कृत नहीं किया जा सकता।

अवतरण की दूसरी बात तो बड़ी ही उपहासास्पद है। लेखक महोदय को उपवीत के संस्कारों का तनिक भी ज्ञान नहीं है। मायन यज्ञोपवीत के पूर्व भी होता है। वही मातृ-पूजन है। उपवीत के समय भी दरजिन जामा, मोचिन पनही और मालिन मौर लाती हैं।

पूर्वोक्त अवतरण में यह भी लिखा है कि 'नाउन रनिवास तथा रनिवास राम को गारी देते हैं'। हमें तो यह मालूम होता है कि लेखक महोदय छंद का अर्थ ही नहीं समझ पाए। अंतिम छंद में भी 'गाबइ' क्रिया का कर्ता उससे पहले के चरण का 'नउनियाँ' शब्द ही है।

यह नहछू उपवीत के ही समय का है, इस विषय में एक और प्रमाण देकर यह प्रसंग समाप्त किया जायगा। जानकी-मंगल के अंतिम छंद की दो पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं—

उपवीत ब्याह उछाह जे सिय राम मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नरनारि अनुदिनु पावहीं॥

अर्थात् गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं कि जो स्त्री-पुरुष उपवीत के उत्सव और सीता-राम के विवाह के उत्सव का मंगल गाते हैं वे प्रतिदिन कल्याण लाभ करते हैं।

जानकी-मंगल की रचना करके विवाहोत्सव के मंगल-गान की व्यवस्था तो गोस्वामीजी ने कर दी। 'रामलला नहछू' द्वारा उपवीत-उत्सव-गान की व्यवस्था कवि को इष्ट अवश्य रही होगी। अन्यथा उपवीत-गान के लिये गोस्वामीजी-रचित कोई दूसरा ग्रंथ होना चाहिए था। 'नहछू' में उपवीत की रस्मों का अच्छा दिग्दर्शन है।

'रामलला नहछू' श्रीरामचंद्रजी के यज्ञोपवीतोत्सव के पहले होनेवाले नहछू के उत्सव को लक्ष्य करके ही लिखा गया है। बैसवाड़ी बोली में नहछू को नाखुर भी कहते हैं। इसमें बालक के हाथ-पैर के नाखून काटे जाने की क्रिया होती है। कुछ

लोग नहछू से केवल हल्दी द्वारा हाथ-पैर के नाखूनों का स्पर्श कराने का अभिप्राय लेते हैं। यह भी एक रस्म होती है। परंतु यहाँ तो नाइन के नहरनी तक का वर्णन दिया है, अतएव नाखुर से ही अभिप्राय है—

'कनक-चुनिन सों लसित नहरनी लिए कर हो'। (छंद १०)

यह क्रिया बड़े उत्साह और समारोह के साथ संपन्न होती है। माता बालक को स्नान कराकर अपनी गोद में बैठाती है और नाइन उसके नाखून काटती है। इस उपलक्ष्य में उसे बहुत सा 'नेग' भी मिलता है। माता-पिता, अपने योग्यतानुसार, दान करते हैं। इसी उत्सव का वर्णन इस स्थान पर है।

'लला' व्रजभाषा का वात्सल्य-भाव-द्योतक शब्द है। इसका अब भी खूब प्रयोग होता है। शिशु राम के संबंध में इस शब्द का प्रयोग अत्यंत सुंदर है। इससे शिशुता का चित्र सामने आ जाता है। संभव है, गोस्वामीजी ने इस शब्द का प्रयोग 'कृष्ण-लला' के अनुसार किया हो। कृष्ण व्रजवासी थे और राम अवध-वासी। कृष्णवाचक शब्द राम के साथ संयोजित किया गया है। यह ग्रंथ भी ठेठ अवधी में है।

कविता के संबंध में गोस्वामीजी का यह सिद्धांत था कि वे उसे किसी मनुष्य के कीर्ति-गान का साधन बनाना पसंद नहीं करते थे। उनके लिये यह बड़ा भारी पाप था—'कीन्हें प्राकृत नर गुन-गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना'। भारतवर्ष की प्राचीन प्रथा थी कि कवि लोग अपनी कृतियों द्वारा अपने आश्रयदाताओं की कीर्ति का प्रचार करते थे। हिंदी के चंद और केशव इसी कोटि के कवि थे। परंतु तुलसीदासजी ने कविता का एक दूसरा ही मार्ग प्रदर्शित किया। उनकी धारणा थी कि रामचंद्र के गुण-गान से उन्हें मुक्ति मिल जायगी। मानव-गुण-गान से यह

काम नहीं हो सकता। वास्तव में गोस्वामी तुलसीदासजी का यह सिद्धांत भारतीय कविता के आदिम सिद्धांत के बहुत कुछ अनुकूल है। कविता का भारतीय आदर्श है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति।

पूर्वोक्त धारणा से तुलसीदासजी राम-चरित-वर्णन के लिये अग्रसर हुए। उनके अनुसार रामचंद्रजी का प्रत्येक चरित, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, मुक्ति का साधन बनाया जा सकता है। इसी धारणा ने उन्हें रामलला नहछू लिखने को प्रेरित किया। गोस्वामीजी अंत में लिखते हैं—

रामलला कर नहछू अति सुख गाइय हो।
जेहि गाए सिधि होइ परम निधि पाइय हो॥
जे यह नहछू गावैं गाइ सुनावँ हो।
ऋद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति नर पावइँ हो॥

इसी कारण तुलसीदासजी क्षण क्षण अपने पाठकों को स्मरण दिलाते हैं कि उनके राम भगवान् हैं। रामचरितमानस तथा उनके अन्य बृहद् ग्रंथों में बार बार इसकी आवृत्ति हुई है। राम-चरित-मानस एक प्रबंध-काव्य है। उसमें इस प्रकार के विषयांतर यद्यपि कथा-प्रवाह को कभी कभी थोड़ा मंद कर देते हैं, तथापि इसकी परवाह न करके गोस्वामीजी ने समय समय पर पाठकों को यह बतलाया है कि रामचंद्रजी भगवान् के अवतार हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी नचानेवाले हैं। यह उनकी असीम भक्ति का परिणाम था। उन्हें यह आशंका हो जाती थी कि "नर-तन-धारी" राम के मानवोचित कार्य कहीं पाठकों को भ्रांति में न डाल दें जिसके फल-स्वरूप वे उनके देवत्व को भूल जायँ।

रामलला नहछू में इस प्रकार के विषयांतर नहीं हैं; क्योंकि वह छोटा सा ग्रंथ है। परंतु तो भी एक स्थान पर गोस्वामीजी

से न रहा गया और, पाद-प्रक्षालन-क्रिया को देखकर, इन्होंने कह ही डाला—

जो पगु नाउनि धोवइ राम धोवावइँ हो।
सो पगधूरि सिद्ध मुनि दरसन पावइ हो॥

अब यह समीक्षा करनी है कि गोस्वामीजी का यह छोटा सा ग्रंथ किस कोटि का है।

वास्तव में श्रव्य-काव्य के यही तीन विभाग हो सकते हैं—महाकाव्य, खंड-काव्य और मुक्तक-काव्य। महाकाव्य* तथा खंड-काव्य का प्रबंध-काव्य होना अनिवार्य है। परंतु मुक्तक-काव्य में केवल स्फुट छंद होते हैं जिनमें परस्पर कोई संबंध नहीं होता। रामलला नहछू महाकाव्य नहीं, और इसके खंड-काव्य होने में भी संदेह है। खंड-काव्य में नायक के किसी कार्य-विशेष का विशद वर्णन होता है, जो इसमें नहीं है। परंतु, खंड-काव्य की विशदता न होने पर भी, इसमें उसका आभास अवश्य है। यदि विशदता तथा अनेकीयता की ओर ध्यान न दिया जाय

---

* दंडी ने महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार दिया है—

"सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणम्।
आशीर्नमस्क्रिया वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखम्॥
इतिहासकथोद्भूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायत्तं चतुरोदात्तनायकम्॥
नगरार्णवशैलर्तुचन्द्रार्कोदयवर्णनैः।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोत्सवैः॥
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मंत्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि॥
अलङ्कृतमसंक्षि रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभिः॥
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तै(भिन्नसर्गान्तै ?)रुपेतलोकरञ्जनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायेत सदलङ्कृति।"—काव्यादर्श।

तो यह खंड-काव्यों में अवश्य परिगणित हो सकता है। इसके छंद स्फुट नहीं हैं। उनमें तारतम्य और क्रम है; प्रबंध का आभास है। अतएव यह मुक्तक काव्य भी नहीं है। अस्तु, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह केवल खंड-काव्य के ही निकट पहुँच सकता है। यदि साहित्य-सेवी इसे "उप-खंडकाव्य" कहे जाने में आपत्ति न करें, तो यह नाम इसकी विभूति को यथेष्ट प्रकाशित करता है।

प्रबंध-काव्य लिखना कोई सरल बात नहीं। कविता करने के लिये विद्वानों ने शैली के अतिरिक्त तीन अन्य गुणों की उपस्थिति मानी है। वे हैं राग-तत्त्व, कल्पना-तत्त्व और बुद्धि-तत्त्व।

राग-तत्त्व सुख-दुःख की अनुभूति से उत्पन्न होता है। कोई कवि सुख-दुःख का जितना अनुभव किए होगा, उतना ही वह अधिक भावुक होगा।

परंतु हमारे अनुभव प्रतिच्छन्न रूप में मस्तिष्क पर पड़ते हैं। वे मनःपटल पर संगृहीत होते जाते हैं। अनुभव मूर्त वस्तुओं से उत्पन्न होते हैं परंतु पटल पर वे केवल अवच्छन्न रूप में प्रतिबिंबित होते हैं, मूर्त आधार बाहर ही रह जाता है। अतएव अनुभवकर्ता जब उन्हें फिर बाहर व्यक्त करने की चेष्टा करता है तब उसे, अपनी ओर से, उन्हें मूर्त आधार देना पड़ता है। उसी मूर्त आधार के परिधान को धारण करके भाव और अनुभूतियाँ ऐन्द्रिय जगत् में बाहर निकलकर दूसरों तक पहुँचती हैं। इसी परिधान को, जो दूसरी बार दिया जाता है, 'कल्पना' संज्ञा है। अथवा यों कहिए कि कल्पना-तत्त्व के ही आधार पर यह मूर्त परिधान निर्मित होता है। "समता" इसकी नींव है। उसी पर कल्पना अपना प्रासाद खड़ा करती है। कल्पना-तत्त्व की महत्ता और लघुता कवि की प्रतिबिंबित शक्ति और मेधा पर निर्भर है। प्रतिबिंब-पट पर मूर्त

पदार्थ के प्रतिबिंबन को 'मेधा' कहाँ तक स्मरण करती है, उसी पर इसका महत्त्व स्थापित है। मेधा-शक्ति के द्रुतवान् वेग को ही कवि की सूझ कहते हैं। बुद्धि-तत्त्व भावों की क्यारियों की 'कलम' करता है और कल्पना के परिधान को 'फिट' करता है। इस प्रकार बुद्धि-तत्त्व माली और दर्जी दोनों का काम करता है। कवि माली के सदृश है। वह काव्य-कानन से पादप-रूपी भाव एकत्र करता है। फिर सुंदर सुंदर पादपों का चयन करके अन्य पादपों को अस्वीकृत कर देता है तथा कल्पना-रूपी कलम से काट-छाँटकर उन्हें सजाने योग्य बनाता है। तत्पश्चात् बुद्धि-रूपी उपवन-कला के सहारे उन्हें काव्य-कानन की क्यारियों में, कतार के साथ, लगाता है। तात्पर्य यह है कि काव्य में प्रबंध-भाग इसी बुद्धि पर आश्रित रहता है। इस विषय में अन्यत्र विशद समीक्षा की गई है।

बुद्धि-तत्त्व की प्रचुर मात्रा केवल अध्ययन से ही प्राप्त होती है। अनुभूति भाव उत्पन्न करती है। प्रतिभा से कल्पना प्राप्त होती है और अध्ययन से बुद्धि। तुलसीदासजी विद्वान् थे। अनुभव भी उनमें था। प्रतिभा भी उनकी अलौकिक थी। इसी से वे अत्यंत सफल कवि हुए हैं। सूर में तुलसी की अपेक्षा शिक्षा की कमी थी, अतः वे प्रबंध-काव्य न लिख सके। केशव में अनुभूति की कमी थी, अतएव उनके काव्य में हृदय का अभाव है।

रामलला नहछू की समीक्षा करने से पता चलता है कि यह तुलसीदासजी का सर्वप्रथम ग्रंथ है। प्रसिद्ध आलोचक डाउडन के अनुसार किसी भी कवि की पूर्व कृति में भाषा का आडंबर और अलंकार-प्रियता अधिक रहती है। मध्य युग की कृति में भाषा और भावों का सामंजस्य रहता है। अंतिम युग की कृति में भावों की तो प्रधानता रहती है पर भाषा की उपेक्षा।

"रामलला नहछू" में भाषा की ओर बहुत ध्यान दिया गया है। भावों की गहनता का उसमें अभाव है। भाषा फुदकती हुई चलती है। मिल्टन के 'लेलेग्रो' और 'इल्पेंसरोसो' की भाँति इसकी भाषा में नर्तकी के पाद-विक्षेप का सा वेग है। प्रत्येक पंक्ति से यौवनोचित विनोद और प्रकाश छलकता है। कवि के प्रौढ़ काल में उसके विचारों और भावों में जो प्रौढ़ता (मेथ्यु आरनल्ड के शब्दों में "उच्चता और गंभीरता") आ जाती है वह इस ग्रंथ में कहीं नहीं दीख पड़ती। प्रत्येक छंद युवावस्था की उमंग में मुस्कराता हुआ दिखाई पड़ता है। प्रवाह का प्रस्रोत अनवरुद्ध है। कविता-सरिता स्वयंनिर्मित कँकरीले मार्ग से होकर नहीं बहती, वरन् वह एक नहर की भाँति दीखती है जिसके दोनों ओर पक्के घाट हैं, जिसकी सतह सम है और जो मंद मंद प्रवाहित हो रही है।

"रामलला नहछू" तुलसीदासजी का आदि-ग्रंथ है, इसके प्रमाण-स्वरूप एक बात और है। वे केवल इस भाव में शृंगारिक कवि कहे जा सकते हैं कि उन्होंने भक्ति-भाव को चरम सीमा तक पहुँचा दिया। उनकी शृंगार-वर्णन-शक्ति किसी प्राकृतिक दृश्य के वर्णन में व्यय की जा सकती थी, स्त्रियों के अंग-प्रत्यंग के निरूपण में नहीं। बिहारी की भाँति कामुक मनोवृत्तियों के प्रदर्शन में पांडित्य दिखाना उन्हें अभीष्ट न था।

तुलसीदासजी ने जहाँ कहीं सीताजी का अथवा अन्य किसी भी राज-महिला की सुंदरता का वर्णन किया है, वहाँ बड़े ही सुंदर ढंग से, लोक-मर्यादा और शिष्टता की रक्षा करते हुए, किया है। उनके वर्णनों में किसी प्रकार की कामुक दुर्गंध नहीं आती। उनका अंग-प्रत्यंग-वर्णन भी निम्न मनोविकारों का उत्पादक नहीं होता। सूरदासजी के राधा के वर्णन और गोस्वामीजी के सीता के वर्णन में आकाश-पाताल का अंतर है। इसका एक कारण यह भी

है कि सूर के उपास्य देव उनके सखा थे। राधा उनके मित्र की प्रेयसी थीं। तुलसी के उपास्य देव उनके स्वामी थे। सीता उनकी स्वामिनी थीं। उनकी ओर नेत्र उठाकर भी वे नहीं देख सकते थे। फिर इन दोनों कवियों के वर्णनों में समता कैसे हो सकती है। कहने का अभिप्राय यह है कि "रामलला नहछू" में शृंगारिक ढंग का वर्णन इस प्रकार का है जैसा तुलसीदासजी ने अन्यत्र कहीं नहीं किया। उदाहरण लीजिए—

बनि बनि आवति नारि जानि गृह मायन हो।
बिहँसत आउ लोहारिनि हाथ बरायन हो॥
अहिरिनि हाथ दहेँड़ि सगुन लेइ आवइ हो।
उनरत जोबनु देखि नृपति मन भावइ हो॥
रूपसलोनि तँबोलिनि बीरा हाथहि हो।
जाकी ओर बिलोकहि मन तेहि साथहि हो॥
दरजिनि गोरे गात लिहे कर जोरा हो।
केसरि परम लगाइ सुगंधन बोरा हो॥
मोचिनि बदन-सकोचिनि हीरा माँगन हो।
पनहि लिहे कर सोभित सुंदर आँगन हो॥
बतिया कै सुघरि मलिनिया सुंदर गातहि हो।
कनक रतनमनि मौर लिहे मुसुकातहि हो॥
कटि कै छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो।
चंद्रबदनि मृगलोचनि सब रसखानिहि हो॥
नैन बिसाल नउनियाँ भौं चमकावइ हो।
देइ गारी रनिवासहि प्रमुदित गावइ हो॥

इन पंक्तियों से स्वयं कवि की बढ़ती हुई उमंग का पता चलता है। वह स्वयं इस प्रकार का आनंद ही आनंद देखता है। महिलाओं का उस पर भारी प्रभाव पड़ता है। मालूम होता है कि

कवि यौवन-सुलभ स्त्री-सौंदर्य-अनुरक्ति से आक्रांत है। इसके अतिरिक्त ध्यान से पढ़ने से यह भी प्रतीत होता है कि 'रामलला नहछू' में गोस्वामीजी ने बहुत ही परिमित कोष से काम लिया है। इससे यह पता भी नहीं चलता कि उन्होंने शास्त्र इत्यादि पढ़े थे। उनके किसी नैतिक, दार्शनिक और धार्मिक विचार का भी पता नहीं चलता। संभव है कि इस ग्रंथ को उन्होंने ऐसे समय में लिखा हो जब वे उतने निष्णात विद्वान् न रहे हों जितने विनय-पत्रिका अथवा रामचरितमानस की रचना करने के समय थे। साधारण बोलचाल के शब्द इसमें बहुत हैं। परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि उनकी कविता में किसी प्रकार की कमी है अथवा यह ग्रंथ उनके नौसिखिएपन का द्योतक है। सच तो यह है कि आरंभ से ही उन्हें कविता करना खूब आता था।

इस ग्रंथ के पढ़ने से एक बात जो और ज्ञात होती है वह यह है कि उस समय अछूतों की स्थिति अच्छी थी। वे धन-धान्य से परिपूर्ण थे। मोचिन को आँगन तक पहुँचने की आज्ञा थी, यद्यपि वह किसी को छू नहीं सकती थी (नहीं तो "बदन-सकोचिनि" शब्द का प्रयोग न किया जाता)। परंतु नाइन आदि का महारानी के साथ समता का सा व्यवहार था। उनसे वे हँसी की बातें कह सकती थीं। इन निम्न जाति की महिलाओं में भी सुंदरता इतनी थी कि "देखि नृपति मन भावइ हो"। इससे यह स्पष्ट है कि इनकी स्थिति अच्छी थी।

मिश्र-बंधुओं का कहना है कि "तुलसीदासजी साधारण स्त्रियों के ही संपर्क में आते रहे। उन्हें उच्च कोटि की महिलाओं का संपर्क प्राप्त नहीं हुआ। यही कारण है कि उन्होंने स्त्रियों की बुराइयाँ स्थल स्थल पर की हैं"। परंतु रामलला नहछू पढ़ने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका संपर्क सब प्रकार की महिलाओं

से रहा है। उनका ज्ञान बहुत ही विस्तृत था। गोस्वामीजी ने सेविकाओं का इतना सुंदर चित्र खींचा है कि कोई यह नहीं कह सकता कि उन्हें उनका ज्ञान न था। साथ ही साथ यह भी जान लेना चाहिए कि वे चाहे जैसे साधु क्यों न रहे हों, उन्हें सभी रस्म-रिवाजों का पूर्ण ज्ञान था। प्रत्येक दासी के कार्य की चर्चा उन्होंने जिस सुंदरता के साथ की है वह अनोखी है। इस पंक्ति में मनोविज्ञान का कितना सुंदर अध्ययन मिलता है—

"गावहिँ सब रनिवास देहिँ प्रभु गारी हो।
रामलला सकुचाहिँ देखि महतारी हो॥"

हास्य की कैसी अनूठी उक्ति है—

"काहे रामजिउ साँवर लछिमन गोर हो।
की दहुँ रानि कौसिलहि परिगा भोर हो॥
राम अहहिँ दसरथ कै लछिमन आन क हो।
भरत सत्रुहन भाइ तौ श्रीरघुनाथ क हो॥"

इस प्रकार का उपहास करने का अधिकार नाइन को भी था। सामाजिक समता का यह कितना अच्छा उदाहरण है। महाकवि तुलसीदासजी की भी मनोवृत्ति श्लाघ्य है। राम दशरथ के पुत्र नहीं हैं ऐसी कल्पना, विनोद के लिये भी, वे नहीं ला सकते। अतएव लक्ष्मण के लिये 'आन क' कहकर उन्होंने राम की मर्यादा की रक्षा की है।

गोस्वामी तुलसीदासजी प्रत्येक ग्रंथ का आरंभ मंगलाचरण से करते हैं। यह ग्रंथ गणेश और शारदा का स्मरण करके आरंभ किया गया है। रामचरितमानस भी बुद्धि के अधिष्ठाता गणेश की वंदना से आरंभ हुआ है। यद्यपि राम के प्रति गोस्वामीजी की भक्ति अधिक थी परंतु उनके यज्ञोपवीत में उन्हीं की वंदना ठीक न थी। ग्रंथ की अंतिम पंक्ति में 'रिद्धि' शब्द आया है। रामचरितमानस में जहाँ यह शब्द आया है वहाँ 'रिद्ध' लिखा है, परंतु काशी-नागरी-

प्रचारिणी सभा की तुलसी-ग्रंथावली में यही उपर्युक्त ढंग से लिखा हुआ है।

गोस्वामीजी कवि-परंपरागत रूढ़ियों को माननेवाले हैं। उनके ग्रंथों में वे प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। उर्दू-हिंदी शब्दों का समास भी वे बहुधा कर दिया करते हैं। इसी ग्रंथ में, एक स्थान पर, उन्होंने 'सुमाँज' शब्द लिखा है।

लोहारिन को "बरायन" लाते हुए लिखा है। इस स्थान पर "बरायन" से अभिप्राय 'कंकन' से है।

'रामलला नहछू' के रचना-काल के संबंध में संक्षिप्त मूल-चरित में निम्नलिखित छंद हैं—

× × × × × ×

मिथिला में रचना किए, नहछू मंगल दोइ।

संक्षिप्त मूल-चरित के ही अनुसार गोस्वामीजी का मिथिलागमन इस प्रकार है—

"पुनि संगम भाजि चले सपदी, नियराए विदेहपुरी छपदी।
धरि बालिका-रूप विदेह-लली, वह राम कै खीर खवाय चली॥
मिथिला ते काशी गए, चालिस संवत लाग।
दोहावली संग्रह लिए, सहित विमल अनुराग॥"

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि 'रामलला नहछू', 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' संवत् १६४० के पूर्व लिखे गए, क्योंकि गोस्वामीजी मिथिलापुरी इसी संवत् १६४० के पूर्व ही गए थे। रामचरितमानस का रचना-काल संवत् १६३१ से १६३३ तक है। यह समय रामचरितमानस और मूल गोस्वामी-चरित में दिया है। रामलला नहछू, पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल, बरवै रामायण तथा कवितावली के रचना-काल के संवतों में अस्पष्टता

अवश्य है। इनके रचना-काल के संवत् नहीं लिखे हैं। बाबा वेणीमाधवदास ने इस विचार से कि 'जानकी-मंगल' में जानकी के विवाह तथा 'पार्वती-मंगल' में उसी प्रकार के विवाह की प्रधान चर्चा है, अतएव यह स्वाभाविक है कि इन विषयों का स्फुरण कवि में विदेहपुरी में हुआ हो इसकी रचना विदेहपुरी में मानी है। रामलला नहछू को वैवाहिक संस्कार के पूर्व का नहछू-संस्कार मानकर लोग उसे मिथिलापुरी में रचित ग्रंथ शीघ्रता से मान लेते हैं। यह भी संभव है कि तुलसीदासजी ने दोनों मंगल, नहछू और बरवै रामायण को उस समय लिखा हो जब उनका और बाबा वेणीमाधवदास का संपर्क ही न हुआ हो; और इन ग्रंथों के रचना-काल के विषय में अनभिज्ञ होने के कारण बाबा वेणीमाधवदास ने इनका रचना-काल—जो हम मूल गोस्वामी-चरित में देखते हैं—अपनी कल्पना से निश्चित किया हो। यह नहछू-संस्कार विवाह के पूर्व का नहछू-संस्कार नहीं कहा जा सकता, इसके प्रमाण पहले दिए जा चुके हैं। निश्चय है कि यह नहछू यज्ञोपवीत के पूर्व का नहछू-संस्कार है। केवल इस कारण से कि सेविकाएँ कौशल्या से विनोदपूर्ण संभाषण करती हैं यह नहीं कहा जा सकता कि ये सेविकाएँ जनकपुर की हैं। कौशल्या विवाह के समय जनकपुर गई थीं ऐसा कहीं प्रमाण ही नहीं मिलता।

इस विवाद का सारांश यह है कि 'रामलला नहछू' तुलसीदासजी की आदिम रचना है। भाषा का पर्यवेक्षण करने पर भी 'रामलला नहछू' प्राचीनतम ग्रंथ ठहरता है। इसकी भाषा ठेठ अवधी है, और वह भी ग्रामीण। रामलला नहछू में आए हुए बहुत से अवधी शब्द मलिक मुहम्मद जायसी द्वारा प्रयुक्त अवधी के शब्दों से मिलते-जुलते हैं। रामचरितमानस की अपेक्षा रामलला

नहछू और पद्मावत की भाषा में अधिक समता है। गोस्वामीजी का निवास-स्थान भी ऐसे स्थल पर था जहाँ ठेठ अवधी बोली जाती थी और उन्हें अवधी में कविता करने का बहुत अभ्यास था। अतएव यह स्वाभाविक है कि पहले-पहल उन्हें अवधी भाषा में ही काव्य-रचना का सौकर्य प्राप्त हुआ होगा; और उसमें भी पहले ग्रामीण और पूर्वी अवधी में ग्रंथ मिलना नितांत युक्ति-संगत है। अंत में उन्होंने दोनों भाषाओं पर समान अधिकार प्राप्त कर लिया था, परन्तु आरंभ में वे अधिकतर अवधी का ही प्रयोग करते थे।

रामलला नहछू के विषय में पं० रामचंद्र शुक्ल तुलसी-ग्रंथावली में लिखते हैं—"यह छोटा सा ग्रंथ बीस तुकों का सोहर छंद में है। भारतवर्ष के पूर्वी प्रांत में अवध से लेकर बिहार तक बरात के पहले चौक बैठने के समय नाइन के नहछू कराने की रीति बहुत प्रचलित है। इस ग्रंथ में वही लीला गाई गई है। इधर का सोहर एक विशेष छंद है जो स्त्रियाँ पुत्रोत्सव आदि आनंदोत्सवों पर गाती हैं। इसे कहीं कहीं सोहला भी कहते हैं। यह पुस्तक उसी छंद में है और बोली भी उसकी पूर्वी अवधी ही है, जैसे—

'जे यह नहछू गावइँ, गाइ सुनावइँ हो।
ऋद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति नर पावइँ हो॥'

"बारात के पहले मंडप में वर की माँ वर को नहला-धुलाकर गोद में लेकर बैठाती है और नाइन पैर के नखों को महावर के रंग से चीतती है। इसी रीति का नाम नहछू है।"

विद्वद्वर शुक्लजी ने रामलला नहछू के रचना-काल का कहीं जिक्र तक नहीं किया है, अतएव रचना-काल निर्धारित करने की दृष्टि से उपर्युक्त सम्मति हमारे अधिक मूल्य की नहीं। पहले लिखा जा चुका है कि यह संस्कार विवाह के समय में नहीं वरन् यज्ञो-

पवीत के समय में हुआ है इस विषय में पं० रामगुलाम द्विवेदी की उक्ति हमें अधिक युक्ति-संगत प्रतीत होती है।

इस नहछू में कौशल्या आदि की हास्य-लीला लिखी हुई है यह बात हमें न भूलनी चाहिए।

मिश्र-बंधु अपने हिंदी-नवरत्न में लिखते हैं—"रामलला नहछू में यद्यपि जनकपुर का वर्णन है तथापि उसमें नाइन, भाटिन इत्यादि के यौवन का ऐसा शृंगारपूर्ण वर्णन है कि यह गोस्वामीजी की रचना नहीं हो सकती। फिर इसमें इतिहास की मात्रा बहुत बढ़ी हुई है। लक्ष्मण के विषय में यहाँ तक लिख डाला गया है कि वे दशरथ के पुत्र नहीं हैं। इसके कल्पित होने में कोई संदेह नहीं हो सकता।"

मिश्र-बंधुओं की सम्मति से आजकल कोई भी सहमत न होगा। पहली बात तो यह है कि रामलला नहछू में जनकपुर का वर्णन ही नहीं है। जनकपुर में, अनुशासन देने के लिए, 'कौसल्या की जेठि' कहाँ थी? 'जेठि' से केवल जेठानी का ही अर्थ नहीं है वरन् बड़ी पुरखिन के स्थान में रस्म अदा करनेवाली वृद्धा महिला से है। रहा शृंगारिक वर्णन, सो वास्तव में अनोखा है, परंतु वह कवि की बढ़ती हुई अवस्था का एक उफान है। जब मिश्र-बंधुओं ने इस पुस्तक को तुलसी-कृत माना ही नहीं तब इसका रचना-काल जानने का वे क्यों प्रयास करते? यही हाल ग्रियर्सन साहब का है।

ग्रियर्सन साहब ने रामलला नहछू के संबंध में लिखा है—"इस ग्रंथ के असली होने में संदेह है। इस छोटे काव्य में रामचंद्र के, उपनयन-संस्कार के समय, नख काटे जाने का वर्णन है। यह ग्रामीण रीति अभी तक ऐसे अवसरों पर अवध तथा बिहार में विवाह के समय होती है। पूरा काव्य ग्रामीण शैली तथा छंद में है।"

रामलला नहछू का रचना-काल स्थिर करने में ऊपर की किसी आलोचना से सहायता नहीं मिलती। मेरी सम्मति में इसका रचना-काल संवत् १६१६ के लगभग होना चाहिए। यह पुस्तक राम-गीतावली और कृष्ण-गीतावली से भी पहले लिखी गई। इन ग्रंथों का रचना-काल संवत् १६२० कहा जाता है। भाषा और भाव, दोनों की दृष्टि से ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ सर्वप्रथम रचा गया है। बाबा वेणीमाधवदास को इसकी रचना-तिथि निश्चित रूप से ज्ञात न होने के कारण उन्होंने इसका वर्णन सं० १६६९ की घटनाओं के साथ कर दिया है। रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास ने खींच-तानकर इसे सं० १६४० के आसपास रखा है। इस संवत् की चर्चा पहले की जा चुकी है। मिथिलापुर की पहली यात्रा लगभग इसी समय हुई है। गोस्वामीजी के इस ग्रंथ की रचना-तिथि को घसीटकर आगे ले जाना मानों उन जर्जर, वृद्ध महात्मा को शृंगार-पंक में ढकेलना है।

यह ग्रंथ गोस्वामीजी-कृत ही है। कदाचित् मिश्र-बंधुओं को छोड़कर सभी विद्वान् इस बात को मानते हैं। पं० रामचंद्र शुक्ल, रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास और पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' आदि विद्वानों ने अपने इतिहास में इस ग्रंथ को गोस्वामीजी-रचित ही माना है। ग्रंथ की बाह्य और आभ्यंतर समीक्षा करने से भी यही विदित होता है। जो साधारण दोष आ गए हैं वे आरंभिक हैं और इने-गिने हैं। दशरथ का चरित्र चंचल नायक के रूप में नहीं है, जैसा कि कुछ लोगों ने संदेह किया है, वरन् एक सौंदर्य-प्रिय राजा के रूप में है। वास्तव में यह ग्रंथ इतना विशद नहीं है जिससे भक्ति का सम्यक् स्फुरण हो सके। वैसे यह ग्रंथ अपने ढँग का पूर्ण और समूचा है।

बरवै रामायण

तुलसीदासजी का बरवै रामायण एक छोटा सा प्रबंध-काव्य है। बरवै छंद हिंदी का बड़ा ललित और सुंदर छंद है। इसमें ३८ मात्राएँ होती हैं। भावों की दृष्टि से कवियों ने इस छंद में यथेष्ट व्यापकता पाई है। इधर कुछ दिनों से कुछ फुटकरिये कवि भी इस छंद का प्रयोग करते हैं, परंतु खड़ी बोली की कविता के लिये यह बिलकुल अनुपयुक्त है। कविवर रहीम और गोस्वामी तुलसीदासजी ने हिंदी-कविता में इस छंद का बड़ी योग्यता के साथ प्रयोग किया है। अवधी भाषा को इस छंद से बहुत गौरव प्राप्त हुआ है; या यों कहिए कि पूर्वी अवधी का यह अत्यंत सुलभ छंद है। दोनों कवियों ने अपनी रचनाएँ पूर्वी अवधी भाषा में लिखी हैं। कुछ कवियों ने बरवै को व्रजभाषा में भी प्रयुक्त किया है, परंतु उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। (पं० रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में) अवधी भाषा जिस सौष्ठव के साथ बरवै रामायण में ढली है वैसी और किसी छंद में नहीं ढल सकी। अवधी भाषा का नवीन स्वरूप भी इसमें उतनी सुगमता से बद्ध नहीं किया जा सकता, जैसा प्राचीन ग्रामीण स्वरूप।

बरवै रामायण पर कोई भी सुंदर आलोचनात्मक लेख हमारे दृष्टिगत नहीं हुआ। हाँ, पं० कृष्णविहारी मिश्र बी० ए०, एल्-एल० बी० का एक लेख अवश्य सुंदर है। यह तुलसी-ग्रंथावली के तृतीय भाग का अंतिम लेख है। इसमें इस छोटे से काव्य की अच्छी समीक्षा की गई है। इस आलोचना को प्रस्तुत करने में यथास्थान उसका उपयोग किया जायगा।

श्रद्धेय मिश्र-बंधुओं ने अपने 'हिंदी-नवरत्न' में बरवै रामायण के संबंध में इस प्रकार लिखा है—"बरवै रामायण में चार पृष्ठ और ६९ छंद हैं। सीता का शृंगाररसमय वर्णन विशेष रूप से किया गया है; पर उसके पीछे, तुलसीदास की आदत के माफिक, जगज्जननी इत्यादि विशेषणों से उसका दोष शांत नहीं किया गया। अयोध्याकांड में भरत का और उत्तरकांड में भक्ति का वर्णन नहीं है। अतः यह रचना भी उनकी नहीं जान पड़ती।"

ऊपर की धारणा से हम सहमत नहीं। बरवै रामायण तुलसी-कृत नहीं इसके जो कारण विज्ञ लेखकों ने दिए हैं वे ये हैं—(१) सीता का वर्णन शृंगाररस में किया जाना। (२) तुलसीदास की आदत के माफिक जगज्जननी इत्यादि विशेषणों से उसका दोष शांत न किया जाना। (३) अयोध्याकांड में भरत का वर्णन न किया जाना। (४) उत्तरकांड में भक्ति का वर्णन न किया जाना। इन कारणों का क्रमशः विश्लेषण करके हम देखेंगे कि उनमें कहाँ तक सार है।

(१) सीताजी का जो रस-मय वर्णन किया गया है वह इस प्रकार है—

केस-मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥ १ ॥
सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग, सखि! कोमल, कनक कठोर ॥ २ ॥
सिय मुख सरदकमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि-दिन यह बिगसाइ ॥ ३ ॥
बड़ नयन, कटि, भ्रुकुटी, भाल बिसाल।
तुलसी मोहत मनहि मनोहर बाल ॥ ४ ॥

चंपक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ॥ ५॥
सिय तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत॥ ६॥

ऊपर जो अवतरण दिए गए हैं, उन्हें देखकर कोई यह नहीं कह सकता कि वे तुलसीदासजी के, शृंगारिक कविता के, सिद्धांतों के प्रतिकूल हैं। यह ग्रंथ, मेरे विचार में, तुलसीदासजी ने 'रामलला नहछू' के अनंतर अथवा उसके लेखन-समय के आसपास ही लिखा है। अतएव यह भी कवि की पूर्वकालिक कृतियों में से है। इस कृति में भी कवि की अलंकार-प्रियता दर्शित होती है। जिस युग में केशवदासजी अलंकार-प्रदर्शन के ही लिये ग्रंथों का निर्माण कर सकते थे, जिस काल में बिहारी इच्छानुसार तोड़-मरोड़कर शब्दों का प्रयोग कर सकते थे*। उस काल में तुलसीदासजी का—अपने कविता-काल के आदि-युग में—अलंकार-प्रदर्शन की दृष्टि से बरवै रामायण जैसा काव्य रच डालना कोई पाप नहीं है। कहने का अभिप्राय यह कि ऊपर दिए हुए शृंगारिक वर्णन के कारण हम यह नहीं कह सकते कि उक्त छंद तुलसीदासजी के नहीं हैं। यह बात भी नहीं कि तुलसीदासजी ने अन्यत्र किसी ग्रंथ में आलंकारिक वर्णन किया ही न हो। उदाहरण के लिये हम नीचे कुछ अवतरण देते हैं—

जब तें ब्रज तजि गए कन्हाई।
तब तें बिरह-रबि उदित एकरस सखि बिछुरनि-वृष पाई॥
घटत न तेज, चलत नाहिंन रथ, रह्यो उर-नभ पर छाई।

* यह विचार हमारा नहीं है, वरन् हिंदी के एक प्रसिद्ध अँगरेज इतिहासकार का है। उन्होंने बिहारी के संबंध में लिखा है—"A remarkably clever manipulator of words."

इंद्रिय रूपरासि सोवहिं सुठि, सुधि सब की बिसराई ॥
भयो सोच-भय-कोक-कोकनद भ्रम-भ्रमरनि सुखदाई ।
चित-चकोर, मन-मोर, कुमुद-मुद सकल विकल अधिकाई ॥
तनु-तड़ाग बल-बारि सूखन लाग्यो परी कुरूपता-काई ।
प्रान-मीन दिन दीन दूबरे, दसा दुसह अब आई ॥
तुलसीदास मनोरथ-मन-मृग मरत जहाँ तहँ धाई ।
राम स्याम सावन भादों बिनु जिय की जरनि न जाई ॥
—कृष्ण-गीतावली ।

सारांश यह है कि बरवै रामायण में ऐसी कोई बात नहीं जिसके कारण हम इसके छंदों के तुलसी-कृत न कहें ।

(२) श्रद्धेय मिश्र-बंधुओं की दूसरी युक्ति से भी हमारा ही सिद्धांत पुष्ट होता है । यह ग्रंथ आरंभिक युग का लिखा हुआ है, जिस समय तुलसीदासजी में अपने उपास्य देव रामचंद्र के प्रति वह श्रद्धा और अपार भक्ति उद्भूत नहीं हुई थी जो बाद में हुई । यह ग्रंथ सीता के रूप-वर्णन से ही आरंभ होता है । यदि बीच में वर्णन आता तो संभवतः तुलसीदासजी—इस आशंका से कि कहीं सीताजी को प्राकृत महिला समझकर लोग उनके जग-ज्जननीत्व पर संदेह न करने लगें—यह स्पष्ट कह देना आवश्यक समझते कि वे जगज्जननी हैं । आरंभ में ही इस बात की कोई आवश्यकता न थी । अन्यत्र जहाँ कहीं इस प्रकार का विषयां-तर आया है वहाँ विषय के बीच में आया है । इस ग्रंथ में राम-चंद्र के विषय में देवत्व की स्थापना अन्यत्र प्रत्यक्ष रूप से की गई है । उसके कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

तुलसी बंक बिलोकनि, मृदु मुसुकानि ।
कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि ॥

कुजन-पाल गुन-वर्जित अकुल, अनाथ ।
कहहुँ कृपानिधि राउर कस गुन गाथ ॥

इसके अतिरिक्त उत्तरकांड भर में रामचंद्रजी के देवत्व की स्थापना की गई है। अतएव केवल सीताजी के संबंध में जगज्जननी न कहने से यह सिद्ध नहीं होता कि ग्रंथ तुलसीदासजी का है ही नहीं।

(३) अयोध्याकांड में भरत का वर्णन अवश्य नहीं है। भरत के भक्ति-भाव का वर्णन करने में तुलसीदासजी की वृत्ति अत्यंत लीन रहती है। उनका रामचरितमानस इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है। कुछ लोगों का यह भी कथन है कि गोस्वामीजी स्वयं अपने ही को भरत के पात्रत्व में देखते हैं। भरत का चरित्र-निर्माण करके उन्होंने जिस सेव्य-सेवक भाव का वर्णन किया है वह वास्तव में भगवान् के प्रति उन्हीं का सेव्य-भाव है। ऐसी अवस्था में, बरवै रामायण में भरत की चर्चा न करके, उन्होंने आलोचकों को अवश्य भ्रम में डाल दिया है। परंतु इसके अनेक कारण हैं—

(क) बरवै रामायण एक छोटा सा काव्य है। यदि इसका संपूर्ण अंश उपलब्ध हो जाय तो आलोचना पूर्ण हो सकती है। उपलब्ध पुस्तक में रामायण के प्रत्येक पात्र की विशद चर्चा होनी असंभव है। भरत के अतिरिक्त शत्रुघ्न का भी जिक्र इसमें नहीं आया। कैकेयी की भी चर्चा नहीं है, यद्यपि परोक्ष रूप में मंथरा से कहा हुआ वाक्य उपस्थित है। दशरथ, वशिष्ठ, शत्रुघ्न, कौशल्या किसी का नाम इसमें नहीं आया। यह ग्रंथ स्फुट छंदों में लिखित छोटा सा काव्य है, अतः भरत का वर्णन न होना, इसके तुलसी-कृत न होने की युक्ति को पुष्ट नहीं करता।

(ख) दूसरी बात यह है—जिसकी चर्चा हम पहले भी कर चुके हैं—कि यह भक्त-प्रवर गोस्वामी तुलसीदासजी की आयु का वह समय न था जब उनकी भक्ति अत्यंत प्रौढ़ हो गई हो। वे जिस स्फूर्ति से भरत के चरित्र का सुंदर, पूर्ण और भक्ति से ओत-प्रोत वर्णन करने में सफल हुए हैं वैसी स्फूर्ति उनके कविता-काल के इस युग में न थी। भक्ति-मार्ग की विभिन्न अनुभूतियों को वे इस समय अनुभव न कर सकते थे और न भक्ति-प्रवाह का इतना विशद प्रस्रोत ही उनके हृदय में प्रवाहित हुआ था। भरत के चरित्र की विशदता का परिज्ञान उनको इस अवस्था में न था। इसलिये भरत का चरित्र न होने से इस निष्कर्ष पर पहुँचना कि बरवै रामायण इनका ग्रंथ ही नहीं है, भ्रमोत्पादक है।

(ग) इन दोनों के अतिरिक्त एक और बड़ी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि तुलसीदासजी ने कवितावली में भरत के चरित्र की चर्चा कहीं नहीं की। कवितावली में भरत का नाम तक नहीं आया है। परंतु तो भी सब साहित्य-सेवी कवितावली को तुलसीदास का ग्रथ मानते हैं। विद्वद्वर मिश्र-बंधुओं ने भी उसे तुलसी-रचित माना है।

(४) श्रद्धेय मिश्र-बंधुओं की चौथी युक्ति यह है कि बरवै रामायण के उत्तरकांड में भक्ति का वर्णन नहीं किया गया है, अतएव बरवै रामायण तुलसीदासजी का ग्रंथ नहीं है। हम उत्तर-कांड का प्रत्येक छद उद्धृत करते हैं और इसका निर्णय पाठकों पर छोड़ते हैं कि उसमें भक्ति का वर्णन है या नहीं—

चित्रकूट पयतीर सो सुर-तरु-वास।
लषन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास॥ १ ॥
पय नहाइ फल खाहु परिहरिय आस।
सीयराम-पद सुमिरहु तुलसीदास॥ २ ॥

स्वारथ परमारथ हित एक उपाय ।
सीयराम-पद तुलसी प्रेम बढ़ाय ॥ ३ ॥
काल कराल बिलोकहु होइ सचेत ।
रामनाम जपु तुलसी प्रीति समेत ॥ ४ ॥
संकट सोचविमोचन, मंगलगेह ।
तुलसी रामनाम पर करिय सनेह ॥ ५ ॥
कलि नहिं ज्ञान, बिराग, न जोग-समाधि ।
रामनाम जपु तुलसी नित निरुपाधि ॥ ६ ॥
रामनाम दुइ आखर हिय हितु जानु ।
रामलषन सम तुलसी सिखब न आनु ॥ ७ ॥
माय बाप गुरु स्वामि राम कर नाम ।
तुलसी जेहि न सोहाइ ताहि बिधि बाम ॥ ८ ॥
रामनाम जपु तुलसी होइ बिसोक ।
लोक सकल कल्यान, नीक परलोक ॥ ९ ॥
तप, तीरथ, मख, दान, नेम, उपवास ।
सब ते अधिक राम जपु तुलसीदास ॥ १० ॥
महिमा रामनाम कै जान महेस ।
देत परम पद कासी करि उपदेस ॥ ११ ॥
जान आदि-कवि तुलसी नाम प्रभाउ ।
उलटा जपत कोल ते भए ऋषिराउ ॥ १२ ॥
कलसजोनि जिय जानेउ नामप्रतापु ।
कौतुक सागर सोखेउ करि जिय जापु ॥ १३ ॥
तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि ।
बेद पुरान पुकारत, कहत पुरारि ॥ १४ ॥
रामनाम पर तुलसी नेह निबाहु ।
एहि ते अधिक, न एहि सम जीवन-लाहु ॥ १५ ॥

दोष-दुरित-दुख-दारिद-दाहक नाम ।
सकल सुमंगलदायक तुलसी राम ॥ १६॥
केहि गिनती महँ ? गिनती जस बनघास ।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास ॥ १७ ॥
आगम निगम पुरान कहत करि लीक ।
तुलसी नाम राम कर सुमिरन नीक ॥ १८ ॥
सुमिरहु नाम राम कर, सेवहु साधु ।
तुलसी उतरि जाहु भव उदधि अगाधु ॥ १९ ॥
कामधेनु हरिनाम, कामतरु राम ।
तुलसी सुलभ चारि फल सुमिरत नाम ॥ २० ॥
तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय ।
बड़े भाग अनुराग राम सन होय ॥ २१ ॥
एकहि एक सिखावत जपत न आप ।
तुलसी रामप्रेम कर बाधक पाप ॥ २२ ॥
मरत कहत सब सब कहँ 'सुमिरहु राम' ।
तुलसी अब नहिं जपत समुझि परिनाम ॥ २३ ॥
तुलसी रामनाम जपु आलस छांड़ु ।
रामबिमुख कलिकाल को भयो न भांड़ु ॥ २४ ॥
तुलसी रामनाम सम मित्र न आन ।
जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान ॥ २५ ॥
राम भरोस, नाम बल, नाम सनेहु ।
जनम जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु ॥ २६ ॥
जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु ।
तहँ तहँ राम निबाहिब नामसनेहु ॥ २७ ॥

इस उद्धरण को देते हुए भी हम यह निस्संकोच स्वीकार करने को तैयार हैं कि इसमें, कुछ छंदों के अतिरिक्त, गोस्वामीजी

की वृत्ति उतनी लीन नहीं हुई जितनी अन्यत्र उत्तरकांड के भक्ति-भाव में हुई है। इसका मुख्य कारण यही है कि यह उनके जीवन-काल का वह युग न था जब कि वे एक प्रगाढ़ भक्त रहे हों। इस समय वे प्रधानत: कवि, और गौण रूप से भक्त, थे। परंतु तो भी सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जायगा कि इन पंक्तियों में भी उस भक्ति-प्रस्रोत का उद्गम दीख पड़ता है जो आगे चलकर एक विशाल सरिता का स्वरूप धारण करता है।

हाँ, एक बात और है। इस वर्णन में जाप की पुनरावृत्ति का सा रूखापन है। जिस प्रकार कोई बालक गायत्री में अथवा हनुमान-चालीसे में किसी विशेष अनुरक्ति का अनुभव न करके—केवल उसे धार्मिक कार्य समझकर—उसकी पुनरावृत्ति करता है उसी प्रकार तुलसीदासजी ने भी यहाँ अपनी वृत्ति को अधिक लीन न अनुभूत करते हुए भी भक्ति-प्रदर्शन को एक धार्मिक कार्य समझकर उसे छंदोबद्ध किया है। यह बात इसी ग्रंथ में नहीं है, अन्य ग्रंथों में भी उनकी वृत्ति सर्वत्र लीन नहीं हुई है। विनय-पत्रिका तुलसीदासजी का, भक्ति-प्रस्रोत प्रदर्शित करने का, अद्वितीय ग्रंथ है। उससे अधिक और किसी ग्रंथ में उनकी आत्मा लीन नहीं हुई। परंतु इस ग्रंथ में भी स्तोत्र-भाग बड़ा रूखा और नीरस है। उसकी पुनरावृत्ति में कवि का हृदय बहुत कम दीख पड़ता है। यही मालूम होता है कि कवि ने उन स्तोत्रों को संध्या के सूत्रों की भाँति उल्लिखित कर दिया है। इसके सिवा विनय-पत्रिका में अन्यत्र भी ऐसे छंद कम नहीं हैं। उदाहरण लीजिए—

"सेइय सहित सनेह देहभरि कामधेनु कलि कासी।
समनि-सोक-संताप-पाप-रुज, सकल-सुमंगल-रासी॥
मरजादा चहुँ ओर चरन बर सेवत सुरपुरबासी।
तीरथ सब सुभ अंग, रोम सिवलिंग अमित अबिनासी॥

अंतरअयन अयन भल, थन फल, बच्छ बेद-बिस्वासी।
गलकंबल बरुना बिभाति, जनु लूम लसति सरिता सी॥
दंडपानि भैरव बिषान, मलरुचि खलगन भयदा सी।
लोलदिनेस त्रिलोचन लोचन, करनघंट घंटा सी॥
मनिकर्निका-बदन-ससि सुंदर, सुरसरि सुखसुषमा सी।
स्वारथ-परमारथ-परिपूरन पंचकोस महिमा सी॥
बिस्वनाथ पालक कृपालुचित, लालति नित गिरिजा सी।
सिद्ध सची सारद पूजहिं, मन जोगवति रहति रमा सी॥
पंचाच्छरी प्रान, मुद माधव, गब्य सुपंचनदा सी।
ब्रह्म जीव सम राम नाम जुग आखर-बिस्वबिकासी॥
चारितु चरति करम कुकरम कर मरत जीवगन घासी।
लहत परमपद पय पावन जेहि, चहत प्रपंच-उदासी॥
कहत पुरान रची केसव निज कर-करतूति-कला सी।
तुलसी बसि हरपुरी राम जपु जो भयो चहै सुपासी॥"

जब प्रौढ़ावस्था के वर्णन ऐसे हैं, जिसमें केवल सादृश्य की कल्पना पर प्रासाद खड़ा किया गया है, तब पूर्व काल की बात ही क्या ?

इस प्रसंग के पश्चात् और श्रद्धेय मिश्र-बंधुओं की चारों शंकाओं के यथेष्ट विवेचन के पश्चात् नीचे कुछ और युक्तियाँ दी जायँगी, जिनके कारण यह ग्रंथ तुलसी-कृत ही जान पड़ता है। ये युक्तियाँ वास्तव में दो भागों में विभक्त की जा सकती हैं—(१) ग्रंथ की अंतरंग समीक्षा पर आश्रित। (२) ग्रंथ की बाह्य समीक्षा पर आश्रित।

(१) ग्रंथ की अंतरंग समीक्षा में बहुत से ऐसे चिह्न मिलते हैं, जिससे पुस्तक गोस्वामीजी-रचित प्रतीत होती है।

(क) ग्रंथ का उत्तरकांड इतना बृहत् है कि वह लगभग आधे ग्रंथ तक है। गोस्वामीजी का यही ढंग अन्य ग्रंथों में भी है। रामचरितमानस का भी उत्तरकांड बड़ा है, परंतु कवितावली का उत्तर कांड तो आधे ग्रंथ से भी बड़ा है। इसके अतिरिक्त विषय की दृष्टि से भी उत्तरकांड में, अन्य पुस्तकों की भाँति, भक्ति-भाव वर्णन किया गया है।

(ख) चित्रकूट के निवास-समय का भक्तिपूर्ण ध्यान अन्य बृहत् ग्रंथों की भाँति इसमें भी है।

(ग) उत्तरकांड में दिए हुए नाम की महिमा का वर्णन रामचरितमानस की निम्न-लिखित पंक्तियों से बहुत मिलता-जुलता है—

दो०—गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न॥
चौ०—बंदौं रामनाम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को॥
बिधि-हरि-हर-मय बेदप्रान सो। अगुन अनूपम गुननिधान सो॥
महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति-हेतु उपदेसू॥
महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजिअत नामप्रभाऊ॥
जान आदिकबि नामप्रतापू। भएउ सुद्ध करि उलटा जापू॥
सहस-नाम-सम सुनि सिवबानी। जपि जेईं पिय संग भवानी॥
हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषनु तियभूषन ती को॥
नामप्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को॥
दो०—बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम-नाम बर बरनयुग सावन भादव मास॥
चौ०—आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ।
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोकलाहु पर-लोक-निबाहू॥
कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के॥
बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती॥

नर-नारायन सरिस सुभ्राता। जगपालक बिसेषि जनत्राता॥
भगति-सु-तिय कल करनबिभूषन। जग-हित-हेतु बिमल बिधु पूषन॥
स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के॥
जन-मन-मंजु-कंज-मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से॥
दो०—एकु छत्रु एकु मुकुटमनि सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबरनाम के बरन बिराजत दोउ॥
चौ०—समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी॥
नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी॥
को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुनि भेदु समुझिहहिं साधू॥
देखिअहिं रूप नामआधीना। रूप ग्यान नहिं नामबिहीना॥
रूप बिसेष नाम बिनु जाने। करतलगत न परहिं पहिचाने॥
सुमिरिअ नामु रूप बिनु देखे। आवत हृदय सनेह बिसेखे॥
नाम-रूप-गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परति बखानी॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी॥
दो०—राम-नाम-मनि-दीप धरु जीह देहरीद्वार।
तुलसी भीतर बाहरहुँ जौं चाहसि उँजियार॥
चौ०—नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचिप्रपंच बियोगी॥
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा॥
जाना चहहिं गूढ़गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ॥
साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ॥
जपहिं नाम जनु आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी॥
रामभगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥
चहू चतुर कहुँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहि बिसेषि पिआरा॥
चहुँ जुग चहुँ स्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥
दो०—सकल-कामना-हीन जे राम-भगति-रस-लीन।
नाम सुपेम-पियूष ह्रद तिन्हहुँ किए मन मीन॥

चौ०—अगुन सगुन दुइ ब्रह्मसरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरें मत बड़ नामु दुहूँ तें। किए जेहि जुग निज बस निज बूतें॥
प्रौढ़ि सुजन जनि जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥
एकु दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्मबिबेकू॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें। कहेउँ नामु बड़ ब्रह्म राम तें॥
ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
नामनिरूपन नामजतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥
दो०—निरगुन तें एहि भाँति बड़ नामप्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार॥
चौ०—राम भगत-हित नरतनु-धारी। सहि संकट किए साधु सुखारी॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद-मंगल-बासा॥
राम एक तापसतिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥
रिषिहित राम सुकेतुसुता की। सहित सेन-सुत कीन्हि बिबाकी॥
सहित दोष-दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा॥
भंजेउ राम आपु भवचापू। भव-भय-भंजन नामप्रतापू॥
दंडकबन प्रभु कीन्ह सुहावन। जनमन अमित नाम किए पावन॥
निसिचर-निकर दले रघुनंदन। नाम सकल कलि-कलुष-निकंदन॥
दो०—सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेदबिदित गुनगाथ॥
चौ०—राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ॥
नाम गरीब अनेक नेवाजे। लोक बेद बर बिरद बिराजे॥
राम भालु-कपि-कटकु बटोरा। सेतुहेतु स्रमु कीन्ह न थोरा॥
नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मन माहीं॥
राम सकुल रन रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा॥
राजा राम अवध रजधानी। गावत गुन सुर मुनि बर बानी॥

सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु स्रम प्रबल मोहदल जीती ॥
फिरत सनेहमगन सुख अपने। नामप्रसाद सोच नहिं सपने ॥
दो०—ब्रह्म राम तें नामु बड़ बर-दायक बर-दानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिए महेस जिय जानि ॥'

चौ०—नामप्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगलरासी ॥
सुक-सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नामप्रसाद ब्रह्म-सुख-भोगी ॥
नारद जानेउ नामप्रतापू। जगप्रिय हरि हरि-हर-प्रिय आपू ॥
नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगतसिरोमनि भे प्रहलादू ॥
ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ ॥
सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू ॥
अपतु, अजामिलु, गजु, गनिकाऊ। भए मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ ॥
कहउँ कहाँ लगि नामबड़ाई। रामु न सकहिं नामगुन गाई ॥
दो०—नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान-निवासु।
जो सुमिरत भयो भाँग तें तुलसी तुलसीदासु ॥

चौ०—चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका ॥
बेद-पुरान-संत-मत एहू। सकल-सुकृत-फल रामसनेहू ॥
ध्यानु प्रथमजुग मखबिधि दूजे। द्वापर परितोषत प्रभु पूजे ॥
कलि केवल मल-मूल-मलीना। पापपयोनिधि जनमन मीना ॥
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला ॥
रामनाम कलि अभिमतदाता। हित परलोक लोक पितुमाता ॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम-नाम अवलंबन एकू ॥
कालनेमि कलि कपटनिधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥
दो०—राम नाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकालु।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसालु ॥

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये बरवै रामायण में वर्णित राम-महिमा के विशद और व्यापक स्वरूप हैं। भाव तो कहीं कहीं बिलकुल वही है। अंतर्कथाएँ भी वही हैं।

(घ) इस ग्रंथ में भी तुलसीदासजी की शब्द-योजना विद्यमान है। कोई शब्द बे मौक़े नहीं है। प्रत्येक शब्द ठीक अपने स्थान पर बैठा है।

(ङ) बरवै रामायण में कुछ ऐसे स्थल हैं और कुछ ऐसे शब्द, वाक्यांश और छंद प्रयुक्त हैं, जिनके संबंध में यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि वे तुलसीदासजी के अपनाए हुए हैं—

(१) काकपच्छ (छं० ८)

(२) भालतिलक सर (छं० ९)

(३) कस प्रभु नयन कमल अस कहौं बखानि (छं० १०)

(४) को कबि समसरि करै परै भवकूप (छं० ११)

(५) सजल कठौता कर गहि (छं० २५)

(६) लखन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास (छं० ४३)

(७) उलटा जपत कोल ते भए ऋषिराउ (छं० ५४)

(८) एहि ते अधिक (छं० ५७)

(९) बड़े भाग अनुराग राम सन होय (छं० ६३)

(१०) जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु
तहँ तहँ राम निबाहिब नामसनेहु (छं० ६९)

(च) इस काव्य में भी 'अपनी आदत के माफ़िक़' तुलसीदासजी ने राम में देवत्व की स्थापना की है।

(छ) कुछ लोग कहते हैं कि बरवै रामायण में ऐसे अलंकारों की भरमार है, जो उनके अन्य ग्रंथों में नहीं हैं।

अच्छे कवि बहुधा परिसंख्या अलंकार का भी प्रयोग नहीं करते। वे उसे केवल मानसिक व्यायाम की एक कला समझते हैं। परंतु उसका भी एक उदाहरण रामचरितमामस में है—

दो०—दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्त्तक नृत्यसमाज।
जितहु मनहिं अस सुनिअ जग रामचंद्र के राज॥

बरवै रामायण के आलंकारिक होने का प्रथम कारण तो यही है कि तुलसीदासजी तत्कालीन मनोभावों को संतुष्ट करने की इच्छा भी रखते थे, परंतु दूसरी बात यह भी है कि यह स्वयं कवि के कवितायुग का आरंभिक काल था। आरंभिक काल में कवि बहुधा आलंकारिक भाषा ही लिखते हैं। बरवै रामायण की और उनके अन्य ग्रंथों की निम्नलिखित पंक्तियों में इतना सादृश्य है कि वे और किसी कवि की नहीं कही जा सकतीं—

(१) सात दिवस भए साजत सकल बनाउ।
का पूछहु सुठि राउर सरल सुभाउ॥ (ब० रा०)

देखहु कस न जाय सब सोभा। जो अवलोकि मोर मन छोभा॥
काह करहु सखि सरल सुभाऊ। ... ... ॥
(रामचरितमानस)

(२) राजभवन सुख बिलसत सिय सँग राम।
बिपिन चले तजि राज, सुबिधि बड़ बाम॥ (ब० रा०)

कागर-कीर ज्यों भूषन चीर सरीर लस्यो तजि नीर ज्यों काई।
मातु पिता प्रिय लोग सबै सनमानि सुभाय सनेह सगाई॥
संग सुभामिनि भाइ भलो, दिन द्वै जनु औध हुते पहुनाई।
राजिवलोचन राम चले तजि बाप को राज बटाऊ की नाईं॥
(कवितावली)

(३) कोउ कह नरनारायण हरिहर कोउ। (ब० रा०)
की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ। नरनारायण की तुम्ह दोऊ॥
(रामचरितमानस)

(४) कोउ कह बिहरत बन मधु मनसिज दोउ। (ब० रा०)
जनु मधु मदन मध्य रति लसई। (रामचरितमानस)

(५) बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिँ बुझाइ॥ (ब० रा०)

मोको अब नयन भए रिपु माई।
हरि-बियोग तनु तजेहि परमसुख ए राखहि सोइ है बरियाई॥
बरु मन कियो बहुत हित मेरो बारहि बार काम दव लाई।
बरषि नीर ये तबहि बुझावहि स्वारथ निपुन अधिक चतुराई॥
ज्ञानपरसु दै मधुप पठायो बिरहबेलि कैसेहु कटिनाई।
सो थाक्यो बरह्यों एकहि तक देखत इनकी सहज सिँचाई॥
हारत हू न हारि मानत, सखि, सठ सुभाव कंदुक की नाईं।
चातक जलज मीनहुँ ते भोरे समुझत नहिँ इन्हकी निठुराई॥
ए हठ-निरत दरस लालच बस परे जहाँ बुधिबल न बसाई।
तुलसिदास इन्हपर जो द्रवहि हरि तौ पुनि मिलौं बैरु बिसराई॥
(कृष्ण-गीतावली)

बिरह अगिनि तनु तूल समीरा। स्वास जरै छन माहँ सरीरा॥
नयन स्रवहिँ जल निज हित लागी। जरैं न पाव देह बिरहागी॥
(रामचरितमानस)

बरवै रामायण के उत्तरकांड में जो 'सीय राम-पद सुमिरहु तुलसीदास' की पुनरावृत्ति है वह विनयपत्रिका की निम्नलिखित पंक्ति की पुनरावृत्ति के सादृश्य पर है—

"राम कहत चलु, राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।"

(२) अस्तु, अंतरंग समीक्षा के पश्चात् हमें ग्रंथ की बाह्य समीक्षा भी करनी है। हमारे पास वे आधार भी हैं जिनसे यह ग्रंथ तुलसीदास का ही प्रतीत होता है। हम क्रमानुसार उनका उल्लेख करते हैं—

(क) बरवै रामायण के लिखने के संबंध में एक किंवदंती प्रसिद्ध है। कहते हैं, अब्दुर्रहीम खानखाना 'रहीम'-रचित एक बरवै को देखकर गोस्वामीजी को बरवै छंद लिखने का प्रोत्साहन

मिला और उन्होंने बरवै छंद में रामायण लिखी। यदि उन्होंने कभी बरवै लिखे तो वे यही बरवै होंगे, क्योंकि वे काव्य में भगवान् के गुणगान के अतिरिक्त और कुछ लिखना व्यर्थ ही नहीं, वरन् पाप समझते थे। उनकी रहीम से भेंट हुई, इसका प्रमाण तो पं० रामचंद्र शुक्ल ने तुलसी-ग्रंथावली, तृतीय खंड की अपनी प्रस्तावना में दिया है। वे लिखते हैं—"कहते हैं कि अकबर के प्रसिद्ध वजीर नवाब खानखाना और तुलसीदासजी में बड़ा प्रेम था। एक गरीब ब्राह्मण द्रव्य के अभाव से कन्या का विवाह न कर सकता था। वह गोस्वामीजी के पास आया। उन्होंने एक चिट पर दोहे की यह पंक्ति लिखकर दी और खानखाना के पास जाने को कहा—

'सुरतिय, नरतिय, नागतिय सब चाहत अस होय।'

खानखाना ने उसे बहुत कुछ धन देकर उसी के हाथ यह उत्तर भेजा—

'गोद लिए हुलसी फिरैं, तुलसी सो सुत होय॥'

यदि यह बात सत्य है, तो इन दोनों महाकवियों का परिचय बड़ा भारी था। गोस्वामीजी का परिचय खानखाना से था, इस बात का उल्लेख अकबर के इतिहासकार स्मिथ ने भी किया है। परंतु उस समय गोस्वामीजी की विशेष ख्याति न थी। अबुलफजल की 'आईने-अकबरी' में तत्कालीन कवियों की एक सूची दी गई है, जिसमें गोस्वामीजी का नाम नहीं है।

(ख) ऊपर के विचारों के अनुसार पं० शिवलाल पाठक लिखते हैं—"तुलसीदास का बरवै रामायण भारी ग्रंथ है। आजकल जो प्रचलित बरवै रामायण है, वह बहुत ही थोड़ी और छिन्न-भिन्न है। कहावत है कि जब खानखाना को उनके मुंशी की स्त्री की 'प्रेम-प्रीति कै बिरवा चलेहु लगाय; सोंचन की सुधि लीजो

मुरझि न जाय।' इस कविता से बरवै अच्छा लगा, तब आपने भी इस छंद में कविताएँ कीं और इष्ट-मित्रों से भी बहुत बनवाईं। उसी समय खानखाना के कहने पर तुलसीदासजी ने भी बरवै रामायण बनाई।" इससे भी बरवै रामायण का तुलसी-कृत होना सिद्ध होता है।

(ग) गोस्वामीजी के परम निकट शिष्य बाबा वेणीमाधवदास ने एक गोस्वामी-मूलचरित की रचना की थी। कहा जाता है कि यह बड़ा भारी ग्रंथ है। इसमें गोस्वामीजी के जीवन का विशद वृत्तांत दिया गया है, परंतु यह आजकल उपलब्ध नहीं है। इसके रचयिता ने स्वयं अपने गुरु की भक्ति से प्रेरित होकर उनकी जीवनचर्या का दैनिक स्वाध्याय करने की दृष्टि से एक संक्षिप्त ग्रंथ उसी ग्रंथ के आधार पर प्रणीत किया था। इसका नाम 'संक्षिप्त मूलचरित' है। इसमें प्रायः सभी उपयोगी घटनाओं का वर्णन किया गया है। इसकी महत्ता एवं सत्यता स्वीकार करने में अभी विचारांतर है, परंतु अधिकांश लोग उसे कपोलकल्पित नहीं मानते। इसकी कुछ उल्लिखित घटनाओं में मतभेद भले ही हो, परंतु संपूर्ण ग्रंथ को बहुत ही कम लोग झूठा बतलाते हैं। इस ग्रंथ में बरवै रामायण के संबंध में लिखा है—

'कवि रहीम बरवै रचै, पठए मुनिवर पास।
लखि तेइ सुंदर छंद में, रचना किएउ प्रकास॥'

मुनिवर से अभिप्राय गोस्वामीजी से है। रहीम गोस्वामीजी के अत्यंत परिचित मित्र थे। मित्र के छंद देखकर केवल उनके अनुकरण मात्र से ही उस छंद में कविता करने की अभिलाषा होना तथा कविता करना नितांत स्वाभाविक है। अतएव इस दृष्टि से भी यह ग्रंथ गोस्वामीजी-प्रणीत प्रतीत होता है। संक्षिप्त-मूलचरित को सर जार्ज ग्रियर्सन सच्ची पुस्तक समझते हैं।

उसके आधार पर उन्होंने एक दूसरे ग्रंथ को गोस्वामीजी की रचना कहा है। हिंदी के लिये ग्रियर्सन साहब का कार्य अत्यंत उच्च है। उनकी बातों को हम यों ही नहीं टाल सकते। वे लिखते हैं—

" I am interested to see that according to this work the Ram-Satsai was written by Tulsidass. This was much doubted by some authorities. "

"अर्थात् मुझे इस बात से अभिरुचि है कि इस ग्रंथ (गोसाईं-मूलचरित) के अनुसार रामसतसई को तुलसीदासजी ने ही लिखा है। इस कृति के गोस्वामीजी-रचित होने में बहुत से विद्वानों को संदेह था।"

रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास ने अपने इतिहास तथा अपनी नई पुस्तक 'गोस्वामी तुलसीदास' में इस ग्रंथ को तुलसी-कृत ही माना है। पं० रामचंद्र शुक्ल और पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' ने भी अपने अपने इतिहासों में इस ग्रंथ को गोस्वामीजी-कृत माना है। कविता-कौमुदी की भी यही बात है। प्रस्तुत ग्रंथ तुलसी-कृत है, इसके संबंध में पर्याप्त समीक्षा की जा चुकी है।

बरवै रामायण का रचना-काल-संबंधी हमारा सिद्धांत 'संक्षिप्त मूलचरित' के प्रतिकूल है। पाठकों को आश्चर्य होगा कि हमने अभी ऊपर उसी 'संक्षिप्त मूलचरित' के आधार पर इस ग्रंथ को तुलसी-कृत बताया और अब उसी के विषय में यह तर्क कर रहे हैं।

'रामलला नहछू' वाली समीक्षा में हमने 'संक्षिप्त-मूलचरित' के रचयिता—बाबा वेणीमाधवदास—के भ्रमात्मक विचार की चर्चा की थी। उन्होंने लगभग सब ग्रंथों के रचना-काल के संवत् का उल्लेख किया है, पर सब का उल्लेख करने के बाद उन्होंने 'बरवै रामायण', जानकी-मंगल, पार्वती-मंगल और रामलला नहछू की एकत्र चर्चा कर दी है।

दो०—कवि रहीम बरवै रचै, पठए मुनिवर पास ।
लखि तेइ सुंदर छंद में, रचना किएउ प्रकास ॥
मिथिला में रचना किए, नहछू मंगल दोइ ।
पुनि प्रांचे मंत्रित रचे, सुख पावैं सब कोइ ॥

यह तो कोई नहीं कह सकता कि यह ग्रंथ कवितावली, गीतावली, विनयपत्रिका अथवा रामायण ऐसे बृहत् ग्रंथों के पश्चात् लिखा गया हो। इन बृहत् ग्रंथों का रचयिता फिर बरवै रामायण जैसा छोटा ग्रंथ रचने का प्रयास न करेगा। यह नितांत सत्य है। उसकी वृत्ति भी ऐसी नहीं हो सकती कि वह किसी के बरवै देखकर उसकी नकल करे। अतएव यह सिद्ध है कि यह ग्रंथ उनके साहित्यिक जीवन के आदि-काल की रचना है। अनुमानतः इसका रचना-संवत् १६१९ माना जा सकता है।

अब यह देखना है कि रहीम से उनकी भेंट कब हुई अथवा रहीम ने बरवै रचकर उन्हें किस समय भेजे। तत्कालीन इतिहास में इसकी कोई निश्चित तिथि नहीं दी गई है। परंतु यह निश्चय है कि बरवै भेजने से पूर्व गोस्वामीजी से रहीम की भेंट हो चुकी होगी और काफी परिचय भी रहा होगा। परस्पर आदर-भाव रहा होगा, अन्यथा अपनी कृति भेजने का साहस ही न होता। इसी प्रकार गोस्वामीजी ने निर्धन ब्राह्मण के हाथ जो दोहा भेजा था उससे भी परिचय की परिपकता प्रतीत होती है।

इतिहासकारों का अनुशीलन करने से पता चलता है कि तुलसी से रहीम की भेंट सूर की भेंट के पूर्व हुई थी। परंतु उनका यह निष्कर्ष परंपरागत किंवदंती पर ही आश्रित है। तत्कालीन इतिहास में गोस्वामीजी का कहीं उल्लेख ही नहीं है। स्मिथ साहब का वर्णन ग्रियर्सन साहब के उल्लेख के आधार पर है।

ग्रंथ की समीक्षा से ज्ञात होता है कि यह ग्रंथ पूर्वी अवध भाषा में है। गोस्वामीजी पूर्व-अवधवासी थे भी। यद्यपि उनका पर्यटन बहुत अधिक था, तो भी पहले-पहल उन्होंने जिन ग्रंथों की रचना की होगी वे अवश्य पूर्वी-अवधी भाषा के रहे होंगे। यह नितांत स्वाभाविक है कि कवि को जिस भाषा में अधिक संभाषण करने का अभ्यास होता है, उसी में उसे पहले-पहल कविता करने की विशेष गति होती है। उनके ग्रंथों में अवधी के भी दो स्वरूप दृष्टिगत होते हैं—एक साधारण अवधी (जिसका बोलचाल में अधिक प्रयोग था और जिसे ग्रामीण अवधी कहा जाय तो अधिक ठीक होगा) और दूसरी परिपक्कावस्था को प्राप्त हुई अवधी। पहले प्रकार की अवधी में 'रामलला नहछू', तथा 'बरवै रामायण' लिखे गए हैं। दूसरे प्रकार की अवधी में अंतर है। इस सब का उल्लेख अन्यत्र किया गया है।

कहने का अभिप्राय यह है कि ठेठ पूर्वी अवधी में लिखे जाने के कारण यह ग्रंथ गोस्वामीजी की आदि-रचना ही कही जा सकती है। उदाहरण के लिये हम यहाँ बरवै रामायण के कुछ ऐसे स्थल देते हैं जो वास्तव में उनकी परिपक्क शैली में नहीं पाए जाते—

(१) चंपक-**हरवा** अँग मिलि।

(२) मुख **अनुहरिया**।

(३) कमठपीठ धनु **सजनी** कठिन अँदेस।

(४) अगिनि-ताप है तम कह **सँचरत** आइ।

(५) **इहकु** न है उजियरिया।

(६) कनगुरिया के **मुदरी** कंकन होइ।

(७) राम लषन सम तुलसी **सिखब** न आनु।

(८) रामबिमुख कलिकाल को भयो न **भाँड़ु**।

इसके अतिरिक्त भावों की कमी, विचार-गांभीर्य का अभाव, किसी प्रकार के दार्शनिक विचारों की निगूढ़ता की न्यूनता तथा राम-भक्ति की अपरिपक्वावस्था आदि कारण हमें इस ग्रंथ को उनके आदि-ग्रंथों के अंतर्गत स्वीकार करने के लिये बाध्य करते हैं। 'बरवै रामायण' 'रामलला नहछू' के बाद का काव्य है। इसकी पुष्टि में एक और युक्ति देकर हम ग्रंथ को निर्माण-काल-संबंधी आलोचना समाप्त करते हैं।

तुलसी और रहीम से भेंट हुई थी, यह बात स्वीकृत है। यह भेंट रामायण की रचना के पूर्व हुई होगी। रामायण का रचना-काल १६३१ वि० है। इसकी पुष्टि में नीचे हम कुछ ऐसे अवतरण देंगे, जिनमें दोनों कवियों में बड़ी समानता है।

"राम न जाते हरिण सँग, सीय न रावण साथ।
जो रहीम भावी कतहुँ, होति आपने हाथ॥"—रहीम।
"तुलसी जस भवितव्यता, तैसी मिलै सहाय।
आपु न आवै ताहि पै, ताहि तहाँ लै जाय॥"—तुलसी।
"रहिमन सोई मीत है, भीर परे ठहराय।"—रहीम।
"आपतकाल परखिए चारी। धीरज धरम मित्र अरु नारी।"—तुलसी।
"रहिमन लाख भली करो, अगुनो-अगुन न जाय।"—रहीम।
"मिटहि न मलिन सुभाउ अभंगू।"—तुलसी।
"ससि की सुंदर चाँदनी, सीतल सबहिँ सुहाय।
लगे चोर चित में लटी, घटि रहीम मन आय॥"—रहीम।
"चोरहिँ चंदिनि राति न भावा।"—तुलसी।
"दीरघ दोहा अरथ के, आखर थोरे माँहिँ।"—रहीम।
"अर्थ अमित अति आखर थोरे।"—तुलसी।
"कहि रहीम परकाज हित, संपति सँचहिँ सुजान।"—रहीम।
"तुलसी संत सुअंब-तरु, फूलि फलहिँ परहेत।"—तुलसी।

"रहिमन धोके भाव से, मुख से निकसे राम।"—रहीम।

"तुलसी जिनके मुखन से, धोखेहु निकसत राम।"—तुलसी।

इन अवतरणों में से कुछ तो परस्पर इतने मिलते-जुलते हैं कि केवल भावों की भिड़ंत अथवा विचार-साहश्य कहकर उनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह मानना ही पड़ेगा कि तुलसीदासजी ने रहीम-रचित दोहों को देखकर, उनसे प्रभावित होकर, रामायण रचते समय उन्हीं भावों का उल्लेख किया है। इसमें उनके गौरव में बट्टा नहीं लगता। परिस्थितियों का अनुशीलन भी यही कहता है कि रहीम की ही रचनाएँ पूर्व-रचित हैं। अभिप्राय यह है कि रामायण रचने से पूर्व इन दोनों कवियों की भेंट हुई होगी। यह ग्रंथ पूर्वकाल का रचा सिद्ध होता है। संभव है कि अप्राप्त ग्रंथ में रचना-संवत् भी हो। यह ग्रंथ पूर्ण नहीं है, अन्यथा इसमें मंगलाचरण अवश्य होता।

पं० रामचंद्र शुक्ल ने अपनी प्रस्तावना में इसका परिचय इस प्रकार दिया है—"बरवै रामायण—छोटे बरवै छंद में यह छोटी सी पुस्तक है। इसमें रामचरितमानस की भाँति सात कांड हैं—(१) बालकांड, १९ छंद—राम-जानकी-छवि-वर्णन, धनुर्भंग, विवाह (आभास मात्र)। (२) अयोध्याकांड, ८ छंद—कैकेयी-कोप (आभास मात्र), राम-वन-गमन, निषादकथा, वाल्मीकि-प्रसंग। (३) अरण्यकांड, ६ छंद—शूर्पणखा-प्रसंग, कंचन-मृग-प्रसंग, सीता-विरह में राम-अनुताप। (४) किष्किंधाकांड, २ छंद—हनुमान्‌जी का रामचंद्रजी से पूछना कि आप कौन हैं (आभास मात्र)। (५) सुंदरकांड, ६ छंद—जानकी का हनुमान् से अपना विरह कहना, हनुमान् का आकर रामचंद्रजी से जानकी की दशा कहना। (६) लंकाकांड, १ छंद—सेना सहित राम-लक्ष्मण की युद्ध में शोभा, (७) उत्तरकांड, २७ छंद—चित्रकूट-वास-महिमा, नाम-स्मरण-महिमा।

"प्रसिद्ध बरवै रामायण से यह जान पड़ता है कि इसे ग्रंथ रूप में कवि ने नहीं बनाया था। समय समय पर यथारुचि स्फुट बरवै बनाए थे। पीछे से चाहे स्वयं कवि ने अथवा और किसी ने रामचरितमानस के ढँग पर कथा का आभास मात्र लेकर कांड-क्रम से उन छंदों का संग्रह किया है। इसमें और ग्रंथों की तरह मंगलाचरण भी नहीं है। यही दशा रामचरितमानस को छोड़ प्रायः और रामायणों की भी देखने में आती है।"

वास्तव में शुक्लजी की यह धारणा बिलकुल ठीक है कि इस ग्रंथ के छंद स्फुट हैं। संभव है, गोस्वाजीमी के किसी शिष्य ने उनके इन छंदों को एकत्र करके ग्रंथ का रूप दिया हो। बाबा वेणीमाधव-दास उन दिनों गोस्वामीजी के शिष्यों में न थे, जब कि यह ग्रंथ रचा गया होगा। अन्यथा वे इसके रचना-काल का संवत् भी लिपि-बद्ध कर देते।

डाक्टर ग्रियर्सन साहब लिखते हैं कि "इसमें रामचंद्र का इतिहास बरवै छंद में लिखा गया है। यह बहुत छोटा है और जैसा मिलता है वह अपूर्ण है।" स्फुट छंदों के कारण अपूर्णता देखना कोई बड़ी बात नहीं। इस दृष्टि से तो तुलसीदासजी का प्रसिद्ध ग्रंथ 'कवितावली' भी अपूर्ण है, क्योंकि उसके छंद भी स्फुट हैं।

'बरवै रामायण' एक प्रबंध-काव्य है अथवा स्फुट काव्य, इसका उत्तर कठिन नहीं। वास्तव में उसके छंद स्फुट हैं, अतएव निस्सं-कोच यह एक स्फुट काव्य है। परंतु यह बात नहीं कि पदों में परस्पर कोई संबंध ही नहीं। हाँ, क्रम में विशृंखलता और शैथिल्य है। बीच की बातें उखड़ी हुई सी हैं। घटना, विकास और पात्र-चित्रण-विकास का अभाव है। इसी लिये यह प्रबंध-काव्य नहीं है। सारांश यह कि न तो यह पूर्ण रूप से स्फुट काव्य है और न प्रबंध-

काव्य ही। महाकाव्य और खंड-काव्य की कोटि में इसका वर्गीकरण करते समय यह खंड-काव्य के अंतर्गत नहीं आ सकता; क्योंकि नायक की किसी विशेष बात को लेकर यह नहीं लिखा गया, वरन् उसकी सारी बातों को लेकर लिखा गया है। इस दृष्टि से इसे महाकाव्य होना चाहिए। परंतु इसमें महाकाव्य के भी लक्षण नहीं हैं। कथा विशद नहीं है। प्रबंध-काव्य का आभास होने पर भी महाकाव्य से पृथक् ज्ञात होता है। यह एक "प्रबंधाभास स्फुट काव्य" है।

बरवै छंद को कुछ आचार्यों ने 'ध्रुव', 'मोहिनी' तथा 'कुरंग' भी कहा है। वास्तव में 'बरवै' और 'मोहिनी' में बहुत कम अंतर है। 'मोहिनी' में केवल जगण के स्थान पर अंत में सगण होता है। शब्दों के प्रयोग में दीर्घांत करने की वृत्ति बहुधा बरवै छंद में पाई जाती है। इससे बरवै में अधिक माधुर्य आ जाता है और छंद में सरलता और प्रवाह भी आ जाता है। शब्द को दीर्घांत करने से उसे कानों में देर तक गुंजित रहने का अवकाश मिलता है जिससे उसका प्रवाह भी एक विशेष प्रकार का होता है।

'बरवै रामायण' का सबसे बड़ा गुण भाषा-प्रवाह है। उसमें कृत्रिमता का अभाव सा है। उसका प्रमुख गुण प्रसाद है। शब्द-योजना, भाव-व्यंजना और भाव-यंत्रणा असाधारण हैं। यह एक कलात्मक ग्रंथ है। इसमें बहुत प्रकार के अलंकार व्यवहृत हैं। परंतु एक स्थान को छोड़कर, जिसका उल्लेख नीचे किया जाता है, और कहीं भी अस्वाभाविकता नहीं आई है। वे भावों और विचारों का उत्कर्ष ही करते हैं।

बेद-नाम कहि, अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लषन के पास॥

कुछ समालोचक यह कहकर इस प्रयोग को उचित ठहराते हैं कि यह छंद इंगित मात्र है और वास्तव में इशारे के तौर पर ही राम ने लक्ष्मण को समझाया था। परंतु 'वेद' और 'अकास' के कूट-प्रयोग में वास्तव में कविता कुछ नहीं है। कोई अच्छा कवि उनका प्रयोग न करेगा। हो सकता है कि संस्कृत ग्रंथों के अवलोकन से उनके ऊपर इस प्रकार की रचना का प्रभाव पड़ा हो। संस्कृत के ह्रास-युग के कवि ऐसे अलंकारों में बहुत आनंद लेते थे।

अलंकार क्या है, इस विषय पर साधरण साहित्य-सेवी को बड़ा भारी भ्रम रहता है। वह समझता है कि सुंदरता लाने के लिये कुछ सुंदर रचना-प्रणाली का प्रसव करके पुराने लेखकों ने आगे के कवियों का मार्ग साफ और सरल कर दिया है। प्राचीन प्रथा के अनुसरण से नवीन प्रथा को सहायता अवश्य मिली है, परंतु विचारणीय विषय यह है कि क्या अलंकार कोई ऐसी वस्तु है जिसका निर्माण बाहर से किया गया है और जो प्रत्येक लेखक के लिये अनुकरणीय है। इस प्रकार की धारणा भ्रमात्मक है। अलंकार रचना-शैली के अंतरंग विकास से भिन्न कोई वस्तु नहीं। ज्यों ज्यों मनुष्य सभ्यता में अग्रसर होता जाता है, त्यों त्यों उसकी आवश्यकताएँ भी बढ़ती जाती हैं। आवश्यकता के साथ साथ उसका शब्द-कोष भी बढ़ता जाता है। इसी प्रकार भावों की भी वृद्धि होती है। अनुभूतियाँ भी बढ़ती हैं। उन्हें व्यक्त करने के लिये कवि स्वत: भिन्न भिन्न प्रकार से प्रयत्न करता है। अनुभूतियों में जितना ही अधिक वेग होगा, व्यंजना में भी उतना ही अधिक वेग होगा। यह सिद्धांत प्राणि-मात्र में है। मनुष्य ने निम्न पशु से इसे अपनाया है। जितने ही वेग से कोई कुत्ते को मारता है, उतने ही जोर से वह चिल्लाता है। प्रत्येक अनुभूति के लिये मनुष्य प्रभावशाली से प्रभावशाली भाषा का प्रयोग करना चाहता

है। भाषा पर अपने अधिकार के अनुसार वह अपनी भाषा को प्रभावोत्पादक बना सकता है। परंतु वह भाव व्यक्त करते समय, मस्तिष्क की प्रयोग-शाला में अपने जाने हुए भाषा-ज्ञान में, नए नए प्रयोग करता है। यह केवल इसलिये कि उसकी व्यंजना में अधिक प्रभाव आवे। विचार या भाव के व्यक्त स्वरूप का सबसे छोटा भाग वाक्य है। अपने मस्तिष्क में हम वाक्यों की अनुभूति करते हैं और व्यक्त भी वाक्यों में करते हैं। बाह्य जगत्• में उसका विच्छेद करके प्रत्येक शब्द का अर्थ और तथ्य निश्चित किया गया है: प्रच्छन्न रूप से स्मृति-पट पर वाक्य अथवा वाक्यांश ही बिंबित होते हैं। एक द्रुत भाव व्यक्त करने के लिये हम कभी कभी स्मरण-पट पर प्रतिबिंबित वाक्यांश के एक टुकड़े को लेकर दूसरे टुकड़े से मिलाकर अपनी बात बड़ी खूबी से कह डालते हैं। यह सम्मिश्रण सादृश्य के आधार पर होता है। यही अलंकार-शास्त्र में 'उपमा' और 'रूपक'—जो सबसे पूर्ण और व्यापक अलंकार हैं—नाम से ख्यात हैं। 'सीधी लकड़ी' के अनुसार हम सीधी बात और सीधा लड़का बोलने लगते हैं। 'कड़ा पत्थर' से कड़ी बात बन जाती है। सिद्धांत यह कि जब शब्द घटने लगते हैं, तब लोग उपमा का आश्रय लेते हैं। बाहर कड़ाके की धूप पड़ रही हो। उसकी तीक्ष्णता की अभिव्यक्ति के लिये हमें केवल यह कहने में सांत्वना मिलती है—'धूप नहीं है, आग बरस रही है।' यह अपह्नुति अलंकार है। हम बहुधा उपमामूलक शब्दों में उपमा ही नहीं देखते। कारण यह है कि अधिक व्यवहार होते होते वे साधारण बोलचाल के वाक्य बन जाते हैं; वे रूढ़ि हो जाते हैं। प्रत्येक भाषा अपनी अपनी नई उपमाएँ रखती है। एक ही अर्थ व्यक्त करनेवाला शब्द भिन्न भिन्न भाषाओं में भिन्न भिन्न उपमाओं में प्रयुक्त होकर भिन्न भिन्न अर्थ प्रतिपादित कर

सकता है। उपमा के द्वारा कितने प्रकार के शब्द बने हैं, इसके विषय में भाषा-विज्ञान के एक पंडित ने कुछ उदाहरण दिए हैं। हम उन्हें यहाँ उद्धृत करते हैं—

"(१) किसी वस्तु के किसी विशिष्ट अंश के अनुसार, जैसे—ऊख की आँख, नदी की शाखा।

(२) एक वस्तु के एक अंश से दूसरी वस्तु के एक अंश का नाम बनना, जैसे—घड़े का गला, पतंग की दुम।

(३) मनुष्य-शरीर के किसी अंश से दूरत्व का परिमाण, जैसे—पाँच हाथ, चार उँगली, तीन फुट।

(४) आकृति के सादृश्य से, जैसे–'मिठाई का पहाड़' हो गया।

(५) व्यवहार के सादृश्य से, जैसे–उनकी बोली 'बहुत तीक्ष्ण' है।

(६) स्थान और समय के सादृश्य से, जैसे—'दीर्घ काल', कुछ समय के पीछे।

(७) इंद्रियानुभूतियों के परस्पर सादृश्य से, जैसे—'मधुर शब्द', सुंदर स्वाद।

(८) शारीरिक अनुभूति-सूचक शब्द मानसिक या नैतिक भावों के लिये, जैसे—कटु वाक्य, उच्च भाव, गंदी बात, जी ठंढा हो गया।

(९) समग्र वस्तु के स्थान में अंशमात्र का व्यवहार, जैसे—रोटी खाना।

(१०) शरीर के किसी विशिष्ट अंश या मन के किसी विशिष्ट उपादान के अनुसार किसी मनुष्य या जीव का नाम, जैसे—शुभ्र केश, सुग्रीव, महाशय।

(११) किसी विशेष चिह्न के अनुसार, जैसे—लाल पगड़ी।

(१२) आधार के लिये आधेय, जाति के लिये व्यक्ति, जैसे—'वे तो कालिदास हैं'।

(१३) आधेय के लिये आधार, जैसे—थाली परोसी गई, सारा शहर कह रहा है।

(१४) गुणी के लिये उसका गुण, जैसे-विद्या प्रतिष्ठा चाहती है।

(१५) जिस पदार्थ से कोई वस्तु बनी है, उस पदार्थ के अनुसार उस वस्तु का नाम, जैसे—एक टीन, एक गिलास।

(१६) कभी कभी शब्द का अर्थ संपूर्ण बदल जाता है।"

यह सब लिखने का अभिप्राय यह है कि अलंकार, वास्तव में, भाषा के क्रम-विकास हैं, बाहर से भाषा में पहनाने की चीज नहीं। अतएव आजकल के नवीन आलोचक—जो अलंकारों से चिढ़कर उनकी उपेक्षा करते हैं और उन्हें भाषा के नैसर्गिक प्रवाह में बाधक समझते हैं—बड़े भ्रम में हैं।

इस संबंध में अपनी बात स्पष्ट करने के लिये थोड़ी और मीमांसा करने की आवश्यकता है। अलंकार-विशारदों ने अलंकार को शब्दालंकार और अर्थालंकार, इन दो भागों में विभक्त किया है। अर्थालंकार के क्रम-विकास का भाषा और भाव से कैसा ऐक्य है, यह हम ऊपर लिख चुके हैं। वास्तव में अलंकार के मूल-तत्त्वों को न समझनेवाले 'स्वभावोक्ति' इत्यादि अलंकारों को व्यर्थ का अलंकार-भेद कहकर नामकरण की हँसी उड़ाते हैं। यदि हम यह मान लें कि अलंकार भाषा और व्यंजना के अंग हैं—और विकसित परिपक्व अंग हैं—तो यह भ्रम न हो। वास्तव में जो वाक्य वाच्यार्थ में अधिकतर प्रयुक्त हो, उसमें भाषा-व्यंजना के प्रयोग का प्रदर्शन नहीं है। जिस वाक्य में शब्द अपने ठेठ वाच्यार्थ से पृथक् होकर अन्य अर्थ देते हैं उस वाक्य को स्वभावोक्ति कह देने में क्या हानि है? न जाने फिर लोग स्वभावोक्ति से क्यों चिढ़ते हैं? हाँ, एक बात अवश्य है। वास्तव में अलंकार शब्द का प्रयोग नितांत भ्रमात्मक है। अलंकार को हम शरीर से पृथक्

कोई अन्य वस्तु मानते हैं। सोने का कड़ा अलंकार है, परंतु सुंदर नाक अलंकार नहीं है। काजल अलंकार है, परंतु 'चारु चपल अनियारे नैन' अलंकार नहीं हैं। यही भ्रम का कारण है। साहित्य में अलंकार वस्तुत: बाहर से लाकर भाषा में बिठाए जाने-वाला कोई पदार्थ नहीं, वरन् भाषा के अंतर्गत उसका एकांगी-भूत प्रत्यय है। यदि हम अलंकारों के इस तथ्य को समझ लें, तो हमारा भ्रम बहुत कुछ दूर हो जाय।

हमने ऊपर कहा है कि भावों का वेग अथवा भाव-जनित चित्रों का उत्कर्ष बढ़ाने के लिये जो भाषा प्रयुक्त की जाती है, वह अनिवार्य रूप से आलंकारिक होगी। यदि कोई ऐसी व्यंजना-प्रणाली भी है— जिसमें अनुभूतियों के चित्रों अथवा विचारों के तीव्र करने की बात नहीं है, किंतु केवल मस्तिष्क में कौतूहल उत्पन्न करने की क्षमता है (अथवा जिस व्यंजना का हृदय पर प्रभाव नहीं पड़ता, प्रत्युत वह मस्तिष्क के कौतूहल के लिये है)—तो कोई भी विद्वान् काव्य के अंतर्गत उस प्रणाली का आदर न करेगा। केवल मानसिक व्यायाम की वस्तु का क्षणिक प्रभाव पड़ता है। परिसंख्या, प्रहेलिका, अनुप्रास, चित्र, यमक और कूट आदि अलंकार इसी कारण अच्छे अलंकारों में परिगणित नहीं होते। ये लड़कों के खिलवाड़ समझे जाते हैं। शब्दालंकार बहुधा केवल मानसिक व्यायाम की व्यंजना होते हैं। उनका आदर और अनादर प्राय: उनके प्रयोग के अनु-सार होता है। यदि हम किसी से कहें कि अमुक व्यक्ति व्यर्थ 'टायँ टायँ' कर रहा है, तो इसमें अनुप्रास भी है और मुहावरा भी। इस अनुप्रास को कोई निंद्य नहीं कह सकता। परंतु—

> छरे छबीले छैल सब, छिन छिन सुछबि अछाम।
> छितिनायक के छोहरनि, छूटत छूटि ललाम॥
>
> —रघुराजसिंह

इस उदाहरण को कोई भी अच्छा काव्य न कहेगा। अनुप्रास-प्रियता ने वास्तव में कविता को नष्ट कर दिया है।

साधारण भाव-प्रदर्शन में—जहाँ भाषा पर उसका कोई भी प्रभाव न पड़ा हो, रचना-शैली में किसी प्रकार का उक्ति-वैचित्र्य न हो—अलंकार मान लेना वास्तव में भ्रम है। परंतु अलंकारों को निश्चित करते समय भावों का ध्यान न रखना भी बड़ी भारी भूल है। वास्तव में जब हम लिखते, बोलते और सुनते हैं, तब प्रधानत: हमारा ध्यान भावों की ओर रहता है और जब हम शांतिपूर्वक बैठकर 'रचना', 'भाषा', 'व्यंजना' की विभिन्नता की ओर देखते हैं, तब हम अलंकारों की समीक्षा करते हैं। यदि बोलने अथवा लिखनेवाला, बोलते या लिखते समय, पुराने लेखकों की व्यंजना-प्रणाली का—जिन्हें हम अलंकार कहते हैं—अनुकरण करने की चेष्टा करेगा तो उसे सफलता कभी न मिलेगी। यदि वह स्मृति-पट पर पूर्व-रचना के चित्रों को रक्षित रखे हुए है और उन्हीं को परिवर्तित करके व्यक्त करता है, तो उसके भाषण और लेख में अलंकार स्वत: आ जायँगे, चाहे उनका नामकरण किसी रीति-ग्रंथ में हुआ हो या न हुआ हो। ऐसे बहुत से अँगरेजी के अलंकार हैं, जिनका नामकरण भी अलंकार-शास्त्र के रचयिताओं ने नहीं किया। पं० रामचंद्र शुक्ल ने 'जायसी-ग्रंथावली' की भूमिका में, यह प्रदर्शित करते हुए कि अँगरेजी के Hypallange का अर्थवाची अलंकार हिंदी में कोई नहीं है, ये वाक्य लिखे हैं—"योरपीय अलंकार-शास्त्र में आधेय के स्थान पर आधार के कथन की इस प्रणाली को मेटानिमी (Metonymy) अलंकार कहेंगे। इसी प्रकार अंगी की जगह पर अंग, व्यक्ति के स्थान पर जाति आदि का लाक्षणिक प्रयोग Syneedoche अलंकार कहा जाता है। सारांश यह कि चमत्कार-प्रणालियाँ बहुत हो सकती हैं।"

अभिप्राय यह कि अलंकारों की कोई परिमित संख्या नहीं हो सकती। भाषा की उन्नति के साथ साथ इनमें भी उन्नति होगी। 'रमणीयता' के आदर्श में भी परिवर्तन हो सकता है। किसी समय बड़े बड़े वाक्यों को एक ही क्रिया में अन्वित करके बोलने या लिखने में अधिक प्रभाव माना जाता था और लोगों ने 'सहोक्ति' अलंकार कहकर इसकी व्यंजना-प्रणाली का अनुमोदन भी किया है। किंतु अब लोग इसे पसंद नहीं करते।

इस संक्षिप्त समीक्षा के बाद आगे हम बरवै रामायण से अलंकारों के कुछ उदाहरण देते हैं—

(१) उहकु न है उजियरिया निसि नहिं घाम।
जगत जरत अस लागु मोहिं बिनु राम॥ (निश्चयालंकार)

(२) सम सुबरन सुखमाकर सुखद न थोर।
सीय अंग, सखि! कोमल, कनक कठोर॥
सियमुख सरदकमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह, निसि दिन यह बिगसाइ॥
(व्यतिरेक अलंकार)

(३) सिय तुव अंग-रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेलि पहिरावौं चंपक होत॥
(मीलित तद्गुण अलंकार)

(४) चंपक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे जब कुँभिलाइ॥
(उन्मीलित तद्गुण अलंकार)

(५) केस-मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥
(अतद्गुण अलंकार)

(६) मुख अनुहरिया केवल चंद समान।

(प्रतीप अलंकार)

(७) द्वै भुज कर हरि रघुवर सुंदर वेष।
एक जीभ कर लछिमन दूसर शेष॥

(हीन अभेदरूपक अलंकार)

(८) बेद-नाम कहि, अँगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लखन के पास॥

(कूट अथवा सूक्ष्म अलंकार)

(९) गरब करहु रघुनंदन जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह॥

(प्रतीप अलंकार)

(१०) अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुदरी कंकन होइ॥

(अतिशयोक्ति अलंकार)

(११) जटा मुकुट कर सर धनु, संग मरीच।
चितवनि बसति कनखियनु अँखियनु बीच॥

(स्वभावोक्ति अलंकार)

अलंकारों के इन उदाहरणों के पश्चात् हमें गोस्वामीजी के अनोखे वर्णनों के भी कुछ उदाहरण देने हैं। सीताजी के रूप-वर्णन के साथ राम के रूप का भी अच्छा वर्णन है; परंतु प्रधानता सीता-स्वरूप-वर्णन की ही है। इतना सुंदर व्यंग्य संभवतः अन्यत्र दृष्टिगत न हो।

गरब करहु रघुनंदन जनि मन माँह।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह॥

छाँह काली होती है। राम का स्वरूप भी श्यामवर्ण है। अतएव व्यंग्य यह है कि राम का सुंदर से सुंदर स्वरूप सीता की

छाँह के सदृश है। गोस्वामीजी इस बात के लिये प्रसिद्ध हैं कि उनके वर्णनों में कहीं अश्लीलता नहीं आई है। इसका कितना सुंदर उदाहरण यह है—

उठी सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।
सिय रघुबर के भए उनींदे नैन॥

स्वरूप-सौंदर्य के व्यक्त करने की कितनी सुंदर शब्द-योजना है—

चितवनि बसति कनखियनु अँखियनु बीच।

बहुत से लोगों ने नेत्रों के संबंध में विरहियों के भावों को भी व्यक्त किया है, परंतु गोस्वामीजी की इन पंक्तियों में कुछ विशेषता है, जिसका परवर्ती फुटकर कवियों ने बहुत अनुकरण किया है—

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ॥

दीनता और विश्वास का कितना सुंदर सम्मिश्रण है!—

केहि गिनती महँ? गिनती जस बनघास।
राम जपत भए तुलसी तुलसीदास॥

इस छोटे से ग्रंथ में इसी प्रकार की और भी सुंदर उक्तियाँ हैं। पौराणिक कथाओं पर गोस्वामीजी की आस्था थी, यह भी उत्तर-कांड से पुष्ट होता है। अब हम पं० कृष्णविहारी मिश्र के लेख से कुछ, भाव-सादृश्य-विषयक, अवतरण उद्धृत करते हैं और उनके विषय में उक्त लेखक के विचार भी—

"चंपक-हरवा अँग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरे, जब कुँभिलाइ॥ (तुलसी)
रंच न लखियत पहिरिए कंचन से तन बाल।
कुम्हिलाने जानी परै उर चंपे की माल॥ (बिहारी)
अब जीवन कै है कपि आस न कोइ।
कनगुरिया कै मुदरी कंकन होइ॥ (तुलसी)

तुम पूछत कहि मुद्रिके मौन होत यहि नाम।
कंकन की पदवी दई तुम बिनु या कहँ राम॥ (केशव)

केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत॥ (तुलसी)

मुकुत हार हरि के हिये मरकत मनिमय होत।
पुनि पावत रुचि राधिका मुख मुसकानि उदोत॥ (मतिराम)

बिरह आगि उर ऊपर जब अधिकाइ।
ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिं बुझाइ॥ (तुलसी)

सखियाँ ह्वै मेरी मोहिं अँखियाँ न सींचतीं तौ,
याही रतिया मैं जाती छतिया छ्टूक ह्वै॥ (देव)

"ऊपर जो दो-चार उदाहरण दिए गए हैं उनको देखकर पाठक स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि पूर्ववर्ती कवि के भाव का अपहरण करके भी परवर्ती कवि भाव के किसी नूतन चमत्कार का समावेश नहीं कर सके हैं।

"मतिराम ने 'मुख मुसकानि' की आभा से पूर्वरूप का आविर्भाव करने में कुछ चतुरता अवश्य दिखलाई है, पर गोस्वामीजी के आगे नहीं निकल सके। बिहारी ने तो सीधे चोरी की है। उन्होंने दोहे में 'कंचन तन' जोड़कर कोई खूबी नहीं पैदा की। केशव का वर्णन बिलकुल विलग है। संभव है, यह तुलसीदास के बरवै को देखकर न बना हो और 'प्रसन्नराघव' या 'हनुमन्नाटक' के इसी भाववाले श्लोक का अनुवाद मात्र हो। जो हो, गोस्वामीजी का भाव इस तुलना में भी बढ़कर है। देव ने आँखों को सखी का पद प्रदान किया है और उन्हीं के द्वारा नायिका के जीवन की रक्षा करवाई है; क्योंकि यदि आँखें अश्रु-सिंचन न करतीं तो छाती टूक टूक हो जाती और नायिका मर जाती। रोने से दुःख हलका होता है, इस लोक-प्रसिद्ध ज्ञान का समावेश देव ने अच्छे ढंग से

किया है। अश्रु-प्रवाह से दुःख में कमी होगी और इस तरह जीवन-रक्षा होगी। यह काम आँखें करती हैं, इसलिये उन्हें 'सखियाँ' कहना वाजिब है। देव ने भाव में इतनी ही नूतनता पैदा की है। इस प्रयत्न के कारण यद्यपि यह चोरी के इलजाम से बरी होते हैं, फिर भी तुलसीदास के भाव के आगे वह भी नहीं निकल सके। विरह-विधुरा सीता विरह-ताप में अपने प्राण गँवाने को तुली बैठी हैं, परंतु उनके इस काम में आँखें बाधा डालती हैं, इसलिये सचमुच वे शत्रुता का काम कर रही हैं। सो गोस्वामीजी का उनको 'बैरिनि' कहना कितना उपयुक्त है। बरवै में निराशा और कातरता का भाव जिस खूबी से प्रकट किया गया है, वह देव के छंद में नहीं है।"

इस धारणा से प्रत्येक साहित्य-सेवी सहमत होगा; अपने अपने कवि के पीछे राग अलापनेवालों में चाहे कुछ मतभेद क्यों न हो।

बरवै रामायण की आलोचना समाप्त करने के पूर्व एक और उपयोगी विषय की संक्षिप्त चर्चा कर देनी आवश्यक है। श्रीरामचंद्रजी के चरित्र-निर्माण में गोस्वामी तुलसीदासजी ने देवताओं और राक्षसों का चरित्र-चित्रण इतना उलझा दिया है कि दोनों का एक दूसरे से पार्थक्य नहीं किया जा सकता। बरवै रामायण में यद्यपि चरित्र-चित्रण के विकास का कोई स्थान नहीं है, परंतु असुरों और देवताओं की चर्चा इसमें भी आ गई है।

राम-सुजस कर चहुँ जुग होत प्रचार।
असुरन कहँ लखि लागत जग अँधियार॥ (३१)

बरवै रामायण में शूर्पणखा की तथा और कुछ राक्षसों की चर्चा भी आई है। इसके अतिरिक्त उसमें देवताओं की स्थिति का भी संकेत है। अतएव यह समझ लेना आवश्यक है कि देवता और राक्षस क्या हैं, उनमें और मनुष्यों में कौन सा भेद है, भार-

तीय संस्कृति और इतिहास में उनका क्या स्थान है और गोस्वामीजी ने उनका चित्रण कैसा और किस आधार पर किया है।

ऊपर बतलाया गया है कि बरवै रामायण संक्षिप्त और अपूर्ण है। अन्य व्यक्तियों और वर्गों की भाँति इसमें देवताओं और राक्षसों का भी चरित्र स्पष्ट नहीं है। अतएव पहले हम, भारत के प्राचीन ग्रंथों के आधार पर, देवताओं का संक्षिप्त विवेचन करने का प्रयत्न करेंगे और तदनंतर साधारणतः गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों के तथा विशेषतः रामचरितमानस के आधार पर देवताओं और असुरों के संबंध में अपने विचार प्रकट करेंगे।

रज, सत्, तम के क्रमशः प्रतिरूप ब्रह्मा, विष्णु और महेश सृष्टि, स्थिति और संहार के विधायक माने गए हैं; परंतु यह देश स्वयं भी देव-सृष्टि के लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश का कार्य करता है। वैदिक युग से यहाँ का चिंतनशील जन-समाहार न जाने कितने देवताओं को, समय समय पर, उत्पन्न करता आया है। उनकी स्थिति-प्रतिष्ठा भी थोड़े काल तक के लिये कायम रखी गई है और बाद में सृष्टि-कर्त्ताओं की स्मृति से उनका विनाश हो गया है। सारांश यह है कि मानव-जाति का मन ही देव-सृष्टि के उद्भव, विस्तार और अंत का क्रीड़ा-क्षेत्र रहा है। वैदिक युग से मनुष्यों का एक ऐसा अल्प वर्ग साथ ही साथ चला आ रहा है जो बहु-संख्यकों की इस देवताबाजी को उनकी कमजोरी समझता रहा है। देव-सृष्टि की परिस्थिति पर उसे कभी विश्वास हुआ ही नहीं। वह उसे मन की अनैसर्गिक परिस्थिति की कल्पना ही समझता रहा। मनुष्य की जिन जिन भावनाओं की प्रेरणा से देव-सृष्टि बनी उनका संकेत नीचे दिया जाता है। उन सब का तार्किक वर्गीकरण असंभव है।

कार्य-कारण की पद्धति द्वारा इस विश्व की सृजन-शक्ति के लिये एक देवता बनाए गए। फिर उस विश्व को उस शक्ति से ओत-

प्रोत देखने के प्रयास में, विश्व के गत्यात्मक स्वरूपों में, देव-शक्तियों का आरोप हुआ। स्थूल दृष्टि के लिये जितने पदार्थ क्रियमाण दिखाई दिए उनके पृथक् पृथक् देवता बने; यही नहीं प्रत्युत ऐसे स्थावर स्वरूपों में भी देवत्व का अध्याहार हुआ जिनमें आकर्षण और सौंदर्य था। चिंतनशील जन-समुदाय इस स्वनिर्मित देवता-मंडल के पीछे उस अखंड सत्ता को बराबर देखता रहा; परंतु जन-साधारण के लिये वह संबंध स्थिर न रह सका। अतएव अपने स्थूल रूप में बहुदेवोपासना आरंभ हो गई। उन्हें सब देवता पृथक् पृथक् और स्वतंत्र दिखाई देने लगे। इन देवताओं की अवच्छन्न शक्ति का भी उतना ध्यान न रहा। सारा देवत्व उनके व्यक्त स्वरूपों में ही केंद्रित हो गया। सीधी-सादी स्थूल पूजा आरंभ हो गई। इन देवताओं में से कुछ की सृष्टि मनुष्य ने केवल पूज्य बुद्धि की प्रेरणा से की थी और कुछ में औत्सुक्य की अनिर्वचनीयता के बाद पूज्य बुद्धि का समावेश हुआ था। जनसाधारण ने कुछ देवताओं को तो भय बुद्धि की प्रेरणा से भी जन्म दिया। अतएव अब अच्छे और बुरे दो प्रकार के देवता हो गए। विश्व के आह्लाद-कारी स्वरूपों का एक वर्ग स्थापित हुआ और ध्वंसकारी स्वरूपों का दूसरा। इसी प्रकार इसी मनोभाव की प्रेरणा से अमूर्त तथा असांसा-रिक देवताओं के भी दो वर्ग हो गए। विश्व के झंझटों में घुस-पैठ करनेवाले देवताओं से वे देवता पृथक् हो गए जो दूर रहकर उदासीन भाव से विश्व के क्रिया-कलाप का पर्य्यवेक्षण करते थे। पूजा-विधान का भी आगे चलकर देवता-वर्ग बना। यहाँ तक कि देवताओं के संबंध की विभिन्न मानसिक परिस्थितियाँ भी देवियाँ बनाई गईं। वैदिक युग के देवता राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों हैं। इस युग का प्रसिद्ध देवता 'जुहितृ' है। यूनान में जुपिटर के नाम से इसी की अर्चना होती थी। ऐसे एक-दो अंतर्राष्ट्रीय

देवता और भी हैं। विष्णु को केवल राष्ट्रीय देवता समझना चाहिए। दूसरे देशों के देवताओं में उनका नाम सुनाई नहीं देता। कुछ देवता तो केवल निसर्ग के व्यापार मात्र हैं। सविता, उषा और मरुत् इसी प्रकार के देवता हैं। प्रकृति के रूप में जहाँ कहीं आवृत्ति, वेग तथा आकर्षण दिखाई पड़ा वहाँ साधारण मनोभाव ने देवता की कल्पना कर ली। कहीं कहीं पर स्वयं निसर्ग व्यापार को देवता न मानकर उस व्यापार को, परोक्ष से प्रेरणा करनेवाला, एक देवता मान लिया गया है। इंद्र इसी प्रकार के देवता हैं। प्रकृति के कई रूपों की प्रेरणा विधायक शक्ति है। बाद में इंद्र के लिये नई नई उद्भावनाएँ की गईं और उनसे लिपटा हुआ उनका एक नया स्वरूप प्रस्तुत हुआ। वैदिक युग के देवताओं के निवास-स्थान भी पृथक् पृथक् थे। विष्णु का स्थान स्वर्ग था। इंद्र वायुमंडल के निवासी थे। अग्नि का स्थान भूमंडल था। देवताओं की बेतरह बाढ़ आ जाने के मुख्यतया दो कारण दिखाई देते हैं—(१) पर्यायवाची शब्दों की बहुलता ने प्रत्येक शब्द को एक पृथक् देवता बना दिया। सूर्य, मित्र, पूषण्, सविता इत्यादि पृथक् पृथक् देवता बन गए। वास्तव में पर्यायवाची शब्दों के नामकरण में भी परिस्थिति की कोई न कोई विशेषता दिखाई गई है। इस वृत्ति के अंतर्गत जो पूज्य बुद्धि काम करती है वही इन्हें पृथक् पृथक् रूपों में देवता बनाने के लिये भी अग्रसर हुई। वास्तव में सूर्य को देवता बनाकर मनुष्य की बुद्धि रुक नहीं गई। उसने अपने देवता में और बहुत से गुणों का शोध किया। परिणाम यह हुआ कि उन्हीं के अनुकूल सूर्य के नए नए नाम पड़े। कल्पना ने यह सोचा कि सूर्य में भिन्न भिन्न गुणों की उत्पादक परोक्ष की भिन्न भिन्न शक्तियाँ अवश्य होंगी। अतएव वे सारी विशेषताएँ पृथक् पृथक् रूप से देवता बन गईं। (२) पूजा-विधान के कर्मकांड में पवित्रता के

चरम स्वरूप को देखनेवाले, पूजा के प्रत्येक साधन में, पूर्ण पवित्रता की प्रतिष्ठा करने के वेग में देवता की प्रतिष्ठा कर बैठे। उनके लिये मंदिर का प्रवेश-'द्वार' भी देवता हो गया। पूजा करने की सारी सामग्री एक एक करके देवता के नाम से पुकारी जाने लगी। यही नहीं, जिस भक्ति-बुद्धि से अर्चना होती थी वह मानसिक परि-स्थिति 'श्रद्धा' नाम की पृथक् देवी बन गई। वैदिक युग के बहुत से देवता बाद में लुप्त हो गए। कुछ आजकल मौजूद हैं। बहुतों की पूजा में आज वह वेग नहीं रहा। मनुष्य की कल्पना तथा उसके नैतिक और व्यावहारिक आदर्श उसकी देव-सृष्टि को सजीव और निर्जीव करते रहे। बुरे कहे जानेवाले देवता छूटते गए और अच्छे कहे जानेवाले देवताओं का सम्मान बढ़ा।

वैदिक युग के सर्वमान्य देवता प्रजापति थे। देवता-सृष्टि के लिये उर्वर मस्तिष्कवाला बहुसंख्यक जन-समुदाय प्रजापति को देवता-पति समझता था। अल्पसंख्यक विद्वन्मंडली इन्हें अखंड सत्ता का प्रतिरूप मानती थी। वैदिक युग के बाद ब्राह्मणों का युग आया। इस युग में प्रजापति की भाँति शक्तिशाली और उसी प्रकार से पूजे जानेवाले देवता ब्रह्मा थे। परवर्ती युग में यही स्थान और महत्ता विष्णु को मिली। विष्णु का सम्मान इस समय भी अच्छा है। मनुष्य की चिंतन-शक्ति किस प्रकार देवताओं के विकास के साथ खिलवाड़ करती है, इसका संकेत नीचे दिए हुए कुछ देवताओं के विकास-इतिहास से मिल सकेगा।

प्रजापति—ये वैदिक युग के सबसे प्रसिद्ध देवता थे। इन्हें देवताओं का देवता कहा जाता था। नास्तिक और आस्तिक सभी को इनके प्रति श्रद्धा थी। लोगों की धारणा थी कि प्रजापति किसी को कष्ट नहीं पहुँचाते, लोगों के हर काम में सहायता करते हैं। इनकी पूजा बहुत काल तक अक्षुण्ण रूप से चलती

रही। अंत में इनके संबंध में एक भीषण किवदंती प्रचलित हो गई। कहते हैं कि प्रजापति का अपनी पुत्री सरस्वती से अनुचित स्नेह हो गया। वह कन्या अपना अनुपम सौंदर्य लेकर चारों दिशाओं में जिधर जिधर गई उधर ही उधर उसे देखने के लिये प्रजापति ने एक मुख की सृष्टि की और वे अपनी कन्या को वासना-पूर्ण दृष्टि से देखते रहे। इस प्रकार प्रजापति के, अपने मुख समेत, पाँच मुख हो गए। इस बात का भी उल्लेख है कि प्रजापति की इस कुचेष्टा पर रुष्ट होकर रुद्र ने उनका असली मुख नोचकर फेंक दिया। इस प्रकार प्रजापति के केवल चार मुख रह गए। अभी तक जिस देवता को शुद्ध और पवित्र मानकर उसकी सबसे अधिक पूजा होती थी, उसके साथ घोर पाप से युक्त यह किंवदंती क्यों चिपका दी गई इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। वैदिक काल के अंतिम युग में एक देवता की, जिनका नाम रुद्र था, पूजा जोरों से चल पड़ी थी। रुद्र के अनुयायियों और प्रजापति के भक्तों में संघर्ष अवश्य हुआ होगा। इसी के फल-स्वरूप किसी रुद्रभक्त की उर्वर कल्पना में इस किवदंती का प्रसव हुआ होगा। वैदिक काल का अंत होते होते प्रजापति की महत्ता का भी अंत होता दिखाई देता है। ब्राह्मणों के युग में प्रजापति की अवतारणा ब्रह्मा के नाम से हुई। नाम परिवर्तन होने पर भी कुत्सित किंवदंती ब्रह्मा के साथ चिपकी रही। बाद को ब्रह्मा में कई गुणों का आरोप किया गया। सृष्टि-कर्ता की पदवी उनको पहले ही से प्राप्त थी, अब उन्हें भविष्य का फलदाता कहा गया और 'विधि' नाम दिया गया। ब्रह्मा का यह नाम आज भी है, परंतु लोगों की नैतिक भावना इतनी तीव्र थी और आज भी है कि ब्रह्मा की पूजा बाद में बिलकुल न पनप सकी। समूचे भारतवर्ष में ब्रह्मा के नाम के केवल चार मंदिर हैं और वे भी लुप्तप्राय हैं। विचारणीय बात यह

है कि भारतीयों की नैतिक गति-विधि इतनी तीव्र रही है कि उन्होंने पाप करनेवाले देवता को भी दंड दिया है। जन-समुदाय की इसी नैतिक सतर्कता के शिकार होकर ब्रह्मा पदच्युत हो गए।

रुद्र—वैदिक युग के भीषण देवताओं में रुद्र का नाम उल्लेखनीय है। रुद्र की सृष्टि में उस युग की भीरु भावना और भयापन्न मनोभाव अंतर्हित हैं। लोग सोचने लगे थे कि जितनी आपत्तियाँ आती हैं, जितनी भयावनी घटनाएँ उपस्थित होती हैं उनकी प्रेरणा करनेवाली परोक्ष में एक शक्ति है। उसी शक्ति का नाम उन लोगों ने 'रुद्र' रखा। जब कोई बीमार पड़ता, जब किसी की गृहस्थी की कोई चीज खो जाती, जब पशु सहसा गायब हो जाते तब इस विघ्न के मूल में रुद्र ही समझे जाते। खोई हुई चीज को पाने के लिये उन्हीं की पूजा की जाती। यह बात ध्यान देने की है कि रुद्र में प्रलयंकरी शक्ति का अध्याहार मनुष्य ने इसी उनकी प्रारंभिक विघ्नकारिणी वृत्ति के विकास में अनुभव किया। वैदिक युग के रुद्र देवता बड़े भयावह थे। वे स्वयं विघ्न उपस्थित करते और उनके सहस्रों बेढंगे अनुयायी, जिन्हें गण कहते थे, उनका साथ देते थे। गोस्वामी तुलसीदासजी ने शिव-बरात में इन गणों का जो वर्णन किया है वह बहुत कुछ इसी वैदिक धारणा पर अवलंबित है। रुद्र के जन्म के संबंध में एक किंवदंती है। कहते हैं, जन्म लेने पर प्रजापति ने इनके क्रमश: चार नाम रखे परंतु इन्होंने उन चारों के प्रति अनिच्छा प्रकट की। अंत में इन्हें शिव, ईशान तथा महादेव नाम से परितोष हुआ। यह सच है कि रुद्र, भय के कारण, देवता बनाए गए परंतु उनके देवता-पद पर इतने दिनों तक आसीन रहने के और भी कारण हैं। वे आशुतोष हैं, अत्यंत उदार हैं। अपने ऊपर दु:ख झेलकर वे संसार का मंगल करते हैं। मनोभावों के अनुसार रुद्र के चारों ओर कथाएँ लपेटी गईं। उन्होंने विश्व

को भस्म होते देखकर विषपान किया। वे कभी अवतार नहीं लेते। उन्होंने मृत्युलोक में कैलास को सदा के लिये अपना निवासस्थान बना लिया है। राम तथा कृष्ण सभी ने इनकी पूजा की और कराई है। शीघ्रता से क्रुद्ध होनेवाले और उससे भी शीघ्र प्रसन्न होनेवाले रुद्र की परितोष-वृत्ति से थोड़ी नासमझी टपकती है। इसके अनेक उदाहरण मिलेंगे। हाथी का चर्म लपेटे हुए अर्ध-नग्न रूप में, सर्पों से परिवेष्टित इस देवता की पूजा को स्थिर रखनेवाली मनुष्य-वृत्ति की परिचालना में भी वही नैतिक आदर्श है। ये एक अनुपम देवता हैं जिनकी काम-संबंधी दुर्बलता नहीं सुनाई दी। प्रत्युत यह कहा जाता है कि इन्होंने काम को भस्म कर दिया था. शीतकाल में हिमाच्छादित कैलास में रहना और ग्रीष्म ऋतु में श्मशानों में घूमना ही रुद्र की दिनचर्य्या है। इधर रुद्र के देवत्व में बड़ा विपर्यय हो गया है। आरंभ में जिस मनोभाव ने इन्हें जन्म दिया था वह अब बिलकुल लुप्त हो गया है। ये अब तनिक भी विघ्नकारी नहीं समझे जाते, वरन् एकांत में रहनेवाले योगी के रूप में पूजे जाते हैं। यह स्वरूप गोस्वामी तुलसीदास के पूर्व ही से स्वीकृत हो चुका था। रुद्र की सरलता तथा बिल्वपत्र से उनका अनुराग पुरानी धारणाएँ हैं।

विष्णु—वैदिक युग में वरुण के बाद विष्णु की स्थापना हुई। ये विशिष्ट देवता थे। इनका स्वरूप, इनकी शान असाधारण थी। ये जन-साधारण से परे या तो क्षीरसागर में निवास करते थे या वैकुंठ में। कई परिस्थितियों के कारण जब वरुण का लोप हो गया। तब वरुण के समकक्ष एक दूसरे देवता की आवश्यकता हुई, अतएव विष्णु की सृष्टि कर ली गई। इनमें सौंदर्य और शील के साथ साथ सत्य का समन्वय है। सुकुमारता इनके चारों ओर थिरकती है। इनकी भाव-भंगी और वेश-भूषा में जो रजोगुण की

प्रधानता दिखलाई गई उसने इन्हें राजा बनाकर इनके मत्थे विश्व की संस्थापना का भार मढ़ दिया। बहुत सी कथाएँ विष्णु के विभिन्न गुणों को चरितार्थ करने के लिये फैलीं। वैकुंठवासी और क्षीरसागरशायी होने के कारण मृत्युलोक में इनकी अवतारणा अवतार द्वारा मानी गई। इनके अवतारों के संबंध में विचित्र गाथाओं का प्रचार हुआ। आज भारतवर्ष के कोने कोने में इनके भक्तों का वर्ग बड़ी संख्या में फैला हुआ है। एक ओर चिंतन-शील अनुयायियों ने वैष्णव-संप्रदाय की मीमांसा करके एक गहन दर्शन प्रस्तुत किया, दूसरी ओर अनपढ़ भक्तों के लिये पौराणिक गाथाएँ गढ़ी गईं। इस प्रकार मस्तिष्क और हृदय दोनों पर विष्णु की गहरी छाप लगी। यह एक विचारणीय बात है कि यद्यपि वैष्णवों के सब देवता क्षत्रिय हैं तो भी अहिंसा को इन लोगों ने सर्वोपरि स्थान दे रखा है। विष्णु की सुकुमारता उनके अनु-यायियों में इतनी गहरी पैठी कि उन्होंने स्त्री-सुलभ कोमलता स्वीकार करने को धर्म का एक अंग बना लिया। ऐसी परिस्थिति में शौर्य का उचित आलंबन ही नष्ट हो गया। शिकार करना तो दूर रहा, पुरुषत्व के स्वरूप ही का परिहार होने लगा। अपनी आदत से लाचार जो बंगाली वैष्णव मछली न छोड़ सके उन्होंने उसे सजीव प्राणियों के वर्ग से ही बाहर कर दिया। वैष्णवों का विकास, अच्छा सहारा लेकर, बढ़ा। उसने अच्छी विभूतियाँ दीं, परंतु उसके एकांगीपन के अपकार भी कम नहीं हुए। पहली बार वैष्णवों की ही कृपा से भारतवर्ष में सांप्रदायिक कलह की नींव पड़ी। इसकी प्रतिक्रिया हम शाक्तों और शैवों में देखते हैं।

वरुण—भारतवर्ष के प्रसिद्ध त्रिदेव के संबंध में इतना लिखने के पश्चात् अब हम कुछ छोटे-मोटे देवताओं के संबंध में कहते हैं। वरुण वैदिक युग के एक प्रसिद्ध देवता हैं। सत्यं, शिवं, सुंदरं में ये

विष्णु के आदर्श हैं। वैदिक युग में प्रजापति का अधिक बोलबाला होने के कारण इनका सम्मान उतना नहीं दिखाई पड़ता। ये निसर्ग के देवता नहीं हैं, वरन् पूज्य-भावना की अमूर्त सृष्टि हैं। वैदिक युग के भड़भड़मय जीवन में वरुण की कल्पना पनप न पाई और बाद में, विष्णु में प्रतिरूप मिल जाने के कारण, वरुण की कोई आवश्यकता न रही। इन्हें उस समय निसर्गदेव बनाकर जल के अधिष्ठाता के पद पर आसीन कर दिया गया।

गणेश—गणेश की कल्पना भी वैदिक काल से है। रुद्र के विघ्नकारी संघ के प्रमुख नेता गणेश थे। इनकी अर्चना इसलिये नहीं होती थी कि ये भविष्य के विघ्नों को दूर करें वरन् इसलिये कि ये स्वयं कोई विघ्न न उपस्थित कर दें। भयबुद्धि की प्रेरणा से, इनको परितुष्ट रखने के लिये, इनकी पूजा की जाती थी। इनके हाथी का मुख था। इस कल्पना का गणों की बेढंगी सूरत की कल्पना से बहुत कुछ साम्य है। इनकी पूजा अभी तक क्यों चलती रही, इसके मूल में भी वही वृत्ति है जो रुद्र की पूजा को स्थायी रखने की भावना में है। जिस प्रकार रुद्र के भक्तों ने बाद में रुद्र को बहुत से सहृदय गुणों से परिवेष्टित कर दिया, उसी प्रकार गणेश की भावना में भी घोर परिवर्तन हुआ। वे अब विघ्न करनेवाले नहीं रहे, वरन् दूसरों के विघ्नों को दूर करनेवाले हुए। आरंभ में इसी लिये इनकी पूजा की जाती है। इनका ग्रहण बुद्धि के अधिष्ठाता देवता के रूप में भी किया गया। यह इनकी कीर्ति-संपन्नता का एक और कारण है। वेदव्यास ने महाभारत लिखने के लिये इन्हीं की लेखनी का आश्रय लिया और ग्रंथ लिखने के संबंध में इनकी उनकी जो शर्तें हुईं उन्हें सब लोग जानते ही हैं।

इंद्र—राष्ट्र के लिये एक शासक की आवश्यकता सर्वत्र देखकर देवताओं की भीड़ के लिये भी एक शासक बनाना आवश्यक था।

इस पद के लिये इंद्र चुने गए। वायुमंडल की परिस्थिति में, जलवृष्टि के नियामक रूप में, इंद्र की परिस्थिति पहले ही स्वीकार कर ली गई थी। उन्हें नया स्थान देना था। राजाओं के लिये व्यभिचार क्षम्य देखा गया। इसलिये इंद्र देवराज बनने के योग्य समझे गए। इनके व्यभिचार की सैकड़ों कहानियाँ प्रचलित थीं। इनकी कायरता की भी गाथाएँ थीं। अपने पद के लिये ये सर्वथा भीरु रहते थे। उपासकों की सफलता में विघ्न उपस्थित करना इनका काम था। बुरे होने के कारण इनकी पूजा का प्रचार नहीं बढ़ सका। भारतीय भावना ने इन्हें आदर्श रूप में कभी स्वीकार नहीं किया। वैदिक युग में भी केवल वर्षा के लिये ही इनकी अर्चना होती थी। बाद में भी ठीक मात्रा में वृष्टि मिलने की आशा से ही इन्हें लोग पूजते थे। कृष्णजी ने इनकी वह उपासना भी बंद करा दी। साधारणतया आजकल इनकी पूजा नहीं होती। समस्त भारत में इनका केवल एक मंदिर है।

कृष्ण—ये वैदिक युग के देवता नहीं हैं। इनकी परिस्थिति बाद में स्वीकार की गई है। एक अवतरण से ज्ञात होता है कि आभीर (अहीर) अनार्य थे और कृष्ण थे अनार्यों के देवता। यहाँ के आदिम निवासियों में इनका सम्मान था। इनके अछूतपने के ही कारण बहुत स्थलों पर इनकी पूजा का विरोध मिलता है। विचार ने बाद को क्षत्रिय के रूप में इनकी कल्पना की और महाभारत के ऐतिहासिक कृष्ण को विष्णु का अवतारी बनाकर इन कृष्ण से मिला दिया। परंतु दोनों कृष्ण आज भी पृथक् पृथक् दिखाई देते हैं। सारे देव-वर्ग में एक कृष्ण का ही अपवाद मिलेगा जिनके प्रेम-तांडव को जनता ने क्षमा कर दिया और आज भी उनकी पूजा होती है।

चंडी—वैदिक युग में स्त्री-पुरुष के अधिकार समान थे। परवर्ती काल में स्त्रियों के समक्ष ऐसे आदर्श रखे गए कि उनमें पुरुषों के अधीन

रहने की भावना स्वभावत: उत्पन्न हो गई। शौर्य आदि गुणों का लोप हो गया। स्त्रियों की इस परवशता के प्रतिकूल भावना उठी। चंडी की कल्पना ऐसे स्वरूप में की गई कि जिसमें पुरुषत्व का पूर्ण परिपाक है। सुलभकोपना चंडी ने ऐसे ऐसे कार्य किए हैं जो देवता नहीं कर सके। चंडी की स्थापना वैदिक युग के बाद की है। इनके उपासक शाक्त कहलाए और आहार-व्यवहार में इनका वैष्णवों के साथ घोर विरोध दिखाई पड़ा। इनकी उत्पत्ति में विशृंखलता की गहरी प्रेरणा है। अतएव संस्कारों से ऊबे हुए लोगों का एक वर्ग इनकी उपासना में रत हो गया।

मित्र और **सविता** वास्तव में एक ही देवता के दो हो गए हैं। यही क्यों, सूर्य के जितने नाम हैं वे सब पृथक् देवता माने जाने लगे। किसी गुण-विशेष की अभिव्यक्ति के लिये कोई नाम रखा गया और बाद में वह एक देवता हो गया। सविता के चित्र को एक लंबा बूट पहने हुए दिखाया जाता है। कदाचित् यह यूनानियों का प्रभाव हो। कहते हैं कि सविता का विवाह शिल्पिदेवता विश्वकर्मा की कन्या के साथ हुआ था। प्रखरता और उष्णता में कमी करने के लिये विश्वकर्मा ने इनको अपनी खराद पर चढ़ाकर इनका १/५ १/२ भाग काटकर पृथक् कर दिया जिससे वधू वर के साथ सुखपूर्वक रह सके। इस कथा को कुछ लोग केवल अन्योक्ति मानते हैं और कहते हैं कि इसमें सूर्य की घटती हुई गर्मी की ओर संकेत किया गया है।

अधिक देवताओं का इतिहास और विकास दिखाने से प्रसंग बहुत बढ़ जायगा अतएव इसे हम यहीं समाप्त करते हैं। जानने की बात केवल यह है कि जिन भावनाओं से प्रेरित होकर आज हम खैरे बाबा के सदृश बहुत से बाबाओं, भुइयाँ माता की भाँति बहुत सी माताओं, आनंदेश्वर की भाँति बहुत से ईश्वरों तथा तपेश्वरी

देवी की भाँति बहुत सी देवियों की सृष्टि करते हैं, करीब करीब उसी मनोभाव द्वारा अन्य देवताओं की भी सृष्टि आदिकाल से होती आई है। आजकल बहुत से देवताओं का आवाहन किसी शुभ कार्य के दिन होता है, अन्यथा उनके नाम तक लोग नहीं जानते। देवताओं के इस इतिहास से एक बात तो निःसंदेह स्पष्ट हो जायगी कि गोस्वामी तुलसीदासजी ने उनके संबंध में जो उद्भावनाएँ की हैं उनमें बल है।

गोस्वामीजी ने दैवी, मानवी और राक्षसी तीनों सृष्टियों को परस्पर मिलते-जुलते, लड़ते-झगड़ते और सहायता करते दिखलाया है। गोस्वामीजी के सर्वोत्तम ग्रंथ रामचरितमानस में इन तीनों सृष्टियों का जीवन परस्पर इतना उलझा हुआ है कि उनमें से किसी एक के निकाल देने पर दूसरे का चित्रण अपूर्ण और संकुचित हो जाता है। तुलसी-ग्रंथावली के तीसरे खंड में देवताओं के संबंध में कुछ विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त यत्र-तत्र कुछ लेख भी प्रकाशित हुए हैं। रामचरितमानस में विष्णु, शिव और ब्रह्मा को छोड़कर और सब देवता गाने-बजानेवाले स्त्रैण स्वरूप में ही सामने आते हैं। उनकी रमणियाँ नाचती और गाती हैं। रामचंद्रजी की सांसारिक क्रियाओं को ये देवता देखा करते हैं और उनकी विजय होने पर फूल बरसाते और दुंदुभी बजाते हैं। रावण जब अपने शत्रु के प्रति इनकी यह नपुंसक सहानुभूति देखता है तब आकाश में उड़कर इन्हें पकड़ने दौड़ता है—

'सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल'।

देवताओं की तत्कालीन उपहासास्पद परिस्थिति न केवल उनकी कायरता की सूचना देती है, वरन् उनकी हीनता का भी प्रदर्शन करती है—

'हाहाकार करत सुर भागे। खलहु जाहु कहँ मोरें आगे॥'

रावण की इस डाँट से बहुतों की जान निकल गई होगी।

वैसे भी भक्तों की भक्ति में, उपासकों की उपासना में, संतों के संत-मत में और ध्याताओं के ध्यान में देवता लोग ही विघ्न उपस्थित करते हैं। उन्हें अपनी स्थिति का बड़ा ध्यान है। नारद की बुराई, इंद्र की लंपटता गोस्वामीजी ने स्पष्ट दिखाई है। इंद्र के विषय में उनकी उक्ति सुनिए—

'जे कामी लोलुप जग माँही। हरिल काक सम सबहिं डराहीं॥'

और देखिए—

'सूख हाड़ लइ भाग सठ

× × × ×

× × × ×

तिमि सुरपतिहिं न लाज।'

और देवताओं के लिये देखिए—

'सकल कहहिं कब होइहि काली। बिघन बनावहिं देव कुचाली॥
तिन्हहिं सुहाइ न अवध बधावा। चोरहिं चाँदिनि राति न भावा॥

× × ×

ऊँच निवासु नीचि करतूती। देखि न सकहिं पराइ बिभूती॥'

इसी प्रकार की न जाने कितनी हेय भावनाएँ देवताओं के लिये व्यक्त की गई हैं। गोस्वामीजी की इस उद्भावना का भी उद्गम पुराण ही हैं। अतिरंजना केवल उनकी हो सकती है।

राक्षसों के संबंध में विवेचन नहीं किया गया। राक्षस अथवा असुर शब्द से गोस्वामी तुलसीदास का क्या अभिप्राय था, उनके असुर और राक्षस अपनी मानसिक परिस्थिति के कारण कितने वर्गों में विभाजित किए जा सकते हैं, इस विषय में आगे कुछ कहा

जायगा। यहाँ हम राक्षसों और असुरों के संबंध की विभिन्न धारणाओं का दिग्दर्शन करा देना चाहते हैं।

विष्णुपुराण के अनुसार देव और दैत्य दोनों कश्यप के पुत्र थे। समुद्र-मंथन के समय जो सुरा निकली उसे ग्रहण न करने के कारण दैत्य असुर कहलाए। ऋग्वेद में राक्षसों की चर्चा आई है परंतु उनका कोई आकार स्थिर नहीं किया जा सकता। वे निशाचर थे और रात्रिचर जातियों के वर्ग में गिने जाते थे। उस समय मनुष्य-योनि में यह वर्ग न था। वाल्मीकीय रामायण, सर्ग ३५, आदिकांड में यह प्रसंग आया है। पाश्चात्यों ने अपने इतिहासों में इन दोनों जातियों के निवासस्थानों का निर्देश करने का प्रयत्न किया है। उनका कहना है कि जंबूद्वीप में देव और शाकद्वीप में असुर रहते थे। इसकी पुष्टि मत्स्यपुराण से भी होती है। फारसी के इतिहासों में हिरण्यकशिपु के वध का स्मारक, 'नृसिंह' का बिगड़ा हुआ रूप, 'नरमसिन' माना है। ऐसी ही अनेक कल्पनाओं द्वारा असुरों के शुक्राचार्य तथा उनसे संबंध रखनेवाले अन्य प्रतीकों की स्थापना की गई है। इस कल्पना द्वारा असुरों को, मनुष्यों से अभिन्न न मानकर, एक जाति-विशेष माना गया है।

भगवद्गीता, अध्याय ११, श्लोक २२ में रुद्र, आदित्य, वसु साध्य, विश्वेदेवा, अश्विन, मरुत्, पितृगण, गंधर्व, यक्ष, सिद्ध, असुर— इतने देवताओं के वर्ग गिनाए गए हैं*। अमरकोष में आदित्य, विश्व, वसु, भास्वर, अनिल, महाराजा साध्य, रुद्र, विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गंधर्व, किन्नर, पिशाच, हाहा, गुह्यक, सिद्ध, हूहू–इतने देवताओं के वर्ग गिनाए गए हैं। गंधर्व, अप्सरा, गुह्यक और राक्षस आदि का स्थान भूलोक बतलाया गया है और शेष दूसरों का स्वर्ग। इस

* रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गंधर्वयक्षासुरसिद्धसंघा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥ (२२)

वर्णन से एक बात तो स्पष्ट है कि असुर भी देवता वर्ग के हैं और वे इसी पृथ्वी पर रहते हैं।

थियॉसफिस्ट लोगों ने भी इन जातियों की खोज की है और यत्र-तत्र उनके निवास-स्थान निर्धारित किए हैं। मैंने इस विषय का एक लेख देखा था कि देवों और परियों का विकास किस प्रकार होता है और शेष सृष्टि के साथ उनकी जीवनोन्नति किस तरह संबद्ध है। उस लेख का अत्यंत संक्षिप्त अंश उद्धृत किया जाता है—"पशुओं को अपने विकास का हाल मालूम नहीं होता पर इन छोटे देवगणों में पहले की अपेक्षा, बुद्धि का अधिक विकास रहता है इसलिए ये स्वयं अपने विकास और उन्नति के लिये उत्सुक रहते हैं। जीवात्मा जैसे बड़े वृक्षों से स्तनपायी पशुओं में होता हुआ मनुष्य-योनि में पहुँचता है वैसे ही पक्षियों से, और अंत में कुछ मधु-मक्खियों से भी, भूतलवासी परियों (देवगणों) में कुछ आत्मतत्व पहुँचता है। इसी प्रकार कुछ आत्मतत्व समुद्री घास में से मूँगा कीट और स्पंज-योनियों तथा मछलियों में होता हुआ अप्सराओं में, अथवा पानी की सतह में रहनेवाली परियों में, पहुँचता है। फिर वहाँ से बादल की परियों में, विकास द्वारा, जाता है। यहाँ तक सब के ईथर के शरीर हैं और ये अभी तक व्यक्तित्व को नहीं पहुँचे हैं। पृथ्वी की सतह पर रहनेवाली परियों से आगे अग्नि में खेलनेवाले छोटे देवगणों की श्रेणी है, इनसे आगे बढ़ने पर ईथर के शरीर का त्याग होकर भुवर्लोक की (एस्ट्रल) प्रकृति से इनके शरीर बनते हैं। इससे थोड़ा ही आगे बढ़ने पर इनको व्यक्तित्व-भाव मिल जाता है और ये ऊँची देवयोनि में पहुँचते हैं। इन्हें कभी कभी 'कामदेवाः' संज्ञा दी जाती है। इनसे और आगेवालों को 'रूपदेवाः' और 'अरूपदेवाः' कहते हैं; क्योंकि उनका निवास रूप-लोक और अरूपलोक से नीचे नहीं हो सकता।"

ऊपर की विचार-धारा में असुरों अथवा राक्षसों का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। हमने ऊपर की पंक्तियाँ केवल पाठकों को यह बताने के लिये उद्धृत की हैं कि शिक्षित संसार किस प्रकार अविश्वसनीय सृष्टि को विश्वसनीय परिधि के अंतर्गत लाने का प्रयत्न कर रहा है। गीता के नवें अध्याय के ११वें और १२वें श्लोकों में 'आसुरी' तथा 'राक्षसी' स्वभाव का वर्णन करते हुए कहा गया है—"मूढ़ लोग मेरे परम स्वरूप को नहीं जानते जो सब भूतों का महान् ईश्वर है। वे मुझे मानवशरीरधारी समझकर मेरी अवहेलना करते हैं। उनकी आशा व्यर्थ है। उनका कर्म और ज्ञान निरर्थक तथा चित्त भ्रष्ट है। वे मोहात्मक राक्षसी और आसुरी प्रकृति का आश्रय लिए रहते हैं*।" इस कथन से इतना तो स्पष्ट विदित हो जाता है कि राक्षस अथवा असुर लोग भगवान् के, और अवतार के भी, विरोधी थे। गीता में ही आगे, सोलहवें अध्याय के चौथे श्लोक में, कुछ ऐसी मानसिक दुर्बलताएँ दिखलाई गई हैं जो आसुरी अथवा राक्षसी संपत्ति में जनमे हुए व्यक्ति को प्राप्त होती हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि "हे पार्थ! दंभ, दर्प, अभिमान, क्रोध, पारुष्य और अज्ञान आसुरी संपत्ति में जनमे हुए (व्यक्ति) को प्राप्त होते हैं†।"

महाभारत, शांतिपर्व के १६४ और १६५ अध्यायों में भी इनमें से कुछ दोषों का उल्लेख मिलता है। परंतु इस प्रसंग में प्रयुक्त

---

* अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११ ॥
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२ ॥ (अध्याय ९)

† दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥ ४ ॥ (अध्याय १६)

आसुरी और राक्षसी वर्णन कदाचित् केवल उपमा-रूप में गृहीत हों, अतः हमें गीता के पूर्वोक्त अध्याय के सातवें तथा उसके आगे के छंदों का भाव भी यहाँ देना आवश्यक है। इन छंदों में आसुरी सृष्टि का विशद वर्णन इस प्रकार है*—"असुर लोग नहीं जानते कि

---

* द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरः पार्थ मे शृणु॥ ६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नाऽपि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम्॥ ८॥
एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥ ९॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान्प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः॥ १०॥
चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्॥ १२॥
इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥ १४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः॥ १५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥

प्रवृत्ति और निवृत्ति क्या हैं; अर्थात् उन्हें नहीं मालूम कि क्या करना चाहिए, क्या नहीं। उनको न तो शुद्धता का खयाल रहता है और न आचरण तथा सत्य का ही। वे कहते हैं कि सारा जगत् असत्य और निराधार है, परमेश्वर से रहित और अ-परस्पर-संभूत है। भला विषय-वासना को छोड़कर इसका और क्या हेतु हो सकता है? इस प्रकार की दृष्टि को स्वीकृत कर ऐसे अल्प-बुद्धि नष्टात्मा दुष्ट लोग क्रूर कर्म करते हुए जगत् का क्षय करने के लिये उत्पन्न होते रहते हैं और विषयोपभोग की इच्छा का आश्रय लेकर दंभ, भाव, मद से व्याप्त होकर मोह के कारण झूठ-मूठ विश्वास या कल्पना के वशीभूत होकर गंदे काम करते हैं। इसी प्रकार वे काम-क्रोध-परायण लोग मरणपर्यंत कामोपभोग में डूबे हुए, और निश्चयपूर्वक उसी को मानते हुए, सैकड़ों आशापाशों में जकड़े रहते हैं; सुख लूटने के लिये अन्याय-पूर्वक बहुत सा अर्थ-संचय करने की लालसा रखते हैं। 'मैंने आज यह पा लिया; कल उस मनोरथ को सिद्ध करूँगा; यह धन मेरे पास है और फिर वह भी मेरा होगा'—इत्यादि का चितन ही उनका नैत्यिक कार्य है।'

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु॥ १९॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्॥२०॥(अध्याय १६)
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥ ५॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥६॥(अध्याय १७)

गीता में पूर्वोक्त भावों से जो असुरों को परिभाषित करने का प्रयत्न किया गया है वह इतना व्यापक है कि किसी को 'असुर' बनाने के लिये किसी विशेष विलक्षणता की आवश्यकता नहीं। हम लोगों में ही आधे से अधिक असुर हैं। गीता के इन श्लोकों द्वारा कदाचित् चार्वाक के सिद्धांतों पर आक्रमण किया गया है। चार्वाक का सिद्धांत क्या है, इस विषय में हम स्वर्गीय लोकमान्य तिलक के विचार उद्धृत करते हैं—"इनमें से पहला वर्ग केवल सुखवादियों का है। इस पंथ का कहना है कि परलोक और परोपकार सब झूठ हैं; आध्यात्मिक शास्त्रों को चालाक लोगों ने, अपना पेट भरने के लिये, लिखा है; इस जगत् में स्वार्थ ही सत्य है और जिस उपाय से स्वार्थ-सिद्धि हो सके अथवा जिसके द्वारा स्वयं अपने आधिभौतिक सुख की वृद्धि हो उसी को न्याय्य, प्रशस्त या श्रेयस्कर समझना चाहिए। भारतवर्ष में, प्राचीन काल में, चार्वाक ने बड़े उत्साह से इस मत का प्रतिपादन किया था। रामायण में, अयोध्याकांड के अंत में, जाबालि का कुटिल उपदेश तथा महाभारत, आदि-पर्व, १४२ अध्याय में वर्णित कणिक की नीति भी इसी मार्ग की है। चार्वाक का मत है कि जब पंचमहाभूत एकत्र होते हैं तब, उनके मिलाप से, आत्मा नाम का एक गुण उत्पन्न हो जाता है और देह के जलने पर उसके साथ साथ वह भी जल जाता है, इसलिये विद्वानों का कर्तव्य है कि आत्म-विचार के झमेले में न पड़कर इस शरीर के जीवित रहने तक 'ऋण लेकर भी त्योहार मनावे' (ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्), क्योंकि मरने के बाद रहता ही क्या है। चार्वाक भारतवर्ष में उत्पन्न हुआ था, अतः उसने घृत से ही अपनी तृष्णा बुझा ली, अन्यथा उक्त सूत्र का रूपांतर "ऋणं कृत्वा सुरां पिबेत्" हो गया होता! कहाँ का धर्म और कहाँ का परोपकार! इस संसार में जितने पदार्थ परमेश्वर ने—शिव, शिव!

भूल हो गई; परमेश्वर आया कहाँ से ?--इस संसार में जितने पदार्थ हैं वे सब मेरे ही उपभोग के लिये हैं। उनका दूसरा कोई भी उपयोग नहीं दिखलाई पड़ता,—अर्थात् है ही नहीं! मैं मरा कि दुनिया डूबी! इसलिये जब तक मैं जीता हूँ तब तक--आज यह तो कल वह--सब कुछ अपने अधीन करके अपनी सारी काम-वासनाओं को तृप्त कर लूँगा! यदि मैं तप करूँगा अथवा कुछ दान दूँगा तो वह सब मैं अपने महत्त्व को बढ़ाने के ही लिये करूँगा कि मेरी सत्ता या अधिकार सर्वत्र अबाधित हो जाय। सारांश यह कि इस जगत् में 'मैं' ही केंद्र हूँ। सब नीति-शास्त्रों का केवल यही रहस्य है, बाकी सब झूठ है। ऐसे ही आसुर-मताभिमानियों का वर्णन गीता (अध्याय १६, श्लोक १४) में किया गया है—'ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी। अर्थात् मैं ही ईश्वर, मैं ही भोगनेवाला और मैं ही सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ'।"

लोकमान्य की इस व्याख्या से यह धारणा और पुष्ट होती है कि चार्वाक के विरोध-स्वरूप गीता के ये श्लोक रचे गए हैं। असुरों की जो परिभाषा ऊपर के श्लोकों में ध्वनित है वह यही है कि मौज उड़ानेवाले विषयलोलुप नास्तिक व्यक्ति ही असुर या राक्षस हैं। यह कोई मनुष्येतर सृष्टि नहीं है। भर्तृहरि के निम्न-लिखित श्लोक से भी यही पुष्ट होता है—

"एके सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये
सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाऽविरोधेन ये।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये
ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे* ॥"

---

* "जो अपने लाभ को त्यागकर दूसरों का हित करते हैं वे ही सत्पुरुष हैं। स्वार्थ को न छोड़कर जो लोकहित के लिये प्रयत्न करते हैं वे पुरुष सामान्य हैं; और अपने लाभ के लिये जो नीच लोग दूसरों का नुकसान

थोड़ा आगे चलकर गीता (अध्याय १७, श्लोक ४) में, राक्षसों और भूत-प्रेतों का अंतर दिखाते हुए, राक्षसों को भूतों से पृथक् बतलाया गया है—"जो पुरुष सात्त्विक हैं, अर्थात् जिनका स्वभाव सत्त्वगुण-प्रधान है, वे देवताओं का भजन करते हैं; राजस पुरुष यक्षों का और राक्षसों का भजन करते हैं। तामस पुरुष प्रेतों और भूतों का भजन करते हैं*।" इसके अनुसार राक्षस-जाति 'भजन' करने योग्य कोई मानवोपरि सृष्टि है। यह भावना इस बात को पुष्ट करती है कि राक्षस भी देवयोनि के ही अंतर्गत हैं; परंतु उनके काम देवों से गिरे हुए हैं। इस उक्ति और गीता की उस उक्ति में, जिसमें आसुरी वृत्ति के व्यक्तियों का उल्लेख है, परस्पर कुछ विरोध है। उस स्थल पर असुर लोग हमीं लोगों में से जीवन के संबंध में कुछ विशेष सिद्धांत रखनेवाले व्यक्ति मालूम होते हैं, परंतु यहाँ पर वे राजस प्रकृतिवाले मनुष्यों के पूज्य कहे गए हैं। इस विवाद से यह तो स्पष्ट है कि ये शक्ति-संपन्न होते थे और अपने भक्तों को शक्ति और बल दे सकते थे। अन्यथा ये राजस प्रकृतिवालों के आराध्य क्यों समझे जाते ?

गीता के श्लोकों में, आसुरी वृत्ति को चार्वाक-वृत्ति का समकक्ष बनाकर, असुरों और राक्षसों का जो स्वरूप खड़ा किया गया वह कवियों के हाथों में पड़कर विचित्र पहेली बन गया। कुछ तो भाषा की अतिरंजना और अद्भुतता का समावेश और कुछ भीषण

करते हैं वे मनुष्य नहीं हैं—उनको मनुष्याकृति राक्षस समझना चाहिए। परंतु एक प्रकार के मनुष्य और भी हैं जो व्यर्थ ही लोकहित का नाश किया करते हैं। समझ में नहीं आता कि ऐसे मनुष्यों को क्या कहा जाय।"

(भर्तृहरि-कृत नीतिशतक, ७४)

* यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः॥ (अ० १७, श्लो० ४)

घृणा का उद्गार, इन सब ने मिलकर राक्षसों का जो चित्र खींचा वह ज्ञान और समाज से इतना पृथक् था कि उसके लिये सृष्टि में एक नया वर्ग प्रस्तुत करना पड़ा। 'राक्षस' ने यह अपूर्व जामा आदिकवि वाल्मीकि के समय से ही पहनना आरंभ कर दिया था। राक्षस लोग स्वयं अपने को मनुष्यों से पृथक् और अधिक बलवान् समझते थे। रावण कहता है कि—"वह मनुष्य रामचंद्र युद्ध में मेरी अँगुली के बराबर भी नहीं है*।" इसी प्रकार २४वें सर्ग के २६वें श्लोक में वाल्मीकिजी ने ताड़का की भीषणता का कुछ आभास यह कहकर कराया है कि उसमें सहस्र हाथियों का बल है†। एक स्थल पर रावण की भगिनी शूर्पणखा का वर्णन भी बड़ा विलक्षण है‡। कुंभकर्ण का वर्णन भी ऐसा ही हुआ है—'कुंभकर्ण सौ धनुष चौड़ा और छः सौ धनुष लंबा था। उसकी आँखें गाड़ी के पहियों के समान थीं। वह विशाल पर्वत के समान उग्र रूप का था§।'

राक्षसों की समृद्धि, तपश्चर्या और विद्वत्ता का वर्णन भी गोस्वामीजी ने वाल्मीकिजी से ही लिया है। वाल्मीकीय रामायण में ही, सुंदरकांड के नवें सर्ग में, रावण के प्रासाद का अद्वितीय वर्णन मिलता है। प्रासाद की दीवारों में विभिन्न प्रकार के प्रकाशमान रत्न जड़े थे। फाटक पर सोने और चाँदी के हाथी खड़े थे। प्रासाद के चारों ओर सुवर्ण की दीवार थी और सोने के ही द्वार लगे थे।

---

* 'अंगुल्या न समो रामो मम युद्धे स मानुषः।'

† बलं नागसहस्रस्य धारयंती तदा ह्यभूत्।
ताटका नाम भद्रं ते भार्या सुन्दस्य धीमतः॥

‡ यश्चैव नानाविध घोर रूपैर्व्याघ्रोष्ट्रनागेंद्रमृगाश्ववक्त्रैः।
भूतैर्भृतो भाति विवृत्तनेत्रैर्योऽसौ सुराणामपि दर्पहंता॥

§ धनुःशतपरीणाहः स षट्शतसमुच्छ्रितः।
रौद्रः शकटचक्राक्षो महापर्वतसन्निभः॥

सोने की ही सीढ़ियाँ थीं जिनपर सुनहले आभूषण जड़े हुए थे। सोने की भिलमिली की रजतनिर्मित हाथी-दाँत की खिड़कियाँ थीं। रावण के शयनागार को देख उसे स्वर्ग समझकर हनुमान चकित हो जाते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि राक्षसों के संबंध में गोस्वामीजी की विलक्षण व्याख्या बहुत कुछ वाल्मीकीय रामायण के आधार पर है।

महाभारत-काल के राक्षस उतने बली और व्यापक नहीं हैं। वे बहुधा वनों में छिपे रहते थे। केवल बकासुर की पृथक् नगरी का पता चलता है। शासन-सूत्र राक्षसों के हाथ से निकल गया था। वे मनुष्यों की सहायता किया करते थे। कौरव-पांडव-युद्ध में पांडवों की ओर से हिडिंबा के पुत्र घटोत्कच ने और दुर्योधन की ओर से अलंबुष ने युद्ध किया था। इन दोनों राक्षसों के विविध कार्यों का महाभारत में उल्लेख है। कर्णार्जुन-युद्ध के प्रसंग में यह वर्णन आया है कि कौन कौन जातियाँ किस किस की ओर थीं। असुर, यातुधान (राक्षस) और गुह्यक कर्ण की ओर थे और सिद्ध, चारण और वैनतेय आदि अर्जुन की ओर (कर्णपर्व, अध्याय ८७)।

रामायण और महाभारत के परवर्ती काव्यों में भी उसी भावना का अनुसरण किया गया और, जैसा ऊपर कहा गया है, राक्षसों का एक विचित्र स्वरूप अंकित हुआ। रघुवंश में जहाँ कहीं राक्षसों का उल्लेख हुआ है उसका आवश्यक भाग नीचे दिया जाता है—

रावण—

"विदितं तप्यमानं च तेन मे भुवनत्रयम्।" (सर्ग १०, श्लोक ३९)

"मोक्ष्यध्वे स्वर्गबंदीनां वेणीबन्धानदूषितान्।" (१०,४७)

ताड़का—

"ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाछविः।
ताडका चलकपालकुण्डला कालिकेव निबिडा बलाकिनी॥" (११,१५)

"तीव्रवेगधुतमार्गवृक्षया प्रेतचीवरवसा स्वनोग्रया॥" (१०,१६)

सुबाहु—

"यः सुबाहुरिति राक्षसोऽपरस्तत्र तत्र विससर्प मायया।" (११,२९)

शूर्पणखा—

"सा वक्रनखधारिण्या वेणुकर्कशपर्वतया ।
अङ्कुशाकारयाङ्गुल्या तावतर्जयदम्बरे ॥" (१२,४१)

कुंभकर्ण—

"अकाले बोधितो भ्रात्रा प्रियस्वप्नो वृथा भवान् ।
रामेषुभिरितीवासौ दीर्घनिद्रां प्रवेशितः ॥" (१२,८१)

लवणासुर—

"धूमधूम्रो वसागन्धी ज्वालाबभ्रुशिरोरुहः ।" (१५,१६)

राक्षसगण—

"विघ्नप्रतिघ्नकसम्भारस्ततः प्रववृते मखः ।
आसन्यत्र क्रियाविघ्ना राक्षसा एव रक्षिणः ॥" (१५,६२)

परंतु अवतरणों से यह स्पष्ट है कि रावण तीनों लोकों को कष्ट में डाले था। वह देवताओं को बंदी किए था। उसके ज्या-निर्घोष को सुनकर आकाश में सहसा राक्षस और राक्षसियाँ मँडराने लगती थीं। ताड़का राक्षसी बड़ी भयावह थी। उसके, मार्ग में, चलने पर वृक्ष हिलने लगते थे। सुबाहु आदि राक्षस बड़े मायावी थे। शूर्पणखा की आकृति बड़ी ही भीषण और अमानुषी थी। कुंभकर्ण अकाल में ही जगाया गया था और राम ने उसे सर्वदा के लिये सुला दिया। लवणासुर की आकृति भयानकता में अद्वितीय थी। गोस्वामीजी के रामचरितमानस में, राक्षसों में, इन्हीं भावनाओं की प्रतिच्छाया दीख पड़ती है।

रघुवंश के अतिरिक्त भट्टिकाव्य में भी राक्षसों का ऐसा ही स्वरूप दृष्टिगत होता है। उक्त काव्य के दूसरे सर्ग के तीन छंद नीचे दिए जाते हैं—

(१) आपिङ्गरूक्षोर्ध्वशिरस्य बालैः शिरालजङ्घैर्गिरिकूटदघ्नैः।
तत: कपाटैः पृथुपिङ्गलाक्षैः खं प्रावृषेण्यैरिव चानशेऽब्दैः॥

(२) आत्मम्भरिस्त्वं पिशितैर्नराणां फलेग्रहीन् हंसि वनस्पतीनाम्।
शौवस्तिकत्वं विभवा न येषां व्रजन्ति तेषां दयसे न कस्मात्॥

(३) अद्मो द्विजान् देवयजीन् निहन्मो, कुर्मः पुरं प्रेतनराधिवासम्।
धर्मो ह्ययं दाशरथे निजो नो नैवाध्यकारिष्महि वेदवृत्ते॥

पहले छंद में राक्षसों की आकृति का बड़ा ही विशद और भयावह वर्णन है। दूसरे छंद में श्रीरामचंद्रजी द्वारा मारीच के कुकर्मों का परिगणन कराया गया है, अर्थात् सब राक्षसों की भर्त्सना की गई है। तीसरे में, राक्षसों के धर्म के विषय में, स्वयं मारीच रामचंद्रजी को उपदेश देता है। उसे इस बात के लिये तनिक भी ग्लानि नहीं है कि राक्षस ऐसे क्रूर कर्म क्यों करते हैं। यदि आर्य और अनार्य ही मनुष्य और राक्षस थे तो इन दोनों जातियों का विरोध इस स्थल से अच्छा अन्यत्र न मिलेगा।

गोस्वामीजी के राक्षस हमारे सामने चार स्वरूपों में आते हैं। छोटे ग्रंथों में उनकी पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं है। राक्षसों का वास्तविक स्वरूप केवल रामचरित-मानस में दिखाया गया है। पहली कोटि के राक्षस सत्त्व-गुण-प्रधान हैं। उनका दोष केवल इतना ही है कि वे राक्षसों के साथ रहते हैं। उनकी रहन-सहन का ढंग बड़ा ही दीनता-पूर्ण है—

'सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महुँ जीभ बिचारी॥'

इस कोटि के राक्षसों का मुखिया रावण का छोटा भाई विभीषण

है। रावण का सचिव, उसके दो दूत—जो बाद में जाकर रामचंद्रजी से मिल गए थे—तथा विभीषण के अन्य अनुयायी भी इसी कोटि के हैं। सात्त्विकता के आलोक में इनके व्यवहार ऐसे पवित्र और ऊँचे उठ गए थे कि समाजधर्म, लोकधर्म अथवा कुलधर्म की लौकिक व्यवस्था उन्हें अपदस्थ करने में असमर्थ थी। उन्होंने अपने स्वामी और भाई तक का परित्याग करने में तनिक भी संकोच नहीं किया। वैयक्तिक पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिये उन्होंने इसकी तनिक भी परवाह न की। वे भगवद्भक्ति की ऐसी पावन भूमि में पहुँच चुके थे जहाँ से कुलधर्म, जातिधर्म तथा राष्ट्रधर्म केवल संकीर्ण भावना के प्रतिरूप दिखाई देते थे। न्याय और अन्याय के संघर्ष में वे अन्यायी राजा का साथ, चाहे वह उनका भाई ही क्यों न हो, नैसर्गिक रूप से नहीं दे सकते थे। यह काम उनके लिये असंभव था। यदि विभीषण राम से न मिल जाता तो वह 'विभीषण' न रहता। अन्याय का प्रतिरोध करने के लिये उसने अपने भाई को—अपने देश के राजा को—अपने सामने मरवा डाला। पर इसका यह अर्थ नहीं कि उसमें भ्रातृ-वात्सल्य का अभाव था। भाई के प्रति उसमें असीम प्रेम-भाव था, जिसका परिचय रावण-वध के समय मिलता है। अपने बड़े भाई और राजा के लिये उसके हृदय में अनिर्वचनीय भक्ति भी थी जिसका परिचय हमें उस समय मिलता है जिस समय उसने रावण के अन्यायी स्वरूप की ओर उसका ध्यान आकृष्ट किया तथा रामचंद्रजी की दैवी विभूति का चित्र खींचा और अंत में भाई का पाद-प्रहार शांतिपूर्वक सह लिया। यदि विभीषण के चरित्र को सहानुभूति के साथ समझने की यथेष्ट चेष्टा की गई होती तो केशवदासजी कभी यह न कहते—

'आउ विभीषण तू कुल-दूषण !'

कुटुंबवाद, जातिवाद और राष्ट्रवाद के कठघरों से बाहर निकलकर

विभीषण के चरित्र का अनुशीलन करने से ही हम किसी तथ्य तक पहुँच सकते हैं।

दूसरी कोटि के राक्षसों में हम उन राक्षस महिलाओं को रखते हैं जो सात्त्विक वृत्ति की तो हैं, पर कुटुंबवाद की व्यवस्था का अतिक्रमण नहीं कर सकतीं। रावण अच्छा है या बुरा, उनका स्वामी है। उसे समझाना, बुरा-भला तक कह डालना वे समीचीन समझती हैं, किंतु उसे छोड़कर चल देना अपना कर्त्तव्य नहीं समझतीं। इन महिलाओं में भगवद्भक्ति की मात्रा विभीषण से कम न थी परंतु लोकधर्म की व्यवस्था का उल्लंघन करना वे उचित नहीं समझती थीं। ये राक्षसों के बुरे कर्मों को छोड़कर उनके सद्व्यवहारों में सम्मिलित थीं। मंदोदरी का रावण को उपदेश—उसे खद्योत तक कह देना—पातिव्रत्य का प्रत्यक्ष अतिक्रमण न समझना चाहिए। रावण के प्रति उसके कठोर वाक्यों का कारण अन्याय के प्रति उसकी उत्कट घृणा और प्रगाढ़ पति-भक्ति को ही समझना चाहिए। विभीषण की सात्त्विकता के साथ उसका मानसिक साम्य था, इसी कारण पति-परिवर्तन में उसे कोई विशेष संकोच नहीं हुआ। त्रिजटा में अनुपम भगवद्भक्ति थी। परिस्थितियों में उसका क्रियापक्ष केवल इतने ही तक सीमित था कि वह सीताजी की सेवा करे और दुःख में उन्हें ढाढ़स बँधावे। अपने स्वप्न का वृत्तांत सुनाकर अन्यान्य राक्षस-रमणियों को भी वह सीताजी की सेवा में नियोजित करती है—

'सबन्हैा बोलि सुनाएसि सपना। सीतहिँ सेइ करहु हित अपना॥'

गोस्वामीजी स्वप्न देखने की अधिकारिणी भी त्रिजटा को ही समझते हैं। विरह-वारिधि में निमग्न सीता के लिये यह स्वप्न हाथ पकड़कर उबारनेवाले के सदृश आश्रय-प्रद है। विरह-विधुरा जानकी जब अशोक

से अंगार की याचना करती हैं तब भी कैसी आश्रयदायिनी अनुकूल उक्ति द्वारा त्रिजटा उन्हें इस दुर्भावना से निवृत्त करती है--

'निसि न अनल मिलु सुनु सुकुमारी।'

तीसरे वर्ग के राक्षस बड़े बली, पराक्रमी और प्रतापी थे। वे अधिकांश में शापग्रस्त ऋषि अथवा देवता के रूप में दीख पड़ते हैं। रावण, कुंभकर्ण और मारीच आदि इसी कोटि के अंतर्गत हैं। रावण और कुंभकर्ण पूर्वजन्म में विष्णु भगवान् के 'जय' और 'विजय' नामक द्वारपाल थे। इन्होंने भगवान् आशुतोष की अखंड तपस्या की थी। यह तपस्या भगवत्प्राप्ति के लिये न थी। इससे उन्होंने जो शक्ति उपलब्ध की उसे ऐहिक भोगविलास की बढ़ती में व्यय किया। उन्होंने बड़े बड़े अत्याचार किए, स्त्रियों का सतीत्व नष्ट किया, देवताओं तक को बंदी बनाया—

'सठहु सदा तुम्ह मोर मरायल।'

ऋषियों से भी कर वसूल किया और उनको खा खाकर हड्डियों का ढेर लगा दिया। इसी ढेर को देखकर श्री रामचंद्रजी के नेत्रों में जल भर आया और उन्होंने हाथ उठाकर प्रण किया—

'निसिचर-हीन करौं महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'

कुछ ऋषियों के शाप भी इसी प्रकार के हैं—

'ये राक्षस निस्संतान हों।'

रावण के बोझ से पृथ्वी हिलती थी—

'चलत दसानन डोलत अवनी।'

ऐसी बीस भुजाओं और दस सिरोंवाली, गधे के सिर से विभूषित, आकृति निःसंदेह बड़ी डरावनी रही होगी। परंतु इस तामस स्वरूप के राजस परिवेष्टन में भी ज्वलंत सात्त्विक तेज वर्तमान था; यद्यपि उसके दर्शन बहुत कम मिलते थे। रावण लंका का अधीश्वर था, तमोगुण का प्रतिरूप था। सात्त्विक भावना की अभिव्यक्ति को वह

दुर्बलता समझता था। रामचरितमानस में केवल एक स्थान पर उसकी सात्त्विक भावना के दर्शन होते हैं—

'खर दूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारै बिनु भगवंता ॥
सुररंजन भंजन महिभारा। जौं जगदीस लीन्ह अवतारा ॥
तौ मैं जाइ बयरु हठि करऊँ। प्रभुसर प्रान तजे भव तरऊँ ॥'

उपर्युक्त भावना में भगवद्भक्ति और अवतारवाद के प्रति आस्था स्वयं दिखाई देती है। रावण अपने शरीर को ऐसा तमो-गुण-संपन्न समझता था कि उससे कोई अच्छाई हो ही नहीं सकती। बुराई को ही वह अच्छाई समझता था। 'भजन' की उपयोगिता में उसे विश्वास तो था, परंतु वह अपनी तामसी प्रकृति का दास था—

'होइहि भजनु न तामस देहा।'

उसकी मानसिक और शारीरिक परिस्थिति कुछ इस प्रकार की थी—

'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।'

आजकल हम लोगों में बहुतेरे व्यक्ति ऐसे मिलेंगे जो अपनी आदतों के गुलाम हैं। अतएव रावण को यही बात सूझी कि युद्ध में अपने तामस शरीर का नाश कराने से ही, संभव है, उसका उद्धार हो सके।

रावण के चरित्र की यह स्फूर्ति अंत तक दिखाई नहीं देती। वह अपनी दृढ़ता पर, अपनी आन पर, अंत तक डटा रहा। अपने अनुयायियों के समक्ष इस भावना के प्रदर्शन को वह अपनी कम-जोरी समझता था। उसने सारे राक्षसों के तामस स्वभाव का अनुशीलन कर लिया था। इसी से उन्हें अपने सामने कटवा डालने में उसने तनिक भी संकोच नहीं किया।

कुंभकर्ण जैसा वीर और पराक्रमी था वैसा ही आज्ञाकारी भाई भी। किंतु उसमें भी विवेक था; वह भगवद्-भक्ति को समझता था। एकाएक जगाए जाने पर ज्योंही उसने लड़ाई की बात सुनी त्योंही रावण से कहा—

'अहह बंधु तैं कीन्हि खोटाई। प्रथमहिँ मोहि न सुनाएहि आई॥'

परंतु भाई का मंतव्य समझकर वह शीघ्र ही युद्ध के लिये चला गया और वीरतापूर्वक लड़कर मारा गया।

मारीच भी रावण को सचेत करता है। वह भुक्तभोगी था। राम के बाणों की चोट खाकर एक बार वह समुद्र के पार जाकर गिरा था। परंतु रावण उसकी भी नहीं सुनता। उसके मरते समय का दृश्य देखकर—

'प्रान तजत प्रगटेसि निज देहा। सुमिरेसि राम समेत सनेहा॥'

यही धारणा पुष्ट होती है कि तामस आवरण के भीतर सात्त्विक परमाणु दहक रहे थे।

राक्षस मायावी थे। गोस्वामीजी ने उनमें सारी अनहोनी बातें दिखलाई हैं।

चौथे वर्ग के राक्षस, सात्त्विक वृत्ति से पूर्णतः बहिष्कृत, केवल तामस स्वरूप लेकर घूमनेवाले हैं। मेघनाद इनका प्रतिनिधि है। कुटुंबवाद ही इनका धर्म है और स्वामिभक्ति ही इनका कर्त्तव्य। यह बात यद्यपि तीसरे वर्गवालों में भी पाई जाती है परंतु इनमें इसकी विशेषता है। इस वर्ग के अंतर्गत राक्षस-महिलाएँ भी हैं। अशोकवाटिका में इनके कोलाहल से सीता दुःखित रहती थीं। ये—

'सीते रावणं भज भर्तारम्।
सर्वान् त्वां भक्षयिष्यामहे वयम्॥'

की रट लगाती हुई घूमती थीं। इस वर्ग के राक्षस रावण के इशारे पर मर मिटते थे।

राक्षसों का यह विवेचन यद्यपि पूर्ण नहीं है--और प्रस्तुत आलोचना में इसका दिया जाना अधिक न्यायसंगत भी नहीं है--परंतु गोस्वामीजी-विषयक जानकारी की पूर्णता के लिये इसका उल्लेख आवश्यक था। इसी दृष्टि से यहाँ इसकी चर्चा की गई है। अब हम बरवै रामायण का अंतिम छंद उद्धृत करके उक्त ग्रंथ की समीक्षा समाप्त करते हैं--

जनम जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु।
तहँ तहँ राम निबाहिब नामसनेहु॥

वास्तव में उपासना और ज्ञान के चरम उत्कर्ष में ही 'नाम' से आसक्ति संभव है। जगत् के गत्यात्मक स्वरूप के प्रेम से—चाहे वह राजा दशरथ के सर्वगुण-संपन्न पुत्र के ही लिए हो—यह परिस्थिति अधिक उदात्त है। भगवान् गोस्वामीजी की कामना पूर्ण करें।

पार्वती-मंगल

गोस्वामी तुलसीदास की अमर कृतियों में 'पार्वती-मंगल' एक अमूल्य ग्रंथ है। इसमें १६४ छंद हैं। इसमें शिवजी के विवाह का पूरा वर्णन है। यह ग्रंथ रामचरितमानस की रचना के पश्चात् लिखा गया है। कथा-निर्वाह के क्रम, मध्यवर्ती घटनाओं के यथेष्ट सन्निवेश और वर्णन की पूर्णता आदि की ओर इस पुस्तक में उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना रामचरितमानस में। जान पड़ता है, लेखक का अभिप्राय विषय को विस्तृत करने का न था। हाँ, शिव-विवाह का विषय गोस्वामीजी को, स्वतंत्र रूप से, ऐसा आकर्षक और शिक्षाप्रद अवश्य प्रतीत हुआ कि उसकी काव्यमय अभिव्यक्ति के लिये उन्होंने एक पृथक् ग्रंथ रच डाला।

यद्यपि शैव-वैष्णव-विवाद ने, दक्षिण की भाँति, उत्तर भारत में कभी इतना भयंकर रूप नहीं धारण किया तथापि उत्तर के वैष्णवों और शैवों के कानों तक इस विवाद के भीषण समाचार अवश्य पहुँचते थे। यही नहीं, उनका दूषित प्रभाव भी दोनों संप्रदायों पर पड़ रहा था। गोस्वामीजी की पैनी अंतर्दृष्टि से यह बात छिपी न रह सकी। उन्होंने साधारणतया अपनी सारी कृतियों में, और विशेषतया रामचरितमानस में, स्थान स्थान पर शिव और विष्णु की एकता की ओर ध्यान दिलाया है। ये दोनों उस अखंड शक्ति की महाशक्तिशालिनी अभिव्यक्तियाँ हैं जिनका उद्देश्य एक दूसरे का पूरक होना है, विरोधक नहीं। यही कारण है कि वन में सीता-वियोग-कातर श्रीरामचंद्र को देखकर शिवजी प्रणाम करते हैं और अपना अभीष्ट देव मानकर उनका अभिनंदन करते हैं तथा लंका-

विजय के समय समुद्र-सेतु के निर्माण में सबसे पहले रामचंद्रजी शिवजी की ही स्थापना करके उनकी महत्ता स्थापित करते हैं।

सिवद्रोही मम भगत कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न पावा॥ (रामचरितमानस)

और—

संकरप्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास॥ (रामचरितमानस)

इस प्रकार के भाव स्थान स्थान पर मिलेंगे जिनका स्पष्ट उद्देश्य शैव-वैष्णव-मनोमालिन्य को दूर करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। पार्वती-मंगल भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये रचा गया; अन्यथा राम के अनन्य भक्त गोस्वामीजी को राम-गुण-गान से ही इतना अवकाश कहाँ था कि वे दूसरे देवताओं की गाथा वर्णन करते। उनके इष्टदेव के चरित्र की ही इतनी परिस्थितियाँ हैं जिनपर ग्रंथ के ग्रंथ लिखे जा सकते हैं और लिखे गए हैं। पार्वती-मंगल की रचना सोद्देश्य अवश्य है और यह उद्देश्य कदाचित् वैष्णव होते हुए भी शिवजी पर अपनी अनन्य आस्था प्रदर्शित करना है।

गोस्वामीजी की सारी कृतियों में शिव और राम का चरित्र परस्पर संबद्ध है। रामायण में तो यह सामंजस्य पराकाष्ठा को पहुँच गया है। जन्म के समय, विवाह के समय, राज्याभिषेक के समय शिवजी अवश्य आ जाते हैं और स्तुति तथा मंगलाचरण के साथ अभिवादन करके विदा हो जाते हैं। कभी कभी श्रीरामचंद्र के क्रिया-कलाप के निरीक्षण के लिये महादेवजी अप्रत्यक्ष रूप से आ जाया करते हैं। सीताजी को पार्वतीजी की सहायता मिलती है। सीताजी को विवाह का शुभ अशीर्वाद पार्वतीजी ही देती हैं—

सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मनकामना तुम्हारी॥ (रामचरितमानस)

स्नेहपूर्ण सीता जब राम के लिये विह्वल हो उठती हैं तब पार्वतीजी, अपनी विनोदपूर्ण मीठी चुटकी से, उनमें आशा और धैर्य का संचार करती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि गोस्वामीजी के नायक और नायिका का चरित्र शिवजी तथा पार्वतीजी के चरित्र से इतना गुँथा हुआ है कि उससे पृथक् नहीं किया जा सकता। सच पूछिए तो शिवजी और पार्वतीजी के सन्निवेश के बिना रामचंद्रजी और जानकीजी का चरित्र अधूरा ही रह जाता।

इस स्थान पर यह भी जान लेना चाहिए कि गोस्वामीजी ने साधारणतया देवताओं का चित्रण जिस कोटि का किया है, उस कोटि में शिवजी नहीं आते। उनके स्वभाव-चित्रण में उन्होंने कहीं भी ओछापन नहीं आने दिया। मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचंद्रजी को यदि विष्णु का अवतार बतलाया है तो शिवजी को उनके उपासक और उपास्य के रूप में अभिव्यक्त किया है। ब्रह्माजी का, सृष्टि-रचना के अतिरिक्त, कोई विशेष स्थान नहीं दिखाया गया।

राम और शिव का उपासना-संबंध किस प्रकार का है, यह भी हमें समझ लेना चाहिए। संसार में आकर्षण के तीन स्वरूप दिखाई देते हैं। छोटा बड़े के लिये जो आकर्षण रखता है, वह आदर कहा जाता है। इसमें सम्मान का भाव मिला रहता है। जो आकर्षण दो समवयस्क, समान गुणवाले व्यक्तियों में होता है उसे प्रेम कहते हैं तथा छोटे के लिये बड़ा जो आकर्षण रखता है उसे स्नेह अथवा वात्सल्य। प्रत्येक प्रकार के आकर्षण में साम्य की प्रवृत्ति बड़ी बलवती रहती है। परस्पर आदान-प्रदान का व्यवसाय आकर्षण का मुख्य लक्षण है। आकर्षण जब आदर और सम्मान के रूप में सामने आता है तब आदर-भाजन में पूर्णता का आभास और भक्त में न्यूनता के लक्षण रहते हैं। आदर-भाजन दानी और भक्त भिक्षुक है। एक प्रदान-भाव का प्रतिरूप है तो दूसरा

स्वीकार-भाव की प्रतिकृति। उपासक अपने हृदय को परिष्कृत करके उर्वर बनाता है और आराध्य देव उसमें बीज-स्वरूप गुणों की वर्षा करता है। यहाँ तक कि एक दिन ध्याता ध्येय के सारे गुणों को अपनाकर स्वयं ध्येय के ही सदृश हो जाता है। ध्याता और ध्येय का ऐक्य ही उपासना का चरम लक्ष्य है।

दूसरे प्रकार के आकर्षण में, गुण-वैषम्य के अभाव से, नैकट्य उपलब्धि की तीव्रता अधिक रहती है। परस्पर विचार-वैभिन्य का परित्याग तथा विचारों के सहवास की चेष्टा निरंतर हुआ करती है। दो प्रेमी--अपने प्रेम के अभ्यास में--एक प्रकार से रहना, बोलना, चलना, सोचना सीख जाते हैं।

तीसरे प्रकार में कर्त्ता तथा प्रारंभक बड़ा है, अतएव गुण-वर्षा का प्रारंभ पहले होता है और पीछे वात्सल्य-भाजन अपने को उसी के अनुकूल बनाता है। कहने का अभिप्राय यह कि साम्य का व्यापार निरंतर चलता रहता है।

अब यह देखना है कि शिवजी तथा रामचंद्रजी का पारस्परिक आकर्षण किस कोटि का था। गोस्वामीजी ने इन महान् विभूतियों का जो चित्रण किया है उससे इनके बीच उपर्युक्त दूसरी कोटि का आकर्षण प्रतीत होता है। परंतु उसमें परस्पर आदर भाव की मात्रा यथेष्ट है। महादेवजी रामचंद्रजी के गुरु भी हैं और शिष्य भी। रामचंद्रजी के चरित्र की पूर्ण अभिव्यक्ति के लिये जैसे भरत का चरित्र-चित्रण आवश्यक है वैसे ही महादेवजी का भी।

इस ग्रंथ में महादेवजी के ही विवाह का वर्णन है। ग्रंथ का नाम पार्वती-मंगल केवल इसलिये रखा गया है कि इसमें पार्वतीजी के अद्वितीय तप और अलौकिक प्रेम के वर्णन की ही अधिकता है। इसमें महादेवजी के विवाह की घटनाओं का वर्णन रामचरित-मानस की भाँति नहीं है। 'मंगल' का अर्थ है कल्याण और

'पार्वती' अपत्यवाचक संज्ञा है जिसका अर्थ पर्वत-कन्या है। जिस ग्रंथ में पार्वतीजी के कल्याणकारी विवाह का वर्णन है उसी को पार्वती-मंगल कहते हैं।

पार्वती-मंगल एक प्रबंध-काव्य है। गोस्वामीजी ने इसे, सचेष्ट भाव से, खंड-काव्य के रूप में लिखने का प्रयत्न किया है। मंगलाचरण में गोस्वामीजी ने कभी किसी एक ही देवता को प्रथम आराध्य नहीं माना है, वरन् आराध्य देवताओं का क्रम बदलता रहा है। 'रामलला नहछू' के मंगलाचरण में पहले 'शारदा' की तदनंतर 'गनपति' तथा 'गौरी' की वंदना का क्रम है। वैराग्य-संदीपनी में राम, जानकी और लक्ष्मण की वंदना की गई है। बरवै रामायण में तो मंगलाचरण है ही नहीं। पार्वती-मंगल में गुरु का पहला, गणेश का दूसरा, शिवजी का तीसरा, पार्वतीजी का चौथा, सरस्वती का पाचवाँ, शारदा का छठा, शेषनाग का सातवाँ, सुकवि वाल्मीकि का आठवाँ, वेद का नवाँ और सरलमति संतजनों का दसवाँ स्थान है। 'दोहावली', 'कवितावली', गीतावली' और 'कृष्ण-गीतावली' प्रबंध-काव्य नहीं हैं, इसी लिये उनमें मंगलाचरण नहीं है। विनयपत्रिका में, आरंभ में, केवल गणेशजी की ही वंदना है, यद्यपि बाद में और देवताओं की भी वंदना है। रामचरितमानस के प्रारंभिक संस्कृत-श्लोक में पहले तो वाणी की और फिर गणेश की वंदना की गई है, परंतु हिंदी का सोरठा छंद गणेशजी की ही स्तुति से आरंभ होता है।

मंगलाचरण की परिपाटी, भारतीय रीति ग्रंथों के अनुसार, बहुत प्राचीन है। प्रत्येक आस्तिक लेखक और कवि इसका अनुसरण करता रहा है। दंडी के 'काव्यादर्श' में, महाकाव्य की परिभाषा में, मंगलाचरण के आयोजन की अनिवार्य रूप से व्यवस्था है। दूसरे लक्षण-ग्रंथों में भी इसका विधान है। पार्वती-मंगल के

मंगलाचरण में सर्वप्रथम 'गुरु' की वंदना करके गोस्वामीजी ने, लोक-धर्म की ओर ध्यान न देकर, साधु-धर्म की ही प्रतिष्ठा की है* । साधु-धर्म में गुरु का स्थान गोविंद से भी बड़ा है ।

गुरु गोविंद दोनों खड़े, काके लागूँ पाँय ।
बलिहारी वा गुरु के, (जाने) गोविंद दिए लखाय ॥ (कबीर)

और भी अन्यत्र कहा है—

राम ते अधिक राम कर दासा । (रामचरितमानस)

पार्वती-मंगल की वंदना में एक बात और सुंदर है । वंदना तो औरों की है; परंतु जहाँ पर हृदय से स्मरण करने का प्रश्न है वहाँ, दूसरी पंक्ति में, गोस्वामीजी लिखते हैं—

'हृदय आनि सियराम धरे धनुभाथहि'

यह उचित ही है । वे अपने हृदय में अपने उपास्य देव के अतिरिक्त किसी दूसरे को कैसे स्थान दे सकते थे ?

इस ग्रंथ की आलोचना करते हुए मिश्र-बंधुओं ने अपने 'नवरत्न' में लिखा है—"यद्यपि पार्वती-मंगल की रचना इससे (जानकी-मंगल से) मिलती है तथापि हम उसे कल्पित समझते हैं । मानस में गोस्वामीजी ने ये दोनों विवाह कहे हैं, परंतु पार्वती-विवाह की दुरवस्था और जानकी-विवाह की उत्तमता तथा लोकप्रियता दिखाकर उन्होंने अपने मुख्य उपास्यदेव रामचंद्रजी की, प्रच्छन्न रूप से, महिमा प्रदर्शित की है । यदि गोस्वामीजी ने पार्वती-मंगल भी बनाया होता, तो वही बात यहाँ भी होती† ।"

---

* इससे गोस्वामीजी में केवल लोक-धर्म ढूँढ़नेवाले आलोचकों को उपदेश ग्रहण करना चाहिए ।

† हिंदी-नवरत्न, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ३२ ।

मिश्र-बंधुओं ने उक्त ग्रंथ में, दूसरे स्थान पर भी, लिखा है—"पार्वती मंगल में १० पृष्ठ एवं १६४ छंद हैं। इसकी रचना १६४३ की कही जाती है। इसमें कालिदास के वर्णनानुसार पार्वती की तपस्या के पीछे उनकी प्रेम-परीक्षा के लिये स्वयं महादेवजी वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर गए हैं, और जिस तरह की बातचीत कुमार-संभव में है उसी तरह की बातें की हैं। इसमें महादेवजी की बरात का तथा विवाह से पूर्व मयना द्वारा उनके परिछन के समय का हास्ययोग्य वर्णन रामायण का जैसा नहीं है। यह ऐसी रचना है, जिसे शिव-भक्त भी बना सकता था। यही कथा मानस में देखने और इन दोनों को मिलाने से जान पड़ता है, ये दोनों कथाएँ एक ही वक्त की रचनाएँ नहीं हो सकतीं। हम इस ग्रंथ को भी कल्पित समझते हैं। इसकी कविता न तो शिथिल है और न श्रेष्ठ* ।"

इस युग में मिश्र-बंधुओं की उपर्युक्त धारणा न केवल भ्रमात्मक है, वरन् उपहासास्पद भी है। भला इस बात को कौन स्वीकार करेगा कि गोस्वामीजी ऐसे बड़े कवि अपने उपास्यदेव के लिये शिवजी का उपहास करेंगे। ऊपर के दोनों अवतरणों में पहला अवतरण इस बात को प्रतिपादित करने के लिये लिखा गया है कि गोस्वामीजी ने मानस में जो शिव-विवाह के वर्णन में विनोद और उपहास की अभिव्यक्ति की है वह केवल महादेवजी की हेयता प्रदर्शित करने के लिये, जिससे उनके उपास्यदेव श्रीरामचंद्र का विवाह अधिक सुंदर और लोकप्रिय दिखाई दे। यह कवि पर एक बड़ा भारी लांछन है; और इसी मनोभाव को सिद्धांत रूप में स्वीकार करके मिश्र-बंधु 'पार्वती-मंगल' को गोस्वामीजी के काव्य-ग्रंथों से बहिष्कृत कर देना चाहते हैं, क्योंकि उस ग्रंथ में शिवजी की बरात का उतना उपहास नहीं किया गया है।

---

* हिंदी-नवरत्न, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २३।

सोचने की बात यह है कि दूसरे की निंदा करके कोई अपने उपास्य को न तो ऊपर उठा सकता है और न उसकी लोक-प्रियता और उसका सम्मान ही बढ़ा सकता है। फिर सज्जनप्रकृति साधुस्वरूप भगवद्भक्त कवि-सम्राट् गोस्वामी तुलसीदासजी में यह दुर्बलता, स्वप्न में भी, नहीं आ सकती। क्या यह कभी संभव है कि रामचरितमानस में ही, अन्यत्र, अपने उपास्यदेव से गोस्वामीजी ने जिन शिवजी की अर्चना कराई है तथा उनकी स्वामिनी सीताजी ने स्वयं जिन गिरिजा की पूजा की है उन्हीं शिव और पार्वती के विवाह को उन्होंने इसलिये विनोदपूर्ण अभिव्यंजना में अंकित किया कि राम और सीता के विवाह को अधिक उत्कृष्टता प्राप्त हो। इसके अतिरिक्त महादेवजी श्री रामचंद्रजी के अनन्य भक्त भी थे। ऐसी दशा में भी यह भाव उत्पन्न नहीं हो सकता।

रामचरितमानस को मनोयोगपूर्वक पढ़ने और उसके बड़े बड़े पात्रों के चरित्र-स्फुरण के प्रवाह का अनुशीलन करने पर कोई यह नहीं कह सकता कि शिवजी के विवाह का वर्णन उनकी रौद्र प्रलयंकरी शक्ति के अनुपयुक्त है। उक्त वर्णन और किसी ढंग से अच्छा हो ही नहीं सकता था। कोई भी यह स्वीकार न करेगा कि इस वर्णन को लिखते समय गोस्वामीजी के ध्यान में राम-विवाह की उत्कृष्टता का चित्र अंकित था। पार्वती की असीम तपश्चर्या, प्रतिकूल वातावरण में भी उनका—महादेवजी से विवाह करने का—हठ, बड़े बड़े व्यक्तियों के मना करने पर तथा कामदेव के भस्मीभूत हो जाने का समाचार सुनने पर भी निष्काम महादेव को ही पति बनाने की भीषण प्रतिज्ञा, ये बातें उनके चरित्र को जानकी-मंगल की सीता के चरित्र से कहीं उत्कृष्ट बना देती हैं। एक हुंकार के साथ सारे प्रमथगण ज्योतिर्मय दिव्य स्वरूप धारण कर लेते हैं और शिवजी अत्यंत सुंदर वर बन जाते हैं। उनके शरीर से लिपटे हुए

नाग नयनाभिराम आभूषणों में परिणत हो जाते हैं। वास्तव में पूरा विवाह-वर्णन अनिर्वचनीय है। उसे केवल विनोद की वस्तु समझना भूल है। राम-विवाह-वर्णन शिव-विवाह-वर्णन का स्थानापन्न नहीं हो सकता। इसी प्रकार शिव-विवाह-वर्णन राम-विवाह-वर्णन का स्थान ग्रहण करने का अधिकारी नहीं। दोनों में निजी विशेषताएँ हैं; और वे भी इस कोटि की हैं कि उनकी परस्पर तुलना करना उचित नहीं।

मिश्र-बंधुओं के दूसरे अवतरण से यह स्पष्ट है कि पार्वती-मंगल को कदाचित् उन्होंने भली भाँति नहीं पढ़ा। पार्वती-मंगल में शिवजी वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर नहीं, वरन् एक बटु का स्वरूप धारण करके जाते हैं। कुमारसंभव की तरह कथोपकथन इसमें अवश्य है परंतु उनकी यह धारणा निर्मूल है कि ऐसा ग्रंथ कोई भी शिवभक्त बना सकता था और यह गोस्वामीजी की रचना नहीं है। यह बात भी नहीं कि रामचरितमानस की कथा में और इसकी कथा में किसी प्रकार का साम्य न हो। पार्वती-मंगल में राम-चरितमानस के शिव-विवाह का संक्षिप्त वर्णन है। प्रणेता दोनों ग्रंथों के एक ही हैं। यों तो जानकी-मंगल के सीता-विवाह-वर्णन और 'मानस' के सीता-विवाह-वर्णन में भी कुछ भेद है, परंतु मिश्र-बंधु उक्त पुस्तक को गोस्वामीजी की ही रचना मानते हैं। 'मानस' का और पार्वती-मंगल का पार्वती-विवाह-विषयक कथा-विन्यास एक दूसरे से कितना भिन्न है, इसका ठीक ठीक पता तभी लग सकता है जब दोनों हमारे सामने हों। अतः दोनों की कथाएँ नीचे दी जाती हैं। पाठक स्वयं उनका भेद-निर्णय कर लें। 'पार्वती-मंगल' के अंतर्गत शिव-विवाह की कथा इस प्रकार है—

"हिमालय पर्वत बहुत गुणज्ञ था; उसकी स्त्री मयना थी। उनके पार्वती नाम की कन्या हुई। पार्वती का जन्म होते ही

हिमालय के यहाँ सारी ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ एकत्र हो गईं। पार्वती शुक्ल-पक्ष के चंद्रमा की तरह बढ़ने लगीं। वे विवाह योग्य हुईं तब दंपति को योग्य वर के लिये बड़ी चिंता हुई। इसी बीच में नारदजी हिमालय के घर पहुँचे। मुनि की पूजा करके मयना ने पार्वती को उनके चरणों में डाल दिया। फिर पार्वती के अनुरूप पति बतलाने के लिये ऋषि से प्रार्थना की। नारदजी ने उत्तर दिया—'इनका पति कोई पागल होना चाहिए। यह ब्रह्मा ने कहा है।' यह सुनकर पार्वतीजी प्रसन्न हुईं पर उनके माता-पिता डर गए। वे बोले कि हमारा जीवन पार्वती के लिये है। इस दोष को दूर करने का उपाय बताइए। नारदजी ने कहा—'चंद्रचूड़ दोष-नाशक हैं। पार्वती से कहो कि उनके लिये तप करें।' नारदजी के चले जाने पर मयना ने कहा—'विधाता किसी को स्त्री न बनावे'। फिर पार्वती के माता-पिता ने उन्हें शिव की सेवा करने की शिक्षा दी। पार्वती का शिव-प्रेम वर्णनातीत है। सुंदरी, युवती एवं गुणवती पार्वती को देखकर भी शिव के मन में वासना न हुई। इसी अवसर पर देवताओं ने कामदेव को भेजा। उसने शिवजी का निरादर किया। रति विधवा हो गई। शिवजी ने उसे वरदान दिया। हिमालय और मयना को भी मदन-दहन का समाचार मिला। वे रोने लगे। लोग पार्वती से तपस्या छोड़ देने के लिये कहने लगे; पर उनकी दृढ़ता और बढ़ गई। उन्होंने निराहार रहकर घोर तप किया। ऐसा तप कहीं नहीं सुना गया था। उनकी परीक्षा लेने के लिये शिव, ब्रह्मचारी का वेश रखकर, पहुँचे और पार्वती से बोले—'देवी! बुरा न मानो तो कुछ निवेदन करूँ। यदि तुम पति की इच्छा से यह तप कर रही हो तो यह तुम्हारी बड़ी मूर्खता है। कहीं अमृत रोगी को ढूँढ़ता है या रत्न राजा को?' पार्वती का रुख पाकर उनकी एक सहेली बोली—'ये शिव के लिये तपस्या

कर रही हैं।' ब्रह्मचारी बोले—'तब तो बड़ी मूर्खता है। गुण, सम्मान और जाति से हीन व्यक्ति पर क्यों आसक्त हो? महादेव में तो एक भी गुण नहीं है। मेरा कहना मानो; शंकर को पति बनाने की लालसा छोड़ो। मेरा कहा न मानोगी तो पछताओगी।' परंतु पार्वती इन तर्कों से विचलित नहीं हुईं। क्रुद्ध होकर वे अपनी सखी से बोलीं—'इस बकवादी को हटाओ। भला यह प्रेम की रीति क्या जाने?' पार्वती का प्रेम देखकर शंकर ने अपना वास्तविक रूप धारण किया। पार्वती प्रसन्न हुईं। प्रेम-पूर्ण शब्दों में शंकर बोले—'तुमने मुझे प्रेम के वश में कर लिया। कहो क्या चाहती हो।' पार्वती उनके पैरों पर गिर पड़ीं। शिवजी उन्हें संतुष्ट करके चले गए। पार्वती भी अपने घर गईं। शिवजी ने सप्तर्षियों को बुलाया और कहा—'हिमालय के घर जाकर उनसे विवाह की लग्न लिखवा लो।' हिमालय ने मुनियों की बड़ी आवभगत की। मुनि लोग लग्न लेकर प्रसन्नता-पूर्वक बिदा हुए। हिमालय ने संसार भर की नदियों, तालाबों, पहाड़ों, वनों आदि को न्योते में बुलाया। सब सुंदर रूप धारण कर उनके यहाँ पहुँचे। शिवजी ने ब्रह्माजी से लग्न पढ़वाई और कहा—'सब देवता बारात में चलें।' देवता तैयारी करने लगे। शिव के गण प्रसन्न होकर नाचने-गाने लगे। इंद्र, विष्णु आदि शिव के यहाँ गए। शिव ने सबका यथोचित सम्मान किया। बाजे बजने लगे। आकाश से फूल बरसने लगे। शिवजी के साथ भूतों और प्रेतों की मंडली भी चली। वे स्वयं गजचर्म, सर्प और नरमुंड-माल से सुशोभित थे।

"बारात हिमाचल के नगर के निकट पहुँची। विष्णु ने देवताओं से, अपने अपने दल को अलग करके, चलने के लिये कहा। शिवजी मुस्कराए। नगर में खलबली मच गई। जो लोग बारात की अगवानी करने के लिये आए वे शिवजी की मंडली देखकर डर

के मारे, वाहनों समेत, भाग खड़े हुए। लड़कों ने घर घर जाकर यह सुनाया कि 'दूल्हा पागल है। उसके बाराती भूत-प्रेत हैं। यह विवाह देखने के लिये बड़ा भाग्यवान् ही जीता रहेगा।' इस समाचार से मयना चिंतित हुई। वे नारद को कोसने लगीं। हिमालय ने उन्हें समझाया। यह चर्चा सुनकर शिवजी ने अत्यंत सुंदर रूप धारण कर लिया। बारात शुभ घड़ी में हिमालय के यहाँ पहुँची। गजगामिनी नारियों ने 'परछन' किया। सास ने प्रसन्नचित्त हो शिवजी की आरती उतारी। शिवजी मंडप में विराजमान हुए। सखियों के साथ पार्वती भी आईं। उनके आते ही देवताओं ने उन्हें प्रणाम किया। शाखोच्चार हुआ। लौकिक और वैदिक रीतियों के साथ हिमालय ने, कुश लेकर, कन्यादान किया। हवन के बाद भाँवरें हुईं। विवाह संपन्न हो गया। आकाश में नगाड़े बजने लगे। फूलों की झड़ी लग गई। बारातवाले प्रसन्नता-पूर्वक जनवास को लौट गए। शिव 'कोहबर' गए। फिर बारात की जेवनार हुई। स्त्रियों ने गालियाँ गाईं। शिवजी दुलहिन को बिदा कराकर चले। हिमालय ने देवताओं को 'पहिरावने' दिए, बड़ा सम्मान किया। मयना ने शिवजी से कहा—'पार्वती को मेरा जीवन-धन समझिएगा।' हिमालय बिदा करके बिलखते हुए लौटे। शिव-पार्वती कैलास पहुँचे। संसार में इस विवाह की कीर्ति व्याप्त हो गई।"

अब रामचरितमानस के शिव-विवाह-वर्णन का सारांश नीचे दिया जाता है—

"सती ने हिमालय के घर 'पार्वती' नाम से, पुत्री रूप में, जन्म लिया। जब से उनका जन्म हुआ तब से सब ऋद्धि-सिद्धि हिमालय के घर छा गईं। प्रकृति ने भी सुंदरता में वृद्धि पाई। नित्य नए नए उत्सव होने लगे। यह सब समाचार सुनकर एक दिन

नारदजी हिमालय के घर आए। हिमालय ने उनका बड़ा आदर-सत्कार कर अपनी पुत्री पार्वती को उनके चरणों में डाल दिया। दंपति ने मुनि से अपनी पुत्री के गुण-दोष पूछे। नारदजी ने बहुत सोच-विचार कर मुस्कराते हुए कहा कि आपकी पुत्री में सब गुण—सुशीलता, सुंदरता, समदर्शिता और बुद्धिमत्ता आदि–विद्यमान हैं। यह अपने पति को सदैव प्यारी होगी। इसका 'अहिवात' सदा अचल रहेगा। यह जगत् में पूजनीय होगी और इससे माता-पिता का भी यश होगा। इसके सिवा जो दो-एक अवगुण है उसे भी सुन लो। इसका पति माता-पिता से हीन होगा। इसके हाथ में ऐसी रेखा पड़ी है कि इसका पति योगी, अकामी, नग्न और अमंगल वेशवाला होगा।

"नारदजी के वाक्य सुनकर हिमालय और उनकी स्त्री को तो बड़ा दुःख हुआ; किंतु पार्वती को अत्यंत प्रसन्नता हुई। ये बातें सुनकर सखियों के नेत्रों में भी आँसू भर आए। पार्वती ने इन वाक्यों को हृदय में रख लिया। उनके हृदय में शिवजी के प्रति प्रेम बढ़ गया। किंतु शिवजी की प्राप्ति कठिन समझकर उन्हें संदेह होने लगा। फिर वे जाकर सखियों की गोद में बैठ गईं। देवर्षि की वाणी को सत्य समझकर सब सखियाँ तथा माता-पिता दुःखित हुए। अंत में हिमालय ने मुनि से ऐसा उपाय पूछा जिससे ऐसा पति न मिले। मुनि ने कहा कि ब्रह्मा ने ललाट में जो लिख दिया उसे कोई मेट नहीं सकता। फिर भी मैं उपाय बतलाता हूँ, यदि देवता सहाय हुए तो हो सकता है। जैसे वर का वर्णन मैंने किया है वैसा वर पार्वती को मिलेगा अवश्य। मैंने जो जो 'गुण-दोष' बताए हैं वे सब शंकर में मिलते हैं। शिवजी में जो दोष हैं वे भी सब गुण के ही समान हैं। वे बड़े देवता हैं; यदि वे कुछ बुराई भी करें तो भी कोई उनको बुरा नहीं कह सकता।

यदि आपकी पुत्री उनके लिये तप करे तो वे भवितव्यता को भी मेट सकते हैं। संसार में अनेक वर हैं, किंतु शंकरजी के समान कोई नहीं। उनकी आराधना किए बिना इच्छित फल मिलना कठिन है। ऐसा कहकर नारदजी ने, भगवान् का स्मरण करके, गिरिजा को आशीर्वाद दिया और हिमालय से कहा कि सब कल्याण होगा। अब संशय छोड़ दो। यह कहकर नारदजी भी ब्रह्मभवन को चले गए।

"पति को एकांत में पाकर मयना ने कहा कि पुत्री भले ही कुमारी रह जाय; किंतु इसे योग्य वर को ही दीजिए नहीं तो बड़ा अपयश होगा। हिमालय ने उत्तर दिया कि नारदजी के वाक्य अवश्य सत्य होंगे। भगवान् ही इसका कल्याण करेंगे। यदि तुम पुत्री की भलाई चाहती हो तो उसे ऐसी शिक्षा दो जिससे वह तप करने चली जाय।

"यह सुनकर मयना बड़ी प्रसन्नता से पार्वती के पास आई और बहुत प्यार किया। प्रेम के मारे उससे कुछ कहा भी न गया। तब पार्वती ने अपनी माता से ये सुखदायक शब्द कहे—'हे माता! मैंने स्वप्न में एक सुंदर गोरे ब्राह्मण को यह उपदेश देते हुए देखा है कि नारदजी ने जो कुछ कहा है वह सत्य है। तप बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। हे हिमालय की पुत्री, जाकर तप करो।' यह सब सुनकर माता को बड़ा आश्चर्य हुआ और हिमालय को बुलाकर सब कह सुनाया। माता-पिता को बहुत कुछ समझाकर पार्वती तप करने के लिये बड़ी प्रसन्नता से चल दीं। सब प्रिय-परिवार और माता-पिता बड़े दुखी हुए। वेदशिरा मुनि ने आकर सबको सांत्वना दी।

"प्राणपति के चरणों का ध्यान करके पार्वती जंगल में जाकर तप करने लगीं। उनका अत्यंत सुकुमार शरीर तप के योग्य नहीं था। उन्होंने सब भोग त्याग दिए। सहस्र वर्ष केवल फल-मूल

खाकर, सौ वर्ष साग खाकर, कुछ दिन केवल जल पीकर और कुछ दिन उपवास करके बिताए। तीन सहस्र वर्ष पृथ्वी पर पड़े हुए सूखे बिल्वपत्र खाकर बिताए। कुछ दिनों के लिये उसे भी छोड़ दिया। तब उनका नाम 'अपर्णा' पड़ा। पार्वती का क्षीण शरीर देखकर आकाश में ब्रह्मवाणी हुई—'हे शैलकुमारी! तेरा मनोरथ पूर्ण हुआ। अब कठिन दुःख को छोड़। तुझे शिवजी मिलेंगे। ऐसा तप किसी ने नहीं किया। अब पिता बुलाने आवें तब हठ छोड़कर घर जाना। जब सप्तर्षि मिलें तब इस वाणी को प्रमाणित समझना।' आकाशवाणी सुनकर पार्वती बड़ी प्रसन्न हुई।

'इधर जब से सती ने शरीरत्याग किया तब से शिवजी के मन में विराग उत्पन्न हो गया। वे सदैव रामनाम जपते रहते। कभी मुनियों को ज्ञान का उपदेश देते, कभी रामचंद्रजी का गुणगान करते। इसी प्रकार बहुत दिन बीत गए। शिवजी का प्रगाढ़ प्रेम देखकर रामचंद्रजी प्रकट हो गए। उन्होंने अनेक प्रकार से शिवजी की प्रशंसा की। फिर पार्वतीजी का जन्म-वृत्तांत विस्तार-पूर्वक कह सुनाया। उन्होंने शिवजी से कहा—'यदि आप मुझसे प्रेम करते हैं तो जाकर पार्वतीजी से विवाह कर लें'। शिवजी ने कहा—'यद्यपि यह उचित नहीं है तो भी नाथ के वचन शिरोधार्य हैं।' शंकरजी के वचन सुनकर भगवान् प्रसन्न हुए। फिर यह कहकर कि शिवजी आपका 'हर'-पन जाता रहा, वे अंतर्धान हो गए। तब शिवजी ने सप्तर्षियों के आने पर उनसे कहा कि तुम पार्वती के पास जाकर उसकी प्रेम-परीक्षा कर लो और हिमालय के घर भेजकर उनका संदेह दूर करो।

"सप्तर्षि ने वहाँ पर पार्वती को मूर्तिमती तपस्या के रूप में देखा। उन्होंने पार्वती से तप करने का कारण पूछा। पार्वती ने कहा कि आप लोग हमारी मूर्खता पर हँसेंगे। हमारे मन में

एक हठ है, जो छूटता ही नहीं। हम बिना पंख के उड़ना चाहती हैं। इतने बड़े शिवजी को हम अपना पति बनाना चाहती हैं।

"पार्वती की बातें सुनकर सप्तर्षि हँस पड़े। वे बोले—तुम पर्वत से पैदा हुई हो। नारद के उपदेश पर तुमने अपना घर-बार छोड़ दिया है। नारद ने दक्ष-कन्या को भी उपदेश दिया था, जिसके परिणाम-स्वरूप वह लौटकर अपने घर को न देख सकी। चित्रकेतु के घर का नाश उन्हीं ने कराया। पुरुष हो अथवा स्त्री, जो कोई नारद का उपदेश सुनता है वह घर-बार छोड़कर भिखारी हो जाता है। नारद का मन कपटी है, इसी से वे सबको अपने ही जैसा बनाना चाहते हैं। और उनके कथनानुसार निर्गुण, निर्लज्ज, बुरा वेश धारण करनेवाला, कुटुंब-रहित, गृहहीन, नग्न और सर्पधारी पति पाकर तुम कौन सा सुख पाओगी! लोग कहते हैं कि शिवजी ने सती के साथ विवाह किया और उसे मरवा डाला। अब वे सुख की नींद सोते हैं। जो सदा एकाकी रहता है वह भला स्त्री का निर्वाह कैसे करेगा? अब हमारा कहा मानो। सब दोषों से रहित, गुणवान्, वैकुंठवासी, पवित्र, सुंदर और सुशील विष्णु को हम तुम्हारा पति बना देंगे।

"यह सुनकर पार्वतीजी ने मुस्कराकर कहा कि हमारा हठ नहीं छूट सकता। महादेवजी में चाहे कितने ही दुर्गुण और विष्णु में कितने ही सद्गुण क्यों न हों, हमने तो अपना जीवन शंभु के लिये अर्पण कर दिया है। जिसका मन जिससे रम जाता है उसको उसी से काम रहता है। गुण-दोष का विचार कौन करे? चाहे करोड़ों जन्म तक हठ करना पड़े या स्वयं शिवजी सैकड़ों बार आकर कहें; किंतु हम तो नारदजी का उपदेश न छोड़ेंगी। विवाह करेंगी तो शिवजी के ही साथ; अन्यथा भले ही कुमारी रहना पड़े। तब सप्तर्षि बड़े प्रसन्न हो पार्वतीजी की प्रशंसा करने

लगे। फिर मुनि, सिर नवाकर, चल दिए और हिमालय को समझा-बुझाकर पार्वती को घर ले गए।

"सप्तर्षियों ने शिवजी के पास जाकर पार्वतीजी का सब वृत्तांत कह सुनाया। यह सुनकर शिवजी प्रेम-मग्न हो गए। सप्तर्षि भी प्रसन्नतापूर्वक अपने घर चले गए। शिवजी, मन को स्थिर कर, भगवान् का ध्यान करने लगे।

"उस समय तारक नाम का राक्षस बड़ा बलशाली था। उसने सब लोकों और लोकपतियों को जीतकर देवताओं की सुख-समृद्धि को छीन लिया। उस अजर-अमर असुर को कोई मार न सका। उससे छुटकारा पाने के लिये देवताओं ने ब्रह्माजी से प्रार्थना की। ब्रह्माजी ने कहा कि यदि शिवजी के लड़का होगा तो वह उसे मारेगा। इसलिये शिवजी का पार्वतीजी के साथ विवाह करना चाहिए। पहले कामदेव को शिवजी के पास भेज दो। जब वे क्रोध करेंगे तब हम लोग उन्हें समझा-बुझाकर पार्वतीजी से उनका विवाह करा देंगे। सबने प्रार्थना कर कामदेव को बुलाया। उसके प्रकट होने पर सबने अपनी विपत्ति कह सुनाई। कामदेव ने कहा कि शिवजी से विरोध करने में मेरा कल्याण नहीं; किंतु मैं आप लोगों का उपकार अवश्य करूँगा। कामदेव ने मन में सोच लिया कि शिवजी के विरोध में हमारी मृत्यु अवश्यंभावी है। परंतु उसने अपना प्रभाव बढ़ाया। योगी, तपस्वी सभी काम के वश हो गए। नदियाँ समुद्र के पास और तालाब तलैयों के पास चले गए। जड़-चेतन सभी कामातुर हो उठे। कामदेव शिवजी के पास गया। वसंत ऋतु छा गई। कामोत्पादन के लिये काम-देव ने बहुत माया की, किंतु उसकी एक न चली। निदान धनुष पर कुसुम-बाण चढ़ाकर उसने शिवजी को मारा। शिवजी की समाधि टूट गई। उन्होंने क्रोध कर अपना तीसरा नेत्र खोला

जिससे कामदेव भस्म हो गया। फिर काम-पत्नी रति रोती हुई शिवजी के पास आई। शिवजी ने उससे कहा कि अब से तेरे पति का नाम अनंग हुआ और वह बिना शरीर के ही सबमें व्याप्त रहेगा। द्वापर में श्रीकृष्ण का पुत्र तेरा पति होगा।

"यह समाचार सुनकर ब्रह्मा, विष्णु आदि सब देवता शिवजी के पास आए। सबने पृथक् पृथक् उनकी प्रशंसा की। शिवजी के प्रसन्न होने पर ब्रह्माजी ने उनसे कहा कि सब देवताओं की इच्छा है कि आपका विवाह देखें। आपने बहुत अच्छा किया जो कामदेव को मारकर रति को वर दिया। पार्वती ने बड़ा भारी तप किया है, सो आप उन्हें अंगीकार कीजिए। शिवजी सहमत हो गए। उसी समय सप्तर्षि आ गए। ब्रह्मा ने उन्हें हिमालय के घर भेजा। वे जाकर पार्वती से बोले कि हमने तो पहले ही कहा था; पर तुमने हमारा कहा न माना। अब शिव ने कामदेव को मार डाला। तुम्हारा प्रण झूठा हुआ। पार्वती ने कहा कि तुम्हारी समझ में शिवजी ने कामदेव को मारा है; पर मेरी समझ में तो उन्होंने सदा से मार रखा था। सप्तर्षि प्रसन्न हो, सिर नवा, हिमालय के पास गए और कामदेव के मारे जाने का हाल कहा। इस समाचार से हिमालय को दुःख हुआ किंतु रति का वर सुनकर उनको प्रसन्नता हुई। शुभ दिन, शुभ घड़ी, शुभ नक्षत्र, शुभ लग्न दिखा पत्री लिखी गई और सप्तर्षियों द्वारा पहुँचाई गई। ब्रह्माजी ने लग्न बाँचकर सुनाई। यह सुनकर सब देवता और मुनि प्रसन्न हुए।

"शुभ मंगल होने लगे। सब देवता और मुनि अपने अपने वाहन और विमान सजाने लगे। शिवजी का पूर्ण रूप से शृंगार किया गया। उनको देखकर देवताओं की स्त्रियाँ मुस्कराती थीं कि ऐसे वर के लिये संसार में दुलहिन नहीं है। सब देवता अपनी अपनी सवारी पर चढ़कर बारात में चल दिए। बारात सुंदर

थी; वह दूल्हे के समान न थी। विष्णु भगवान् ने सब को बुलाकर कहा कि अपने अपने समाज के साथ अलग अलग होकर चलो। वर के सदृश तो बारात नहीं है। दूसरे के गाँव में जाकर हँसी कराओगे? तब शिवजी ने अपने गणों को बुलाया। उनका समुदाय बड़ा विचित्र था। किसी के मुँह ही नहीं था तो किसी के बहुत से मुँह थे। किसी के आँखें न थी तो किसी के हाथ नहीं थे। भूतगण नाचने-कूदने लगे।

"इधर हिमालय ने न केवल अपना घर वरन् नगर भी सजवाया। मंगल होने लगे। नगर की सुंदरता देखकर ब्रह्माजी भी मुग्ध होते थे। जब हिमालय ने सुना कि बारात नगर के पास आ गई है तब वे सब लोगों के साथ, अपने अपने वाहन सजाकर, अगवानी के लिये पहुँचे। छोटे बालक शिवजी को देखकर डर गए। बड़े लोग धैर्य धरकर वहाँ रुके। भयग्रस्त बच्चे अपने अपने घरों में अपनी अपनी माताओं से काँपते हुए कहते थे कि वर पागल हो गया है, बैल पर चढ़ा है और सर्पों तथा नर-मुण्ड के गहने पहने हुए है। सब माता-पिताओं ने शिवजी का समाज समझकर बच्चों को ढाढ़स दिया। बारात को लाकर सबको उचित निवासस्थान दिया। मयना ने आरती उतारी। स्त्रियों ने जब शिवजी को देखा तब वे डर के मारे अपने अपने घर चली गई। शिवजी जनवासे को गए। मयना अत्यंत दुःखित होकर, पार्वती को बुलाकर और उसे गोद में बिठाकर, आँसू भरकर कहने लगी—'जिस ब्रह्मा ने तुमको ऐसा सुंदर रूप दिया है उसने ऐसा पागल वर क्यों दिया?' सब स्त्रियाँ मयना को दुःखित देखकर रोने लगीं। मयना कहने लगीं कि नारद को किसी का कुछ पता नहीं है। उन्होंने हमारे घर का नाश क्यों कराया? पार्वती को ऐसे पति के लिये तप करने की क्यों दीक्षा दी? पार्वती ने माता को सांत्वना दी।

"सब हाल सुनकर सप्तर्षि और नारद शीघ्र ही उस घर में पधारे। नारद ने सबको समझा-बुझाकर पूर्व-जन्म का वृत्तांत बताया कि पार्वती पहले दक्ष की, सती नाम की, पुत्री थी। उसने भ्रमवश एक बार सीता का रूप धारण कर लिया था। इस अपराध के कारण वह अपने पिता के घर योगाग्नि में भस्म हो गई। तब भी यह शिवजी की अर्द्धांगिनी थी और हमेशा रहेगी। यह बात सुनकर सबका दुःख मिट गया और सर्वत्र यह समाचार फैल गया। हिमालय और मयना बड़े प्रसन्न हुए और बार बार पार्वती के पैर पूजने लगे। फिर बारात की जेवनार हुई। सब प्रकार की मिठाइयाँ तथा उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थ बनवाए गए। बारात के सामने सब परोसा गया। स्त्रियाँ गाली गाने लगीं।

"लग्न का समय आने पर हिमालय ने देवताओं को बुलाया। सबको यथोचित आसन दिया गया। भली भाँति वेदी बनाई गई। पार्वतीजी का शृंगार कराकर सखियाँ उन्हें ले आईं। उनका रूप देखकर सब देवता मुग्ध हो गए। माता समझकर सबने उन्हें प्रणाम किया। शिवजी और पार्वतीजी ने पहले गणेशजी की पूजा की। विवाह की जैसी विधि होती है वह सब कराई गई। हिमालय ने पार्वती को शंकरजी के समर्पण कर दिया। पाणिग्रहण हुआ। देवताओं को प्रसन्नता हुई। आकाश से फूल बरसने लगे। भाँति भाँति के बाजे बजने लगे। हिमालय ने दास, दासी, हाथी, घोड़े इत्यादि बहुत सा दहेज दिया। हिमालय ने शिवजी के चरण-कमल पकड़कर कहा—'मैं आपको क्या दे सकता हूँ?' शिवजी ने अपने ससुर को सब तरह से आश्वासन दिया। मयना ने शिवजी के चरण पकड़कर कहा—'हे नाथ! मेरी प्राणों से प्यारी पार्वती को अपने घर की दासी बनाओ।' शिवजी ने अपनी सास को भली भाँति समझाया। मयना ने पार्वती को बुलाकर

बड़े चाव से प्यार किया। आँखों में आँसू भरकर उसे शिक्षा दी। माता बहुत ही विकल हुई, किंतु मंगल-समय समझकर धैर्य रखा। पार्वतीजी सखियों से मिलीं और फिर अपनी माता से लिपट गई। शिवजी, पार्वती के साथ, अपने घर चल दिए। हिमालय उनको पहुँचाने गए। शिवजी ने उन्हें सब प्रकार से संतुष्ट कर बिदा किया।

"घर लौटकर हिमालय ने सब तालाबों और पर्वतों आदि को—आदर, दान, विनय इत्यादि से संतुष्ट कर—बिदा किया। उधर शिवजी के कैलास पहुँच जाने पर सब देवता अपने अपने लोक को चले गए। शिवजी तथा पार्वतीजी के शृंगार का वर्णन कौन कर सकता है? वे भाँति भाँति के भोग-विलास करने लगे।"

ऊपर की दोनों कथाओं को पढ़कर कोई भी व्यक्ति यह नहीं कह सकता कि उनमें विशेष अंतर है। रामचरितमानस में दी हुई कथा विशद और पूर्ण है। पार्वती-मंगल उसका संक्षिप्त संस्करण है। हाँ, एक भेद अवश्य है। वह यह कि गोस्वामीजी ने परवर्ती ग्रंथ में पूर्ववर्ती ग्रंथ का अनुसरण नहीं किया है। पार्वती-मंगल में शिवजी स्वयं ब्रह्मचारी का रूप धारण करके पार्वतीजी की परीक्षा लेने आते हैं; परंतु 'मानस' में इस काम के लिये सप्तर्षि भेजे जाते हैं। संस्कृत ग्रंथों में कुमारसंभव को गोस्वामीजी ने अवश्य पढ़ा होगा। उक्त ग्रंथ में स्वयं महादेवजी ही, वृद्ध ब्राह्मण का रूप धारण कर, अपनी प्रेयसी के प्रेम की परीक्षा लेने जाते हैं। प्रेमी और प्रेयसी का साक्षात्कार कराकर कवि शृंगार-क्षेत्र में संभोग-भाव का अनूठा आलंबन उपस्थित कर देते हैं। कला की दृष्टि से ऐसा आयोजन कवि की शृंगार-संबंधी सूझ का द्योतक है; परंतु संकोच-भाव के कारण अपनी भावी पत्नी के पास स्वयं न जाकर प्रेम-परीक्षार्थ अपने निकटतम मित्रों को भेजना उक्त विधान

से कहीं अच्छा है। गोस्वामीजी के ग्रंथों में अन्यत्र भी भेद मिलते हैं; किंतु इससे उन ग्रंथों के गोस्वामीजी-रचित होने में कोई बाधा नहीं उपस्थित होती। गीतावली में परशुराम-आगमन वाल्मीकीय रामायण के अनुसार है; परंतु मानस में वैसा नहीं है। कवितावली में लंकादहन का जैसा सजीव चित्रण है वैसा गोस्वामीजी के किसी भी ग्रंथ में नहीं है। परंतु इससे किसी ग्रंथ की प्रामाणिकता को आघात नहीं पहुँचता।

गोस्वामीजी कुमारसंभव के कहाँ तक ऋणी हैं, इसकी ठीक ठीक जाँच तभी हो सकती है जब हम कुमारसंभव के कथाभाग से भी अवगत हो जायँ।

शिव-पार्वती-विवाह-वर्णन भारतीय गाथाओं का एक प्राचीन कथानक है। ब्रह्मपुराण और कालिकापुराण में तो इसका विवरण है ही, साथ ही शिवपुराण में भी इसका उल्लेख है। कालिका-पुराण और ब्रह्मपुराण के कथानक अत्यंत संक्षिप्त हैं, परंतु शिव-पुराण का वर्णन विशद है। यदि पुराणों का रचना-काल कुमार-संभव से पहले हो तो कालिदास ने निस्संदेह पुराणों के कथानकों का उपयोग किया होगा। परंतु भाषा-तत्त्व-वेत्ताओं का कहना है कि पौराणिक भाषा कालिदास की भाषा से नवीन है। अतएव यह प्रश्न नहीं उठता।

अब यह देखना है कि गोस्वामीजी किस साधन के कहाँ तक ऋणी हैं। पुराणों के कथानकों को यहाँ उद्धृत करना तो संभव नहीं है परंतु इतना जान लेना चाहिए कि उनमें केवल इति-वृत्तात्मक वर्णन है। कुमारसंभव का वर्णन रसात्मक है। पुराणों का ऋण तो केवल इतना ही हो सकता है कि मानस में गोस्वामीजी ने बारात का हास्यपूर्ण वर्णन उन्हीं से लिया हो। परंतु काव्यमय अभिव्यक्ति गोस्वामीजी की निजी है।

कालिदास का कुमारसंभव महाकाव्य है; पर गोस्वामीजी का पार्वती-मंगल एक साधारण खंड-काव्य। कुमारसंभव के पहले सर्ग में पार्वती की उत्पत्ति की चर्चा है। दूसरे और तीसरे में ब्रह्म-साक्षात्कार और मदन-दहन का वर्णन है। चौथे और पाँचवें सर्गों में रति-विलाप और पार्वती की तपश्चर्या का उल्लेख है। छठे और सातवें में उमा-प्रदान और उमा-परिणय है। आठवें में 'उमा-सुरत' का वर्णन है। नवें और दसवें में कैलास-गमन तथा कुमारोत्पत्ति का विवरण है। ग्यारहवें सर्ग में भी कुमारोत्पत्ति की आवृत्ति हुई है। शेष सर्गों में जो कथा वर्णित है उसका पार्वती-मंगल से कोई संबंध नहीं।

मिश्र-बंधुओं के लिखने पर भी हम यह सप्रमाण कह सकते हैं कि पार्वती-मंगल के रचयिता का आदर्श कालिदास न थे। कुमार-संभव और पार्वती-मंगल बिलकुल विभिन्न आदर्शों की प्रेरणा से प्रणीत हैं। शैव होने पर भी कालिदास अपने उपास्यदेव के चरित्र-चित्रण में देवत्व का समावेश न कर सके, जो उन्हें साधारण जनों से ऊँचा प्रदर्शित करे। कदाचित् उन्हें यह अभीष्ट भी न था। उनका ध्येय था 'शिव-पार्वती-विवाह' को केवल काव्यमय स्वरूप देना। इसी की झोंक में उन्होंने शिव और पार्वती को निरा मनुष्य बना डाला है। कला की आशातीत सफलता के बल पर उन्होंने यथार्थवाद की अच्छी अभिव्यंजना की है पर गोस्वामीजी का आदर्शवाद इससे सर्वथा पृथक् है।

कालिदास का कामदेव महादेव जैसे यति के चित्त में भी क्षोभ उत्पन्न करने में समर्थ हो जाता है—

'अथेन्द्रियक्षोभमयुग्मनेत्रः पुनर्वशित्वाद्बलवन्निगृह्य।
हेतुं स्वचेतोविकृतेर्दिदृक्षुर्दिशामुपान्तेषु ससर्ज दृष्टिम्॥'

(सर्ग ३, श्लोक ६९)

किंतु गोस्वामीजी ने मानस में काम के कातर भाव का वर्णन कर महादेव की महत्ता को बढ़ा दिया है; और तदनंतर इस वर्णन का उनके रौद्र स्वरूप प्रदर्शन से पूर्ण सामंजस्य है। कालिदास का कामदेव फिर, अपनी डींग हाँकता हुआ, कहता है—

'तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा ।
कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ॥' (३, १०)

रामचरितमानस की भाँति न तो वह अपने प्राणनाश से भयभीत होता है और न अपनी सीमित शक्ति की ही चर्चा करता है। प्रत्युत महादेव से संघर्ष करने में वह अपना गौरव समझता है और अपने को अद्वितीय धन्वी उद्घोषित करता है। इस वर्णन से शिवजी का आसन कुछ नीचे गिर जाता है।

कुमारसंभव के आरंभ में महादेवजी का जो सुंदर चरित्र उठाया गया था वह छठे सर्ग में, एक नव-विवाहित प्रेमी की अनुपम आसक्ति की अभिव्यंजना की झोंक में, नष्ट कर डाला गया। यहाँ पार्वती एक साधारण प्रेमासक्त मुग्धा के रूप में चित्रित की गई हैं। उनका 'जगज्जननीत्व' दब सा गया है। उनके रूप-सौष्ठव और उनकी आलंकारिक सजावट का वर्णन केवल एक नववधू के ही उपयुक्त है। कोई भी व्यक्ति अपनी माता के अंग-प्रत्यंग का ऐसा कामोत्पादक वर्णन नहीं कर सकता। किंवदंती तो यहाँ तक है कि कालिदास को इस अनौचित्य का दंड मिला था और वे कोढ़ी हो गए थे।

कहने का अभिप्राय यह कि गोस्वामीजी के शिव और पार्वती देवता हैं और कालिदास के मनुष्य। हमारा यह तात्पर्य नहीं कि कालिदास ने उन्हें देवता नहीं माना वरन् उन्होंने काव्य में उनका जो स्वरूप खड़ा किया है वह मानवीयता लिए हुए है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

"कल्याण काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं।
तुलसी उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं॥" (पार्वती-मंगल)

कालिदास का ऐसा कोई भाव न था। अतएव यह आदर्श-भेद इस बात को स्पष्ट कर देता है कि गोस्वामीजी कालिदास के ऋणी न थे।

कुछ बातें और हैं। कुमारसंभव में प्रकृति का अनूठा वर्णन, संध्या और रात्रि का चित्रण बहुत अच्छा है। रति-विलाप तो विश्व-साहित्य की अनोखी संपत्ति है। महादेव-पार्वती के कथोपकथन भी बहुत मनोरंजक हैं। कामदेव के प्रलोभन का जितना सुंदर चित्र कालिदास ने खड़ा किया है वैसा पार्वती-मंगल में तो है ही नहीं, मानस में भी अपूर्ण है। पार्वती-मंगल में तो केवल इतना ही लिखा है 'बामदेव सन काम बाम होइ बरतेउ' और सब छोड़ दिया—

'तपस्विनः स्थाणुवनौकसस्तामाकालिकीं वीक्ष्य मधुप्रवृत्तिम्।
प्रयत्नसंस्तम्भितविक्रियाणां कथंचिदीशा मनसां बभूवुः॥ ३४॥
तं देशमारोपितपुष्पचापे रतिद्वितीये मदने प्रपन्ने।
काष्ठागतस्नेहरसानुविद्धं द्वंद्वानि भावं क्रियया विवव्रुः॥ ३५॥
मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥ ३६॥
ददौ रसात्पङ्कजरेणुगन्धि गजाय गण्डूपजलं करेणुः।
अर्धोपभुक्तेन बिसेन जायां संभावयामास रथाङ्गनामा॥ ३७॥
गीतान्तरेषु श्रमवारिलेशैः किंचित्समुच्छ्वासितपत्रलेखम्।
पुष्पासवाघूर्णितनेत्रशोभि प्रियामुखं किंपुरुषश्चुचुम्बे॥ ३८॥
पर्याप्तपुष्पस्तबकस्तनाभ्यः स्फुरत्प्रबालोष्ठमनोहराभ्यः।
लतावधूभ्यस्तरवोऽप्यवापुर्विनम्रशाखाभुजबन्धनानि'॥ ३९॥

(कुमारसंभव, सर्ग ३)

मानस का काम-व्यापार-वर्णन अपने ढंग का अद्वितीय है। महादेवजी की बारात को देखने के लिये नगर की भीड़ किस प्रकार उमड़ पड़ती है, इसका अत्यंत सुंदर और मार्मिक वर्णन कालिदास ने, कुमारसंभव के सातवें सर्ग में, किया है—

'तमेकदृश्यं नयनैः पिबन्त्यो नार्यो न जग्मुर्विषयान्तराणि।
तथाहि शेषेन्द्रियवृत्तिरासां सर्वात्मना चक्षुरिव प्रविष्टा' ॥ ६४ ॥ (सर्ग ७)

स्त्रियों का और भी क्रमिक वर्णन देखिए—

तस्मिन्मुहूर्ते पुरसुन्दरीणामीशानसंदर्शनलालसानाम्।
प्रासादमालासु बभूवुरित्थं त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ५६ ॥
आलोकमार्गं सहसा व्रजन्त्या कयाचिदुद्वेष्टनवान्तमाल्यः।
बद्धुं न सम्भावित एव तावत्करेण रुद्धोऽपि च केशपाशः ॥ ५७ ॥
प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमाक्षिप्य काचिद्द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान ॥ ५८ ॥
विलोचनं दक्षिणमञ्जनेन सम्भाव्य तद्वञ्चितवामनेत्रा।
तथैव वातायनसंनिकर्षं ययौ शलाकामपरा वहन्ती ॥ ५९ ॥
जालान्तरप्रेषितदृष्टिरन्या प्रस्थानभिन्नां न बबन्ध नीवीम्।
नाभिप्रविष्टाभरणप्रभेण हस्तेन तस्थाववलम्ब्य वासः ॥ ६० ॥
अर्धाचिता सत्वरमुत्थितायाः पदे पदे दुर्निमिते गलन्ती।
कस्याश्चिदासीद्रशना तदानीमङ्गुष्ठमूलार्पितसूत्रशेषा ॥ ६१ ॥
तासां मुखैरासवगन्धगर्भैर्व्याप्तान्तराः सान्द्रकुतूहलानाम्।
विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन् ॥ ६२ ॥
तावत्पताकाकुलमिन्दुमौलिरुत्तोरणं राजपथं प्रपेदे।
प्रासादशृङ्गाणि दिवापि कुर्वञ्ज्योत्स्नाभिषेकद्विगुणद्युतीनि ॥ ६३ ॥

ऐसा सुंदर वर्णन किसी भी अनुकरणशील कवि को आकर्षित किए बिना नहीं रह सकता; परंतु गोस्वामीजी ने इस स्थल को पार्वती-

मंगल में योंही टाल दिया है। रामचरितमानस में भी इसकी कोई विशेष छाया नहीं दीख पड़ती। इन सब बातों के होते हुए यह कैसे मान लिया जाय कि गोस्वामीजी ने, अथवा अन्य किसी कवि ने, कुमारसंभव के अनुसार 'पार्वती-मंगल' का प्रणयन किया है। 'मानस' में दानवों का हास्यपूर्ण वर्णन भी गोस्वामीजी की निजी सूझ है। कालिदास की रचनाओं में ऐसा स्थल नहीं है।

प्रस्तुत ग्रंथ गोस्वामीजी की ही कृति है, इसकी प्रामाणिकता की जाँच, आंतरिक और बाह्य समीक्षा से, और भी की जा सकती है। ग्रंथ को ध्यान से पढ़ने पर ऐसे बहुत से स्थल मिलेंगे जिनकी रचना का श्रेय गोस्वामीजी के अतिरिक्त और किसी को मिल ही नहीं सकता। पूर्वी अवधी जिस सौष्ठव के साथ इस ग्रंथ में ढली है वैसी गोस्वामी-जी के ग्रंथों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी दृष्टिगत नहीं होती। कोई शिवभक्त इतनी अच्छी कविता करके—केवल एक ही ग्रंथ लिखकर—अपना नामोल्लेख तक न करे और उसकी चर्चा तक न सुनी जाय, यह एक कल्पनातीत कल्पना है। इस पुस्तक में रामचरित-मानस से मिलते-जुलते इतने स्थल हैं जिन्हें पढ़कर कोई भी निष्पक्ष आलोचक इसे गोस्वामीजी के अतिरिक्त और किसी की कृति नहीं कह सकता। हाँ, यदि स्वयं रामचरितमानस के ही गोस्वामीजी-रचित होने में संदेह हो, तो दूसरी बात है। हमने दोनों ग्रंथों के सादृश्यमूलक स्थलों को एकत्र किया है। वे, पाठकों की जानकारी के लिये, नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

'कबितरीति नहिं जानउँ, कबि न कहावउँ।
शंकर-चरित-सुसरित मनहिं अन्हवावउँ॥' (पार्वती-मंगल)

'कबि न होउँ नहिँ चतुर कहावौं। मति-अनुरूप रामगुन गावौं॥'
(रामचरितमानस)

———

'एक समय हिमवान भवन नारद गए।
गिरिवर मैना मुदित मुनिहि पूजत भए॥
उमहिं बोलि ऋषिपगन मातु मेलति भई।
मुनि मन कीन्ह प्रनाम, बचन आसिष दई॥' (पार्वती-मंगल)

'नारद समाचार सब पाए। कौतुकही गिरि गेह सिधाए॥
सैलराज बड़ आदर कीन्हा। पद पखारि वर आसनु दीन्हा॥
× × × ×
निज सौभाग्य बहुत गिरि बरना। सुता बोलि मेली मुनिचरना॥'
(रामचरितमानस)

'तुम त्रिभुवन तिहुँकाल बिचारबिसारद।' (पार्वती-मंगल)
'त्रिकालग्य सर्वग्य तुम्ह गति सर्वत्र तुम्हारि।' (रामचरितमानस)

'वदति जननि, "जगदीस जुवति जिनि सिरजहि"।' (पार्वती-मंगल)
'कत बिधि सृजी नारि जग माहीं।' (रामचरितमानस)

'कंद मूल फल असन, कबहुँ जल पवनहिं।
सूखे बेल के पात खात दिन गवनहिं॥
नाम अपरना भयो परन जब परिहरे।
नवल धवल कल कीरति सकल भुवन भरे॥' (पार्वती-मंगल)

'बेलपाति महि परै सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई॥
पुनि परिहरे सुखानेउ परना। उमहि नामु तब भएउ अपरना॥'
(रामचरितमानस)

'कहहु काह सुनि रीझिहु बरु अकुलीनहिं।' (पार्वती-मंगल)

'कहहु कवन सुख अस बरु पाएँ।' (रामचरितमानस)

'मेटि को सकइ सो आँकु जो बिधि लिखि राखेउ।' (पार्वती-मंगल)

'बिधि कर लिखा को मेटनहारा।' (रामचरितमानस)

'जैसे जनमदरिद्र महामनि पावइ।' (पार्वती-मंगल)

'जनमरंक जनु पारस पावा।' (रामचरितमानस)

'सुख पाइ बात चलाइ सुदिनु सोधाइ गिरिहि सिखाइकै।' (पार्वती-मंगल)

'सुदिन सुनखत सुघरी सोचाई।' (रामचरितमानस)

'गिरि, बन, सरित, सिंधु, सर सुनइ जो पायउ।
सब कहँ गिरिबर-नायक नेवति पठायउ॥' (पार्वती-मंगल)

'सैल सकल जहँ लगि जग माहीं। लघु बिसाल नहिं बरनि सिराहीं॥
बन सागर सब नदीं तलावा। हिमगिरि सब कहँ नेवति पठावा'॥

(रामचरितमानस)

'धरि धरि सुंदर वेष चले हरषित हिए।' (पार्वती-मंगल)

'काम-रूप सुंदर-तनु-धारी।' (रामचरितमानस)

'तोरन कलस चँवर धुज बिबिध बनाइन्हि।' (पार्वती-मंगल)

'मंगल कलस अनेक बनाए। ध्वज, पताक, पट, चँवर सुहाए॥'

(रामचरितमानस)

'नाचहिं नाना रंग, तरंग बढ़ावहिं।' (पार्वती-मंगल)

'नाचहिँ गावहिँ गीत, परम तरंगी भूत सब।' (रामचरितमानस)

'बिबुध बोलि हरि कहेउ निकट पुर आयउ ।
आपन आपन साज सबहिँ बिलगायउ ॥' (पार्वती-मंगल)

'बिष्णु कहा अस बिहँसि तब, बोलि सकल दिसिराज ।
बिलग बिलग होइ चलहु सब, निज निज सहित समाज ॥' (रामचरितमानस)

—— ——

'बर अनुहरति बरात बनी हरि हँसि कहा ।
सुनि हिय हँसत महेस केलि कौतुक महा ॥' (पार्वती-मंगल)

'बर अनुहारि बरात न भाई । हँसी करैहहु पर-पुर जाई ॥
× × × ×
मनही मन महेस मुसुकाहीँ । हरि के ब्यंग बचन नहिँ जाहीँ ॥'
(रामचरितमानस)

——

चले भाजि गज बाजि फिरहि नहिँ फेरत ।
बालक भभरि भुलान फिरहिँ घर हेरत ॥' (पार्वती-मंगल)

'बिडरि चले बाहन सब भागे ।
× × ×
बालक सब लै जीव पराने ।' (रामचरितमानस)

——

'प्रेत बेताल बराती, भूत भयानक ।
बरद चढ़ा बर बाउर, सबइ सुबानक ॥
कुसल करइ करतार, कहहिँ हम साँचिय ।
देखब कोटि बियाह जियत जो बाँचिय ॥' (पार्वती-मंगल)

'बर बौराह बरद असवारा । ब्याल कपाल बिभूषन छारा ।'
× × × ×
'सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि बिकटमुख रजनीचरा ।'
'जो जिअत रहिहि बरात देखत पुन्य बड़ तेहि कर सही ॥'
(रामचरितमानस)

——

'नारद के उपदेस कवन घर गे नहिँ ?' (पार्वती-मंगल)

'नारद कर उपदेसु सुनि कहहु बसेउ किसु गेह ।' (रामचरितमानस)

'कहहु काहि पटतरिय गौरि गुनरूपहिँ ।' (पार्वती-मंगल)

'केहि पटतरौं बिदेहकुमारी ।' (रामचरितमानस)

'आवत उमहिँ बिलोकि सीस सुर नावहि ।' (पार्वती-मंगल)

'सुरन्ह मनहिँ मन कीन्ह प्रनामा ।' (रामचरितमानस)

'दाइज बसन मनि धेनु धनु हय गय सुसेवक सेवकी ।

दीन्हीं मुदित गिरिराज जे गिरिजहि पियारी पेव की ॥' (पार्वती-मंगल)

'दासी दास तुरँग रथ नागा । धेनु बसन मनि बस्तु बिभागा ॥

अन्न कनक भाजन भरि जाना । दाइज दीन्ह न जाइ बखाना ॥'

(रामचरितमानस)

'परूसन लगे सुवार, बिबुध जन सेवहिं ।

देहिं गारि बर नारि मोद मन भेवहिं ॥' (पार्वती-मंगल)

'बिबिधि पाँति बैठी जेवनारा । लगे परोसन निपुन सुआरा ॥

नारिबृंद सुर जेवँत जानी । लगीँ देन गारीं मृदुबानी ॥'

(रामचरितमानस)

'गौरि सजीवनि-मूरि मोरि जिय जानबि ।' (पार्वती-मंगल)

'नाथ उमा मम प्रानप्रियारी ।' (रामचरितमानस)

'नारि जनमु जग जाय।' (पार्वती-मंगल)

'कत बिधि सृजी नारि जग माहीं।' (रामचरितमानस)

'संकर गौरि समेत गए कैलासहि।

नाइ नाइ सिर देव चले निज आसहि॥' (पार्वती-मंगल)

'जबहिं संभु कैलासहि आए। सुर सब निज निज लोक सिधाए॥'

(रामचरितमानस)

'कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं।

तुलसी उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं॥' (पार्वती-मंगल)

'उपबीत ब्याह उछाह जे सिय राम मंगल गावहीं।

तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिनु पावहीं॥' (जानकी-मंगल)

'उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।

बैदेहि-राम-प्रसाद तें जन सर्वदा सुख पावहीं॥' (रामचरितमानस)

यद्यपि उक्त दोनों ग्रंथों में भाव-सादृश्य तथा शब्द-सादृश्य के कुछ और उदाहरण मिल सकते हैं, परंतु ऊपर के अवतरण यथेष्ट से अधिक हैं। दो भिन्न कवियों में इतना महान् सादृश्य मिल ही नहीं सकता। भावों और भाषा का अपहरण तथा शब्दों की आवृत्ति दोनों ग्रंथों के लेखकों का एक होना प्रमाणित करती है। पृष्ठ १९५ में उद्धृत पार्वती-मंगल और रामचरितमानस की पंक्तियों में 'मेली' क्रिया के प्रयोग की आवृत्ति है। अंतिम अवतरण में 'पार्वती-मंगल' के पद के भाव और शब्द 'जानकी-मंगल' तथा 'रामचरितमानस' के पद के बिलकुल समान हैं। मिश्रबंधु भी 'जानकी-मंगल' को गोस्वामीजी की कृति मानते हैं। अवतरणों से यह भी प्रकट होता है कि 'पार्वती-मंगल' के बहुत से शब्द

गोस्वामीजी के निजी हैं। सारी शैली में बड़ा साम्य है। 'मानस' की ही तरह यह काव्य भी शिथिल नहीं है। इस ग्रंथ के क्रियापदों और संज्ञापदों में उतना ठेठ पूर्वी अवधीपन नहीं है जितना कि 'बरवै रामायण' अथवा 'रामलला नहछू' में है। पार्वती-मंगल के क्रिया-पदों और संज्ञापदों में तथा रामचरितमानस में प्रयुक्त क्रियापदों और संज्ञा-पदों में अधिक साम्य है।

सारांश यह है कि 'पार्वती-मंगल' और गोस्वामीजी की अन्य कृतियों में इतना अधिक साम्य है कि कोई स्तेय-कर्म-विशारद कवि भी इतना रूप-सादृश्य नहीं ला सकता। ग्रंथ की यह आभ्यंतरिक मीमांसा हमको इस निष्कर्ष तक पहुँचाती है कि यह ग्रंथ गोस्वामी-जी का ही है।

अब आलोच्य ग्रंथ की बहिरंग समीक्षा भी कर लेनी चाहिए, यद्यपि उससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि यह गोस्वामीजी की ही कृति है। बाबा रघुनाथदास ने इसे गोस्वामीजी-रचित माना है। उनके दूसरे शिष्य और समकालीन भक्त बाबा वेणीमाधवदास ने भी इस पुस्तक को उन्हीं की रचना माना है।

प्रसिद्ध रामायणी पं० रामगुलामजी द्विवेदी ने भी, गोस्वामीजी की ग्रंथ-सूची में, इस पुस्तक का नाम दिया है। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने ग्रंथ में दिए हुए 'जय संवत्' की गणना करके उसे संवत् १६४३ ठहराया है और ग्रंथ को गोस्वामीजी की एक उत्कृष्ट कृति बताया है। शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंहसरोज' में गोस्वामी-कृत ग्रंथों की तालिका के अंतर्गत इसका नाम दिया है। डाक्टर ग्रियर्सन ने लिखा है—"जानकी-मंगल और पार्वती-मंगल—इन दोनों के असली होने में शंका है।" परंतु ग्रियर्सन साहब स्वयं इन दोनों ग्रंथों को गोस्वामीजी की कृति होने में संदेह नहीं करते (अन्यथा इन्हें अपनी सूची में सम्मि-

लित न करते)। उन्होंने मिश्र-बंधुओं की धारणा की चर्चा करना उचित समझकर यह वाक्य लिख दिया है—परंतु मिश्र-बंधुओं ने जानकी-मंगल को गोस्वामीजी की ही कृति मानी है। ग्रियर्सन साहब ने जानकी-मंगल को न जाने क्यों पार्वती-मंगल के साथ सम्मिलित कर दिया है। अनेक रीति-ग्रंथकारों ने पार्वती-मंगल को तुलसी-कृत मानकर रीति-ग्रंथों में उसके उदाहरण दिए हैं। पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी ने भी 'कविता-कौमुदी' में तुलसीदासजी-रचित ग्रंथों में इसकी गणना की है। केवल मिश्रबंधुओं ने ही इसे कल्पित कहा है। तुलसी-ग्रंथावली के अंतिम खंड में पं० रामचंद्र शुक्ल, अपनी प्रस्तावना के ६८ पृष्ठ पर, लिखते हैं—"इस ग्रंथ (पार्वती-मंगल) में शिव-पार्वती के विवाह का वर्णन है। इसमें १४८ तुक सोहर छंद के हैं और १०८छंद हैं।"

"इसको तुलसीदासजी ने जय संवत् फागुन सुदी ५ गुरुवार अश्विनी नक्षत्र में बनाया। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी-जी के गणनानुसार जय संवत् १६४२ में होता है।

"निम्न छंद से जान पड़ता है कि इस समय बहुत लोग तुलसी-दासजी से बुरा मानते थे और इनकी निंदा और इनसे विवाद करते थे—

'पर अपवाद-विवाद-विदूपित बानिहि। पावनि करउँ सो गाइ भवेस-भवानिहि॥'

"यह पुस्तक आदि से अंत तक शुद्ध पूर्वी अवधी में है, केवल कहीं कहीं व्रजभाषा के एकाध कारक-चिह्न दिखाई पड़ते हैं।"

पं० रामचंद्र शुक्ल ने उक्त ग्रंथ को गोस्वामीजी-कृत माना है, यह ऊपर के अवतरण से स्पष्ट है। अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास (पृष्ठ १३४ तथा १४२) में आपने पार्वती-मंगल को गोस्वामीजी-कृत ग्रंथों की तालिका में दिया है। श्री रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास ने भी अपने "हिंदी भाषा और साहित्य" में इस ग्रंथ को तुलसी-

कृत बताया है। अभी हाल में हिंदुस्तानी एकेडमी द्वारा प्रकाशित 'गोस्वामी तुलसीदास' में भी उन्होंने इस ग्रंथ को तुलसीदासजी-रचित स्वीकार किया है।

इतने प्रमाणों के बाद अब कदाचित् इस बात की आवश्यकता नहीं है कि पार्वती-मंगल को गोस्वामीजी-कृत सिद्ध करने के लिये और कुछ कहा जाय। रामचरितमानस में शिव-विवाह-वर्णन यथेष्ट विशद रूप में होने पर भी कवि ने पार्वती-मंगल में फिर उसे क्यों लिखा, इसका एक उत्तर तो यही है कि कवि ने उदार भाव का निदर्शन करके शैवों को भी रामायण पढ़ने को प्रोत्साहित किया। शिव-भक्तों को पृथक् रूप से पढ़ने के लिये उन्होंने संक्षेप में उनके उपास्यदेव का विवाह-वर्णन लिपिबद्ध किया और यह प्रदर्शित कर दिया कि एक वैष्णव भी शिवभक्त हो सकता है। इसके सिवा एक बात और है। गोस्वामीजी विभिन्न छंदों के प्रयोग के बड़े इच्छुक रहे हैं। उस समय जितनी अभिव्यंजन-प्रणालियाँ प्रचलित थीं उन सबमें उन्होंने कुछ न कुछ लिखा है। जायसी की 'दोहा-चौपाई'-पद्धति में उन्होंने अपना महान् ग्रंथ रामचरितमानस रचा। वीरगाथा-काल की 'छप्पय'-पद्धति में उन्होंने छप्पय-रामायण रची। विद्यापति और सूरदास की 'गीत'-पद्धति के अनुसार उन्होंने गीतावली, श्रीकृष्ण-गीतावली तथा विनय-पत्रिका का प्रणयन किया। गंग आदि भाटों की 'कवित्त-सवैया'-पद्धति के अनुसार कवितावली की सृष्टि की। कबीरदासजी की नीति-संबंधी 'बानी' दोहा-पद्धति में, जो अपभ्रंश-काल से चली आती थी, दोहावली बनाई। रहीम द्वारा प्रयुक्त 'बरवा'-पद्धति में उन्होंने बरवै-रामायण की तथा घरेलू गानवाली 'सोहर'-पद्धति में पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल की रचना की। कहने का तात्पर्य यह है कि सब प्रचलित प्रणालियों में उन्होंने कुछ न कुछ अवश्य लिखा है और

वह भी साधारण रूप में नहीं, अत्यंत उत्कृष्ट रूप में। इसी प्रकार उनकी भाषा के दो रूप स्पष्ट दिखाई देते थे। जायसी की अवधी और सूर की व्रज भाषाओं का उदाहरण उनके समक्ष था। उनकी अवधी दो स्वरूपों में प्रवाहित हुई—पूर्वी अथवा ठेठ अवधी और पश्चिमी अथवा मिश्रित अवधी। गोस्वामीजी ने न केवल इन सब का प्रयोग किया वरन् इनके प्रयोग में असाधारण पांडित्य प्रदर्शित किया है। गीतावली, श्रीकृष्ण-गीतावली, विनय-पत्रिका आदि ग्रंथों में व्रजभाषा के सुसंस्कृत स्वरूप का स्फुरण हुआ है, जो सूर की भाषा से उत्कृष्ट है। रामलला नहछू, बरवै-रामायण, पार्वती-मंगल तथा जानकी-मंगल में पूर्वी अवधी अपने मूल स्वरूप में ढली है जो जायसी की ठेठ ग्राम्य भाषा से कहीं बढ़कर है। रामचरितमानस में हमें पश्चिमी अवधी का ऐसा सुंदर रूप दीख पड़ता है जैसा अन्यत्र कदाचित् ही दिखाई पड़े।

भिन्न भिन्न अभिव्यंजन-प्रणालियों में भगवच्चरित्र का गान करना, भिन्न भिन्न भाषाओं में उसी का चित्रण करना तथा भिन्न भिन्न छंदों के साँचे में अपने उपास्यदेव और उनके निकटवर्ती देवताओं की गाथा को ढालना गोस्वामीजी का स्वभाव था। इसी के परिणाम-स्वरूप शिव-भक्तों के लिये पार्वती का विवाह रामचरितमानस से पृथक्—भिन्न छंद और स्वरूप में—रखा गया है। इसके सोहर छंद विवाह जैसे शुभ अवसर के लिये कितने उपयुक्त हैं, यह भारत का प्रत्येक हिंदी-भाषी जानता है।

इधर पत्र-पत्रिकाओं में इस विवाद पर आवश्यकता से अधिक समय और स्थान दिया गया है कि कविता के लिये किसी छंद और वृत्त की आवश्यकता है अथवा नहीं। यह विवाद हमारे यहाँ नवीन है, यद्यपि अँगरेजी साहित्य के विद्वानों में यह चर्चा बहुत दिनों से चल रही है और अभी तक शांत नहीं हो पाई है। अब जर्मन और

फ्रेंच साहित्य में नवीन आलोचना के प्रवाह के कारण, संगीत के सामंजस्य के लिये, काव्य में किसी अंश तक वृत्त और छंद की व्यवस्था स्वीकार की जा चुकी है; जिस समय संस्कृत-साहित्य का साम्राज्य था उस समय भारत में इस विवाद को लोगों ने अधिक महत्त्व नहीं दिया था। यहाँ तो पहले वृत्त और छंद का इतना महत्त्व था कि ज्योतिष, इतिहास, भूगोल, रसायन-शास्त्र, दर्शन तथा कोष और विज्ञान तक के अंग-प्रत्यंग का सम्यक् प्रणयन वृत्तों में किया गया है। तर्कशास्त्र के सिद्धांत यदि छंद-बद्ध किए जायँ तो वे तुक-बंदियों के अतिरिक्त हो ही क्या सकते हैं? परंतु पुराने विद्वानों को इसमें कुछ आनंद आता था। कदाचित् स्मरण-शक्ति की सहायता के लिये उन्होंने ऐसा किया है। पीछे उन्होंने यह समझाया कि इन तुक-बंदियों को काव्य का स्वरूप कदापि प्राप्त नहीं हो सकता। दूसरे खेवे के संस्कृत विद्वानों ने, संस्कृत-साहित्य के इतिहास के अंतिम समय में, छंद के प्रतिबंध के प्रतिकूल अपनी आवाज उठाई। इनमें दंडी और बाण प्रधान हैं। दशकुमार-चरित और कादंबरी की रचना करके इन्होंने यह प्रमाणित करना चाहा कि गद्य में भी अनूठा काव्य लिखा जा सकता है। उनके काव्यों में कलात्मक अभिव्यक्ति की प्रचुरता है। वे लंबे लंबे समस्त पदों से युक्त हैं। शब्द-बाहुल्य से कथा-भाग दब गया है। भाव-स्फुरण और रस-व्यंजना का पता कम है। हाँ, अलंकारों की भरमार अवश्य है। संस्कृत के इस ह्रास-काल के कवियों ने काव्य के एक विचित्र स्वरूप की स्थापना की।

छंदःशास्त्र का जितना सूक्ष्म विवेचन, रीति-शास्त्रों का जितना विशद वर्णन भारतवर्ष में मिलेगा, अन्यत्र कदाचित् ही मिले। इसी प्रकार संगीत-विद्या का जितना गहरा विश्लेषण भारतवर्ष में हुआ है, संसार में कहीं न हुआ होगा। राग रागिनियों तथा स्वरों और

उपस्वरों के जितने भेद-उपभेद हमारे यहाँ हैं, अन्यत्र कहीं नहीं। उनके साधारण अनुशीलन से बुद्धि चकरा जाती है। हिंदी ने संस्कृत के सारे छंद तो अपना ही लिए हैं; साथ ही बहुत से नए नए छंदों की सृष्टि भी की गई है। केवल विभिन्न छंदों का प्रयोग-कौशल दिखाने के लिये केशवदासजी ने अपनी सारी कवित्व-शक्ति का अपव्यय कर डाला। यह बिलकुल असत्य नहीं है कि कुछ वर्तमान उदीयमान कवि, केवल छंदों के भेदों और उपभेदों से ही घबड़ाकर, विरोधभाव प्रदर्शित करते हैं। वास्तव में यदि हम समझ जायँ कि वृत्ति, छंद, लय और ध्वनि क्या हैं और कविता में इनका उद्देश्य और स्थान क्या है तो विवाद बहुत कुछ मंद पड़ जाय।

प्रत्येक शब्द, वरन् प्रत्येक अक्षर, की एक ध्वनि निर्धारित रहती है। सारा स्वर-समूह ही ध्वन्यात्मक है। नादसंपन्न वाग्यंत्र का तारतम्य स्वतः एक ध्वनि है। इसी ध्वनि के मूल में संगीत है। अक्षरों और शब्दों के विशेष विशेष प्रकार के संगठन विशेष विशेष प्रकार के छंद कहलाते हैं। 'छंद' अक्षरों और शब्दों के अनुच्चरित संगठन का नाम है। उच्चरित होने से उसमें संगीत आ जाता है। सारांश यह कि छंद अथवा वृत्त अक्षरों और शब्दों के संगठन का अनुच्चरित स्वरूप है और संगीत उच्चरित स्वरूप। एक अव्यक्त नाद है, दूसरा व्यक्त नाद। सच पूछिए तो अव्यक्त नाद का कोई मूल्य नहीं है। व्यक्त नाद ही वास्तविक स्वरूप है। परंतु इसकी उपस्थिति भी अक्षरों और शब्दों के विशेष क्रम की अपेक्षा रखती है। अतः सारा प्रासाद सुंदरभाववाची शब्दों और अक्षरों के विशेष संगठन पर ही स्थित है। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि लिखित भाषा में उच्चारण की तो कोई बात रहती नहीं, अतः संगीत के बिना भी अक्षरों और शब्दों का स्वरूप हो सकता है। परंतु यह सिद्धांत भ्रमात्मक है। साहित्य में लेखन-कला का स्थान व्यक्त

नाद के बाद का है। उसका अस्तित्व व्यक्त नाद पर ही अवलंबित है। साथ ही यह बात भी है कि लिपिबद्ध करते समय अथवा अनुच्चरित रूप में पढ़ते समय वाग्यंत्र क्रियमाण अवश्य रहता है, चाहे उसकी क्रिया कितनी ही अव्यक्त क्यों न हो और श्रोता उसे सुन न सके।

मन:पट एक प्रकार का दर्पण है जो ध्वनियों के स्वरूप को ग्रहण कर उनकी प्रतिच्छाया को प्रतिबिंबित करके बाहर प्रक्षिप्त करता है। इस प्रक्षेपण का माध्यम मानव-शरीर का वाग्यंत्र है। इस अवयव में जन्म से ही क्रियाशीलता निहित रहती है। निरंतर अभ्यास करने से इसमें यथेष्ट रूप में प्रक्षेपण-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। इस वाग्यंत्र के क्रियमाण रूप में यदि स्नायु असमर्थ है तो ध्वनि अशुद्ध होगी। इसी प्रकार मन:पट पर पहुँचानेवाली श्रवणेंद्रिय का कोई नाद-ग्राहक स्नायु यदि निष्क्रिय है तो भी ध्वनि दूषित हो जायगी। प्रसिद्ध भाषा-तत्त्व-वेत्ता श्रीयुत स्वीट महाशय कहते हैं कि प्रत्येक भाषा में एक प्रकार की ध्वन्यात्मक लय (Rythm) रहती है।

प्रत्येक प्रकार के संगीत का रसास्वादन करना सबका काम नहीं है। अपनी अपनी रुचि के अनुसार ही लोगों ने समूचे संगीत के किसी न किसी अंग का निरूपण किया है। रुचि का निर्माण देश-काल के वातावरण के अनुसार होता है। एक ही स्थल पर किसी को तो संगीत के दर्शन होते हैं और कोई उससे वंचित रहता है। कुछ लोगों के लिये 'गीतांजलि' संगीतमय है, कुछ लोगों के लिये नहीं। इसके अतिरिक्त अभ्यस्त और सुसंस्कृत रुचि अनभ्यस्त और असंस्कृत रुचि से सदा भिन्न रहेगी।

आजकल भी अनेक प्राचीनतावादी केवल इसलिये कुछ नवीन वृत्तों को कविता नहीं मानते कि उनके कान उनके संगीत के लिये अभ्यस्त नहीं हैं। इन लोगों को हठी समझना चाहिए। इसी प्रकार जो नवीनतावादी संगीत को कविता का प्राण नहीं समझते

वे भी हठी हैं। काव्य के बिना संगीत और संगीत के बिना काव्य अधूरा है। कुछ नए कवियों की छोटी-बड़ी पंक्तियों में भी संगीत है। उसे समझने के लिये अभ्यास की आवश्यकता है। यह कवि के विचारने का कार्य है कि वह ऐसे नए छंदों का प्रयोग करे या न करे, जो अप्रचलित होने के कारण सबके लिये सुबोध नहीं। जो लोग वृत्त और छंद के उपकरणों को केवल बाह्य तथा अनावश्यक अंग कहते हैं और यह घोषित करते हैं कि कविता को छंद में बाँधना उसे कृत्रिम बनाना है वे भी भ्रमात्मक सिद्धांतों का प्रचार करते हैं। वास्तव में कविता किसी छंद में बँधती नहीं। जो कविता किसी कृत्रिम रूप में बँधी हो वह कविता ही नहीं। वह तो किसी संगीत-मय स्वरूप में ढली अवश्य होती है, चाहे उसके ढाँचे को किसी भी संज्ञा से अभिहित किया जाय। अतएव 'वृत्त' या 'छंद' का झगड़ा उठाना मानो कविता के मूलतत्त्व तक ही न पहुँचना है। यह विवाद न केवल व्यर्थ वरन् हानिकारक भी है।

गोस्वामीजी बड़े संगीत-प्रेमी थे। गीतावली इसका प्रमाण है। विनय-पत्रिका से यह बात और भी पुष्ट होती है। रामचरित-मानस की चौपाइयाँ स्वयं अगणित संगीत-रागों में बाँधी गई हैं और बाँधी जा सकती हैं। पार्वती-मंगल का छंद एक अत्यंत सुबोध और प्रचलित छंद है। इस छंद को उन्होंने प्रचार की दृष्टि से ही चुना है। जानकी-मंगल के अतिरिक्त किसी भी अन्य बड़ी कृति में कदाचित् उन्होंने इस छंद का उपयोग नहीं किया। विवाह के लिये यह छंद बहुत उपयुक्त है।

पार्वती-मंगल का रचना-काल स्वयं ग्रंथ में दिया है। गोस्वामीजी लिखते हैं—

'जय संवत फागुन सुदि, पाँचै, गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल, सुनि सुख छिनु छिनु॥'

अर्थात् पार्वती-मंगल की रचना 'जय' संवत् में, फागुन सुदी ५ गुरुवार अश्विनी नक्षत्र में, हुई है। महामहोपाध्याय स्वर्गीय सुधाकर द्विवेदी के अनुसार जय संवत् १६४३ विक्रमी संवत् में पड़ता है। पार्वती-मंगल के बाद ही जानकी-मंगल रचा गया है। जानकी-मंगल में रचना-काल की चर्चा कदाचित् इसलिये नहीं है कि वह पार्वती-मंगल के बाद ही बनाया गया है और पार्वती-मंगल में रचना-काल दिया है। बाबा वेणीमाधवदास ने भी अपने संक्षिप्त मूल गोसाईं-चरित में पार्वती-मंगल और जानकी मंगल की रचना की जो चर्चा की है उससे भी इन ग्रंथों का रचना-काल लगभग यही ठहरता है। यद्यपि जिन घटनाओं के साथ इसकी रचना का वर्णन है वे बहुत बाद की हैं। मिथिलापुरी में भ्रमण करते समय गोस्वामीजी ने पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल की रचना की है, यह बात बाबा वेणीमाधवदास ने लिखी है। उक्त ग्रंथ के अनुसार मिथिला का प्रथम भ्रमण-काल संवत् १६४२ से १६४४ के बीच में पड़ता है। यह स्वभाविक ही है कि मिथिला पहुँचकर कवि को पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल के प्रणयन का प्रोत्साहन मिले।

पार्वती-मंगल की रचना रामचरितमानस ऐसे उत्कृष्ट ग्रंथ के बाद की जाय, यह एक खटकनेवाली बात अवश्य है। परंतु जब हम देखते हैं कि शिवजी के विवाह की चर्चा पृथक् रूप से करना उन्हें अभीष्ट था तब शंका का कुछ निराकरण अवश्य हो जाता है। गोस्वामीजी यह भी नहीं देख सकते थे कि पार्वती-विवाह-वर्णन तो हो जाय और जानकी-विवाह-वर्णन न हो। अतः उन्होंने जानकी-मंगल को भी एक पृथक् पुस्तक का रूप दिया।

ग्रंथ के पर्य्यालोचन से पता चलता है कि वह निस्संदेह कवि के कविता-काल के मध्ययुग का है। भाव और भाषा में परस्पर साम्य है। पार्वती-मंगल में न तो कवितावली अथवा विनय-पत्रिका

की सी भाव-बहुलता और भाषा की असमर्थता है और न रामलला नहछू अथवा बरवै रामायण की तरह भाषा-चमत्कार, अलंकार-प्रियता और भावों की न्यूनता ही। इसमें मानस की भाँति भाषा और भाव का सामंजस्य है। यह सामंजस्य श्रीकृष्ण-गीतावली और गीतावली के रचना-काल से आरंभ होकर रामचरितमानस में परिपक्वावस्था को प्राप्त होता है तथा विनय-पत्रिका में उसका ह्रास होने लगता है।

रामचरितमानस और पार्वती-मंगल की कोई तुलना नहीं हो सकती। प्रस्तुत ग्रंथ का विषय इतना विशद नहीं है कि कवि को मानव-समाज की विभिन्न परिस्थितियों की अभिव्यक्ति करनी पड़ी हो। परंतु तो भी ग्रंथ अपने ढंग से पूरा है। उसमें बहुत से सुंदर स्थल हैं और कितनी ही सुंदर उक्तियाँ हैं जिनमें गोस्वामीजी के व्यक्तित्व की गहरी छाप लगी हुई है। पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ पर कुछ विशेषताओं का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।

भले घर की सुंदर बालिका किस प्रकार धीरे धीरे बढ़ती है, इसकी कैसी अनूठी उपमा गोस्वामीजी ने शुक्लपक्ष में प्रतिदिन बढ़ती हुई चंद्रिका से दी है।

'पितु, मातु, प्रिय परिवार हरषहिं निरखि पालहिं लालहीं।
सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्रभूषन भालहीं॥'

घर आए हुए प्रतिष्ठित अतिथि को देखकर सरल-स्वभाव कन्या अपने पिता के कंधों से लगकर किस प्रकार खड़ी होती है, इसकी कैसी स्वाभाविक अभिव्यंजना बालिका पार्वती के लिये की गई है—

'कुँवरि लागि पितु काँध ठाढ़ि भइ सोहइ।
रूप न जाइ बखानि, जान जोइ जोहइ॥'

पूरा चित्र समक्ष खिँच जाता है।

कन्या के विवाह की कठिनाइयों को देखकर उस समय के माता-पिता भी उतने ही क्षुब्ध होते थे जितने आजकल के होते हैं। नीचे की पंक्तियों में झुँझलाहट की कैसी अनुपम अभिव्यक्ति दृष्टि-गत होती है—

बदति जननि, "जगदीस जुवति जिनि सिरजहि।"

मयना स्त्री-समाज को हेय समझती थी।

प्रकृति के प्रतिदिन के स्वरूपों से उपमा न ग्रहण करके उनसे भाव के उत्कर्ष के लिये कैसा काम लिया गया है, इसका पता नीचे के पद से लगता है—

'तजेउ भोग जिमि रोग, लोग अहिगन जनु।
मुनि-मनसहु ते अगम तपहि लायउ मनु॥'

मुनियों के मन में भी न आनेवाली तपश्चर्या निस्संदेह बहुत कड़ी होगी।

गोस्वामीजी ने सीता के शरीर की सुकुमारता की अभिव्यंजना कितने सुंदर शब्दों में की है—

'सकुचहिं बसन बिभूषन परसब जो तपु'।

अर्थात् वस्त्र और आभूषण भी, सीताजी के शरीर की सुकुमारता और अपनी कठोरता का स्मरण करके, उनके शरीर को छूने से हिचकते हैं। निर्जीव पदार्थों में भी सुकुमारता का प्रभाव पड़ जाता है।

घर में ऐसे बहुत से काम होते हैं जिनकी ओर हमारा ध्यान तक नहीं जाता। घर की बहुत सी वस्तुएँ ऐसी हैं जो हमारे जीवन से लिपटी हुई हैं, परंतु साधारण होने के कारण उनमें कोई आकर्षण नहीं दिखाई देता। परंतु जब कोई अनुभवी कवि उन्हीं वस्तुओं का, भावोत्कर्ष से लिपटा हुआ, काल्पनिक चित्र सामने उपस्थित करता है तब उनमें एक विशेष चमत्कार आ जाता है। सूप प्रतिदिन उप-योग में आनेवाली वस्तु है। गोस्वामीजी ने उसका, उपमा-स्वरूप से अन्वित, कैसा सुंदर प्रयोग किया है—

'साँच सनेह, साँचि रुचि जो हठि फेरइ ।
सावनसरित सिंधुरुख सूप सों घेरइ ॥'

ऊपर के छंद में सरल उपमा द्वारा भाव-गांभीर्य का अवगाहन तो कराया ही गया है, साथ ही प्रेमतत्त्व की अनुपम व्याख्या भी की गई है। वास्तव में सच्चे स्नेह के स्रोत को कोई भी नहीं रोक सकता। अगले छंद में प्रेम के दूसरे पक्ष की भी बड़ी स्वाभाविक परीक्षा है। उपास्य की उपेक्षा से उपासक हतोत्साह नहीं होता। प्रेयसी द्वारा प्रेमिक की आज्ञा के प्रतिकूल आचरण किए जाने पर वह उससे विरक्त नहीं हो जाता। सर्प के लिये मणि नहीं मरती, परंतु मणि के वियोग में सर्प अपना जीवन खो देता है। जाल में पड़ी हुई मछली को छोड़कर, उसकी उपेक्षा करके, जल बह जाता है; किंतु मछली जल से पृथक् होते ही अपने प्राण विसर्जित कर देती है।

'मनि बिनु फनि, जलहीन मीन तनु त्यागइ ।
सो कि दोष गुन गनइ जो जेहि अनुरागइ ॥'

इसी से मिलती-जुलती उक्ति गोस्वामीजी ने अन्यत्र भी कही है—

'को करि बादु बिबादु बिषादु बढ़ावइ ?
मीठ काह कबि कहहिं जाहि जोइ भावइ ॥'

बटु-रूपधारी महादेवजी पार्वती की प्रेम-परीक्षा लेने आते हैं। वे स्वयं महादेवजी के दुर्गुणों का उल्लेख कर पार्वती को उनसे पराङ्मुख करने का प्रयत्न करते हैं। पार्वती अपने प्रण पर अटल हैं। पार्वतीजी, व्यंग्य-पूर्ण चुटकी लेकर, कहती हैं—

'कहुँ तिय होहिं सयानि सुनहिं सिख राउरि ?
बौरेहि के अनुराग भइउँ बड़ि बाउरि ॥'

आराध्यदेव की निरंतर भक्ति करते करते उसके गुणों को स्वायत्त कर लेना उपासना-शास्त्र का नवीन सिद्धांत नहीं है—

'सुमिरत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ।'

पार्वतीजी ने अपने आराध्यदेव की सर्वगुण-संपन्न आराधना के लिये एक चित्र बना रखा था। इस स्वरूप के साक्षात्कार के लिये उन्होंने कठिन से कठिन आराधना की; परंतु उसके दर्शन न मिल सके। अतएव जब महादेवजी उनके सम्मुख उपस्थित होते हैं तब उन्हें सहसा विश्वास नहीं होता। वे अपने स्वप्न-चित्र से उनकी तुलना करती हैं और यह निश्चय नहीं कर पातीं कि महादेवजी को साक्षात् देख रही हैं अथवा स्वप्न में। गोस्वामीजी ने इस भावना को कितने अनूठे ढंग से प्रदर्शित किया है—

'पुनि पुनि करै प्रनाम, न आवत कछु कहि।
देखौं सपन कि कौतुक ससिसेखर, सहि॥'

और इसी संबंध में कितनी सुंदर उपमा दी है —

'जैसे जनमदरिद्र महामनि पावइ।
पेखत प्रगट प्रभाउ प्रतीति न आवइ॥'

गोस्वामीजी उपमा के तो एक से एक ऐसे सुंदर स्वरूप खड़े करते हैं जो अन्यत्र कदाचित् ही मिलें। यदि कोई 'उपमा तुलसीदासस्य' कहे तो तनिक भी अत्युक्ति न होगी। प्रतिदिन के साधारण क्रिया-कलाप को अलौकिक उत्कर्ष देना उन्हीं की लेखनी का कार्य है। एक उदाहरण लीजिए—

'भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुँचावहि।
हुँकरि हुँकरि सु लवाइ धेनु जनु धावहि॥'

'हुँकरि हुँकरि' में उपमान और उपमेय का न केवल सदृश स्वरूप समक्ष आ जाता है, वरन् विप्रलंभ-शृंगार के अनेक संचारी भाव भी मूर्तिमान् हो जाते हैं।

मिल्टन के 'लेलिग्रो' और 'इलपेंसरासो' की भाँति पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल में प्रवाह है। उनमें बड़े बड़े समस्त पदों का उपयोग बहुत कम किया गया है। अरबी फारसी के शब्दों का

भी प्राय: अभाव है। पार्वती-मंगल में कवि का अलौकिक शब्द-योजना-कौशल दिखाई देता है। साधारण मुहाविरे, प्रचलित लोकोक्तियाँ और प्रतिदिन उपयोग में आनेवाली कहावतें स्थान स्थान पर पाई जाती हैं।

जिसे गोस्वामीजी की चरित्र-चित्रण-पटुता की परख करनी हो वह 'रामचरितमानस' में अवगाहन करे। पार्वती-मंगल में तो मुख्यतया पार्वती का चरित्र-चित्रण है। महादेवजी के चरित्र में भी पूर्णता नहीं है। हिमालय और मयना के चरित्रों की अत्यंत संक्षिप्त अभिव्यक्ति है। नारदजी की भी थोड़ी-बहुत चर्चा आ जाती है।

पार्वती पर्वतराज हिमवान् के यहाँ जन्म लेकर, शुक्लपक्ष की चंद्रिका की भाँति, उत्तरोत्तर बढ़ती हैं। सारी ऋद्धियाँ और सिद्धियाँ, उनकी सेवा करने के लिये, हिमवान् के घर उपस्थित हो जाती हैं। नारदजी से उपदेश मिलने पर उनके पिता उनके लिये तपस्या करने का आयोजन कर देते हैं। वास्तव में उनके चरित्र की अलौकिकता यहीं से आरंभ होती है। वे मुनियों के विचार में भी न आनेवाला कठोर तप आरंभ कर देती हैं। अंत में महादेवजी प्रसन्न होकर उनकी प्रेम-परीक्षा के लिये बटुवेष धारण करके सम्मुख उपस्थित होते हैं। यह बटु बड़ी चतुराई से महादेवजी की ओर से उनका अनुराग हटाकर विष्णु की ओर प्रवृत्त करना चाहता है; परंतु उनका मन विचलित नहीं होता। काम-दहन की बात सुनकर भी शिवजी के प्रति उनका प्रेम घटने के बदले बढ़ता ही गया। अंत में शिवजी प्रसन्न होकर अपना स्वरूप प्रकट करते हैं और पार्वती हर्षित होकर उनका चरण पकड़ लेती हैं। बहुत से व्यक्तियों ने महादेवजी की बुराई की, परंतु पार्वतीजी का चित्त उनकी ओर से कभी नहीं हटा। उनका प्रेम निरंतर दृढ़ होता चला गया। पार्वतीजी के चरित्र की यही विशेषता है।

पार्वती-मंगल में महादेवजी के चरित्र की आंशिक अभिव्यक्ति मिलेगी। वे आशुतोष हैं, अतएव काम-दहन के बाद ही रति को वर दे डालते हैं। पार्वती की तपस्या पर प्रसन्न होकर उनके निकट जाते हैं। पुराणों में तथा अन्यत्र भी शिवजी के चरित्र में वह छल, चालाकी और वाग्विदग्धता नहीं दिखाई गई जो विष्णु के चरित्र में दिखाई गई है। अतएव महादेवजी के लिये—बटु-वेष धारण करके पार्वतीजी के समीप पहुँचकर चालाकी से उनसे बात-चीत करने की—जो व्यवस्था पार्वती-मंगल में गोस्वामीजी ने की है उसे मानस में स्थान नहीं मिला है। उस बृहत् ग्रंथ में यह कार्य दूसरे को सौंपा गया है। महादेवजी का चरित्र दैव स्वरूप में उस समय दिखाई देता है जिस समय वे बारात लेकर हिमालय के नगर की ओर प्रस्थान करते हैं। ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि सभी देवता उनके साथ हैं। आप वामदेव के मूलरूप में विद्यमान हैं। सब लोग जब उन्हें देखकर भागने लगते हैं और उन्हें यह ज्ञात होता है कि लोगों को बड़ा मानसिक कष्ट हो रहा है तब वे सहसा सुंदर रूप धारण कर लेते हैं और हिमालय के सब स्वजन आनंदित हो उठते हैं।

हिमवान् पर्वतों का राजा है। ताल, तलैया, सरिता, सागर सभी से उसका संबंध है। इन्हें वह अपनी पुत्री के विवाह में आमंत्रित करता है। आलोच्य ग्रंथ में गोस्वामीजी ने उसके चरित्र में कोई विशेषता लाने का प्रयास नहीं किया। वह सीधे-सादे गृहस्थ के रूप में सामने आता है। परंतु गृह-संचालन की बागडोर उसकी सुयोग्य पत्नी मयना के हाथों में दीख पड़ती है। वह मयना की उक्तियों और कार्यों का अनुमोदक सा दिखाई देता है।

मयना, पार्वती-मंगल में, दो बार यह भावना प्रकट करती है कि भगवान् स्त्री का जन्म न दे। स्त्रियों में यह भावना आज भी ज्यों की त्यों पाई जाती है। अपनी सुंदर कन्या पार्वती की वर-प्राप्ति

की कठिनाइयों को देखकर उसका हृदय, स्त्री-जाति की पराधीनता का खयाल कर, व्यग्र हो उठा था; परंतु विवाह के अंत में उसका सारा उद्वेग नष्ट हो जाता है और अपने जामाता का ऐश्वर्य देखकर वह प्रसन्न होती है। तपस्या करते समय मयना अपनी कन्या पर दृष्टि रखती है और स्वयं उसे तपस्या की ओर अग्रसर करती है। जब नारद भ्रमण करते करते उसके घर आते हैं तब हिमवान् तो शिष्टाचार के अनंतर बैठकर रुक जाता है; परंतु मयना उनसे बात-चीत करना आरंभ कर देती है। कन्या के विवाह का ध्यान जितना माता को रहता है उतना पिता को कदाचित् नहीं रहता। परंतु मयना जिस तत्परता के साथ उपयुक्त व्यक्ति से वर ढूँढ़ने के विषय में मंत्रणा करती है, उससे उसकी निजी प्रगल्भता अभिव्यक्त होती है।

नारद का जैसा चरित्र अन्यत्र अंकित किया गया है, प्रायः वैसा ही यहाँ भी है। परंतु प्रसंग में कहीं भी ऐसी घटना नहीं आई जिससे नारद के कलह-प्रिय आचरण का पता लग सके। प्रत्युत उन्हीं की कृपा और शिक्षा से पार्वतीजी को महादेवजी प्राप्त हो सके।

और जिन व्यक्तियों की चर्चा 'पार्वती-मंगल' में है उनके चरित्र-स्फुरण के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया गया।

गोस्वामी तुलसीदास पर बहुधा महिला-समाज-विरोधी होने का आक्षेप किया गया है। उनके भक्त जितना ही उन्हें इस आक्षेप से मुक्त करने का प्रयत्न करते हैं, उतना ही वह और सुदृढ़ होता जाता है। तुलसी-ग्रंथावली के तृतीय खंड में इस विषय पर एक स्वतंत्र लेख है। पं० रामचंद्र शुक्ल ने भी आलोचना-खंड में इस विषय की संक्षिप्त समीक्षा की है। कहना अनावश्यक है कि इनका उद्देश्य गोस्वामीजी के प्रति किए गए आरोप का परिहार करना ही है। पार्वती-मंगल में भी दो स्थल ऐसे हैं जिनमें, आलोचकों के

कथनानुसार, गोस्वामीजी की स्त्री-विरोधिनी वृत्ति का किंचित् आभास मिलता है। वे नीचे दिए जाते हैं—

> 'उमा मातुमुख निरखि नयन जल मोचहिं।
> "नारि जनमु जग जाय" सखी कहि सोचहिं॥ १४९॥'
> 'सजि समाज गिरिराज दीन्ह सबु गिरिजहि।
> बदति जननि, "जगदीस जुवति जिनि सिरजहि"॥ २४॥'

परंतु इन्हें पढ़कर गोस्वामीजी के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति में कन्या-विवाह की कठिनता एक विशेष महत्त्व रखती है। पुत्री के स्नेह में निमग्न, उसके अनिष्ट की कल्पना से उत्पीड़ित, मयना यदि अपनी पुत्री की आड़ में सारे महिला-समाज की दीनावस्था को प्रदर्शित करती है तो उसका यह कार्य न केवल स्वाभाविक है वरन् समीचीन भी है। यथार्थता और स्वाभाविकता के समन्वय में गोस्वामीजी की अंतर्दृष्टि कन्याओं की पराश्रयता की ओर ही थी। उसमें तिरस्कार का भाव तनिक भी न था। इधर-उधर की फुटकर उक्तियों को एकत्र कर उनके आधार पर कोई सिद्धांत स्थिर कर लेना भी बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। "गोस्वामीजी की माता आरंभ में ही गोलोक पधार गई थीं। उनकी स्त्री का उनका अधिक संपर्क नहीं रहा। योगी होने के कारण वे उच्च घराने की महिलाओं से मिल-जुल न सके और उनका अधिक संपर्क निम्न कोटि की स्त्रियों से रहा, इस कारण स्त्रियों का विरोध उनकी कृतियों में दृष्टिगत होता है।"—मिश्र-बंधुओं की यह धारणा वैसी ही निर्मूल और भ्रमात्मक है जैसा उनका यह सिद्धांत कि पार्वती-मंगल गोस्वामीजी-कृत नहीं है। उन्होंने इस बात पर तनिक भी विचार नहीं किया कि महिलाओं की विभिन्न परिस्थितियों और स्वरूपों का जो अनूठा चित्रण गोस्वामीजी में सर्वत्र दृष्टिगत होता है वह उन्हें मिला कहाँ से? जीवन के संपूर्ण विभागों को

आलोकित करनेवाला नारी-जीवन पुरुष-जीवन से कैसा लिपटा हुआ है कि एक की सुंदरता दूसरे की सुंदरता की स्वत: अपेक्षा रखती है। दुष्ट और मर्यादा उल्लंघन करनेवाला रावण भी अपनी बहन शूर्पणखा की भर्त्सना शांतिपूर्वक सुन लेता है और उसे ढोल की तरह पीटने नहीं लगता। बहन का स्वरूप तो यह हुआ, अब कन्या के स्वरूप का चित्रण देखिए—

'राउ लीन्ह उर लाइ जानकी। मिटी महा मरजाद ज्ञान की॥'
(रामचरितमानस)

'भेंटि बिदा करि बहुरि भेंटि पहुँचावहि।
हुँकरि हुँकरि सु लवाइ धेनु जनु धावहि॥ १४८॥'

इस अभिव्यक्ति में पुत्र और पुत्री का विभेद सूँघने से भी नहीं मिल सकता। सास का चित्र देखिए—

'जिअनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। दीपबाति नहिँ टारन कहऊँ॥'

पुत्रवधू का आदर्श देखिए—

'सीय सासु प्रतिवेष बनाई। सेवा करहिँ सनेह बढ़ाई॥'

तथा—

'सेवा समय दैव बन दीन्हा। मोर मनोरथ सुफल न कीन्हा॥'

अनन्य भक्त, सीता की दासी त्रिजटा की उक्ति पर ध्यान दीजिए—

'निसि न अनल मिलु सुनु सुकुमारी।'

पत्नी के स्वरूप के चित्र तो एक से एक मनोहर हैं। मंदोदरी रावण को जब 'खल खद्योत…………' कहती है तब रावण उसे पीटने नहीं लगता वरन् उसे टालकर स्त्रियों के दोष गिनाने लगता है। रावण आदर्श पात्र नहीं है, परंतु वह भी अपनी पत्नी को मारने के पक्ष में नहीं है; उच्च पात्रों की तो बात ही क्या है। रामचंद्रजी तो बड़ी सावधानी से अपनी पत्नी के प्रत्येक भाव का अनुशीलन करके अपना कार्य निर्धारित करते हैं। सीताजी की

थकावट को दूर करने के लिये काँटे निकालने के बहाने से देर तक स्वयं बैठ जाते हैं और उन्हें भी बैठने का अवसर देते हैं। नाव मँगाकर पहले श्रीमतीजी को चढ़ाते हैं फिर आप चढ़ते हैं—

'रामसखा तब नाव मँगाई। सीय चढ़ाय चढ़े दोउ भाई॥'

यह स्वरूप कितना अर्वाचीन और समीचीन है, इसे पाठक स्वयं देख सकते हैं। जहाँ-जहाँ नारियों की प्रतिकूल उक्तियाँ मिलती हैं वहाँ या तो संदर्भ की दृष्टि से अथवा घोर मानसिक दुर्बलता की अभिव्यक्ति या सिद्धांतवाद की जगह केवल अर्थवाद में विचार प्रकट किए गए हैं। बैरागीपन की कुछ अतिरंजना अवश्य मिलती है; परंतु इसपर कोई सिद्धांत खड़ा करना भ्रम है। उन्होंने कुत्सित वृत्ति के पुरुषों को भी फटकार बताई है।

देव दनुज नर किन्नर ब्याला। प्रेत पिसाच भूत बैताला॥
इनकी दसा न कहेहुँ बखानी। सदा काम के चेरे जानी॥
सुर नर मुनि सबकी यह रीती। स्वारथ लागि करत सब प्रीती॥

इन उक्तियों के रहते भी यदि कोई गोस्वामीजी पर किसी प्रकार के पक्षपात का आरोप करे तो यह उसका ओछापन है। यों तो किसी भी बड़े व्यक्ति के संबंध में चाहे जो कुछ कहा जा सकता है। गोस्वामीजी ने गीतावली में कहा है—

"महिमा-मृगी कौन सुकृती की खलबच-बिषिखन बाँची।"

उनकी यह उक्ति आज स्वयं उन्हीं पर चरितार्थ होती है।

अलंकारों के यथास्थान प्रयोग का जितना उचित ध्यान गोस्वामीजी ने रखा है उतना कदाचित् किसी हिंदी-कवि ने नहीं रखा। स्वयं सूरदासजी भी इस दिशा में उनसे पीछे हैं। विनय-पत्रिका अथवा गीतावली के एकाध स्थल को छोड़कर गोस्वामीजी ने कहीं भी खेलवाड़ के रूप में अलंकार का उपयोग नहीं किया। अलंकारों

का उपयोग सर्वथा भावोत्कर्ष के ही लिये किया गया है। अलंकार भाषा के साथ ऐसे हिले-मिले हैं कि उनका अस्तित्व भावों में अंतर्हित है।

पार्वती-मंगल में अलंकारों का वैसा प्राचुर्य नहीं है। जहाँ कहीं भावों से मिले-जुले कुछ अलंकार आ गए हैं उनमें से कतिपय नीचे दिए जाते हैं—

'बिनइ गुरुहि, गुनिगनहि, गिरिहि, गननाथहि।'
'गावउँ, गौरि-गिरीस-विवाह सुहावन।' (अनुप्रास)
'सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्रभूषन भालहीं।' (क्रियोत्प्रेक्षा)
'कुँअरि लागि पितु काँध ठाढ़ि भइ सोहइ।' (स्वभावोक्ति)
'बामदेव सन काम बाम होइ बरतेउ।'
जग-जय-मद निदरेसि हर, पाएसि फर तेउ॥' (परिकरांकुर)
'तजेउ भोग जिमि रोग, लोग अहिगन जनु।' (पूर्णोपमा)
'जौ बर लागि करहु तपु तौ लरिकाइय।'
पारस जौ घर मिलै तौ मेरु कि जाइय ?' (दृष्टांत)
'को करि बादु बिबादु बिषादु बढ़ावइ ?
मीठ काह कबि कहहिं जाहि जोइ भावइ॥' (दृष्टांत)
"सुमिरहिं सुकृत तुम्हहिं जन तेइ सुकृतीबर।
नाथ जिन्हहिं सुधि करिअ तिन्हहिं सम तेइ, हर!" (अनन्वय)
'नील निचोल छाल भइ, फनि मनिभूषन।
रोम रोम पर उदित रूपमय पूषन॥' (अतिशयोक्ति)
'सुखमा बेलि नवल जनु रूपफलनि फली।' (रूपकोत्प्रेक्षा)
'प्रेमपाट पटडोरि गौरि-हर-गुन मनि।
मंगलहार रचेउ कबिमति-मृगलोचनि॥' (रूपक)

उपर्युक्त थोड़े से उदाहरणों के अतिरिक्त और अलंकार-युक्त पद्य भी हैं जिन्हें, स्थानाभाव से, यहाँ नहीं उद्धृत किया गया। परंतु

यह भली भाँति समझ लेना चाहिए कि पार्वती-मंगल बरवै रामायण की भाँति अलंकार-प्रधान ग्रंथ नहीं है।

इस आलोचना के समाप्त करने से पूर्व दो-एक बातों पर और प्रकाश डालने की आवश्यकता है। पार्वती-मंगल में कुछ ऐसी बातें आ गई हैं जो खटकती हैं। कथा-निर्वाह और पात्रत्व-विकास का उतना अधिक ध्यान नहीं रखा गया है जितना मानस में।

'सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्रभूषन भालहीं।'

के एकदम बाद ही दूसरी पंक्ति में लिखा है—

'कुँवरि सयानि बिलोकि मातु पितु सोचहिं।'

यह वर्णन उखड़ा हुआ सा दिखाई देता है।

बारात का हास्यपूर्ण वर्णन केवल दो छंदों में समाप्त कर दिया गया है—

'मुदित सकल सिवदूत भूतगन गाजहिं।
सूकर, महिष, स्वान, खर बाहन साजहिं॥
नाचहिं नाना रंग, तरंग बढ़ावहिं।
अज, उलूक, वृक नाद गीत गन गावहिं॥'

नीचे के चार छंदों में लोगों के भय का बहुत अच्छा वर्णन अवश्य है परंतु वह बिलकुल अधूरा है—

'प्रमुदित गे अगवान बिलोकि बरातहि।
भभरे, बनइ न रहत, न बनइ परातहि॥
चले भाजि गज बाजि फिरहिं नहिं फेरत।
बालक भभरि भुलान फिरहिं घर हेरत॥
दीन्ह जाइ जनवास सुपास किए सब।
घर घर बालक बात कहन लागे तब॥
प्रेत बैताल बराती, भूत भयानक।
बरद चढ़ा बर बाउर, सबइ सुबानक॥'

अन्यत्र भी परिस्थितियों की ऐसी संक्षिप्त अभिव्यक्ति कर दी गई है कि भावों का सम्यक् स्फुरण नहीं हो पाता। काम-दहन का सुंदर प्रसंग तो बिलकुल उड़ा दिया गया है, केवल घटना का कथन मात्र है। विवाह की मांगलिक क्रियाओं का वर्णन नीचे के केवल तीन छंदों में समाप्त कर दिया गया है—

'लोक-बेद-बिधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर।
कन्यादान संकलप कीन्ह धरनिधर॥
पूजे कुलगुरु देव, कलसु सिल सुभ धरी।
लावा होम विधान बहुरि भाँवरि परी॥
बंदन बंदि, ग्रंथिबिधि करि, धुव देखेउ।
भा बिवाह सब कहहिं जनमफल पेखेउ॥'

कुछ रवाजों का वर्णन निम्न-लिखित छंदों में भी है—

'दूलह दुलहिनि गे तब हास-अवासहि॥
रोकि द्वार मैना तब कौतुक कीन्हेउ।
करि लहकौरि गौरि हर बड़ सुख दीन्हेउ॥
जुआ खेलावत गारि देहिं गिरिनारिहि।
अपनी ओर निहारि प्रमोद पुरारिहि॥
सखी सुवासिनि, सासु पाउ सुख सब बिधि।
जनवासहि बर चलेउ सकल मंगलनिधि॥
परुसन लगे सुवार, बिबुध जन सेवहिं।
देहिं गारि बर नारि मोद मन भेवहिं॥'

वर्णन कुछ अच्छे होते हुए भी विशद नहीं हैं, जिससे तत्कालीन अवस्था का कोई विशेष परिचय मिल सके। न तो सेवकों के मनोभाव का वर्णन है और न रामलला नहछू की भाँति प्रजा जनों का सुंदर चित्रण। किसी विशेष प्रकार की समृद्धि का भी विवरण नहीं है।

दूलह और दुलहिन की मनोरम वृत्तियों की भी कहीं अभिव्यक्ति नहीं है। गोस्वामीजी यदि चाहते तो देवत्व का परिहार किए बिना भी ऐसा कर सकते थे।

इन सबका कारण कवि का प्रमाद अथवा आलस्य नहीं। उसे इस कथा को अत्यंत संक्षिप्त रूप में उपस्थित करना इष्ट था, वह भी केवल लोगों के कल्याण के लिये—

'कल्यान काज उछाह ब्याह सनेह सहित जो गाइहैं।
तुलसी उमा-संकर-प्रसाद प्रमोद मन प्रिय पाइहैं॥'

इसी आदर्श की प्रेरणा से 'कविमति-मृगलोचनि' ने 'मंगल'-रूपी हार को गूँथा। अन्यथा ऐसी उक्ति, जो आत्मश्लाघा का आलिंगन करती हुई दीख पड़ती है, गोस्वामीजी की लेखनी से न निकलती।

जानकी-मंगल

पार्वती-मंगल की आलोचना के अंतर्गत यह समझाने का प्रयास किया गया है कि गोस्वामीजी ने उसकी रचना क्यों की। यहाँ केवल इतना ही कहना है कि पार्वती-विषयक रचना के बाद जानकी-मंगल लिखना गोस्वामीजी के लिये आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य था। अपने उपास्यदेव की प्रेयसी को पार्वतीजी के अलौकिक चित्रण से किसी प्रकार कम रखना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। पार्वती-मंगल के होते हुए यदि जानकी-मंगल न लिखा जाता तो गोस्वामीजी अपने को जानकीजी के ऋण से उऋण न समझते; और फिर जानकीजी के चरित्र-विस्तार के साथ स्वयं उनके उपास्यदेव का चरित्र इतना लिपटा हुआ है कि वैवाहिक वर्णन का विश्लेषण न करने से उनके चरित्र की बहुत सी नई परिस्थितियाँ तथा उसकी विशेषताओं के अनेक उज्ज्वल खंड छिपे ही रह जाते। रामचरितमानस में इनकी व्यवस्था अवश्य है, परंतु पृथक् रूप से वैवाहिक अभिव्यक्ति द्वारा उनकी महत्ता और भी बढ़ जाती है।

एक बात और है। अपने उपास्यदेव की समूची जीवनी के उपयोगी खंडों को पृथक् पृथक् ग्रंथ रूप में और भिन्न भिन्न छंदों में लिपिबद्ध करना गोस्वामीजी के लिये अपने उपास्यदेव की भक्ति की पूर्णता का साधन था। जनेऊ को लेकर 'रामलला-नहछू' का निर्माण किया गया जो ठेठ पूर्वी अवधी के सोहर छंद में है। विवाह को लेकर शिष्ट सोहरों में 'जानकी-मंगल' की रचना हुई। ये दोनों ही पाठ के लिये रचे गए हैं। इसी कारण काव्य अथवा प्रबंध की दृष्टि से उन्हें सर्वांगपूर्ण बनाने की ओर उतना प्रयत्न नहीं

किया गया जितना अन्यत्र, मानस में, मिलता है। उनमें संक्षिप्त करने की प्रवृत्ति सर्वत्र दिखाई देती है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे। गोस्वामीजी का विश्वास था कि रामचंद्रजी के जनेऊ और विवाह की कथा का पाठ करने से स्वर्ग मिलता है—

'उपवीत ब्याह उछाह जे सिय राम मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिनु पावहीं॥'

अतएव यह निष्कर्ष निकालना कि गंदे सोहरों के बदले गाने के लिये मंगलों का निर्माण किया गया है अपने को भ्रम में डालना है। उसका उद्देश्य स्पष्ट है और वह पाठ करने के लिये है।

परंतु इससे यह न समझना चाहिए कि 'जानकी-मंगल' में रामचंद्रजी के शौर्य और पराक्रम-वर्णन की प्रधानता है। वास्तव में धनुषयज्ञ की योजना द्वारा कथानक का सारा आकर्षण जानकीजी पर ही केंद्रित हो जाता है। उन्हीं के रूप-लावण्य पर मुग्ध सारा आमंत्रित नृप-समाज उनको पाने का प्रयास करता है।

'पार्वती-मंगल' से 'जानकी-मंगल' आकार में उतना ही बड़ा है जितना अधिक पार्वतीजी की अपेक्षा जानकीजी में कवि का अनुराग है। पार्वती-मंगल की भाँति यह भी एक खंड-काव्य है। उपास्य का एक घटना-स्वरूप लेकर इस ग्रंथ की रचना कर डाली गई है। इसमें १९२ मंगल छंद और २४ साधारण छंद हैं।

पार्वती-मंगल की भाँति इस ग्रंथ में भी प्रवाह है। भाषा चुस्त और परिमार्जित है। कुछ छंद इतने सुंदर हैं कि उनमें कवि की आत्मा लीन दिखाई देती है। शिथिलता और कृत्रिमता कठिनता से मिलेगी। इस ग्रंथ के रचना-काल को, किसी भी दृष्टि से, 'पार्वती-मंगल' से पृथक् करना मूर्खता है। इस ग्रंथ का 'जानकी-मंगल' ही नाम क्यों पड़ा, इसका उत्तर सरल है। पुस्तक में प्रधानता जानकीजी की ही है। रामचंद्रजी की क्रियाओं को विकसित करने

का प्रयास नहीं किया गया। 'पार्वती-मंगल' पुस्तक में पार्वतीजी का ही नाम रखा गया है। पार्वती की तपस्या, उनका व्यग्र प्रेम और उनकी अनन्योपासना इतनी बलवती है कि इनसे शिवजी का बड़प्पन भी आलोकित होता दिखाई देता है। इस दृष्टि से यह स्वाभाविक ही है कि उक्त ग्रंथ का नाम 'पार्वती-मंगल' रखा जाय। फिर 'पार्वती-मंगल' के लिखने पर जो ग्रंथ लिखा जाय और उसमें राम-जानकी-विवाह वर्णन हो तो उसका 'जानकी-मंगल' के अतिरिक्त और कोई दूसरा नामकरण किया ही नहीं जा सकता था। ऐसा न करने से उनकी उपास्यदेवी सीता की महत्ता पर भारी आघात पहुँचता। इसी प्रकार पाठक यह स्पष्ट देख लेंगे कि पार्वती के कई नाम होते हुए भी अपत्यवाचक 'पार्वती' संज्ञा लिखकर गोस्वामीजी ने भारतीय विवाह-विधान की सुंदर झाँकी दिखाने का प्रयास किया है, जिसमें बालक और बालिकाओं का परिणय पिता के ही हाथों में रहता है। पार्वती से शीघ्र ही हिमालय का बोध हो जाता है और 'अण्' तथा 'ङीप' प्रत्यय लग जाने से उमा एक पिता की बालिका के रूप में सामने आती हैं। ठीक यही भाव 'जानकी-मंगल' की अभिधान-प्रेरणा में निहित है। पुस्तक का सारा क्रीड़ा-क्षेत्र जनकपुर ही है।

'जानकी-मंगल' के तुलसी-कृत होने में कोई भी विद्वान् संदेह नहीं करता। आदरणीय मिश्रबंधु भी इसे उन्हीं की कृति मानते हैं। अपने हिंदी-नवरत्न के नवीन संस्करण में वे लिखते हैं—"जानकी-मंगल में १३ पृष्ठ एवं २१६ छंद हैं। परशुराम का संवाद इसमें बारात लौटते समय कराया गया है। मानस तथा इसकी रचना में इतना ही अंतर है। इसमें जानकीजी के विवाह का वर्णन बढ़िया रीति और छंदों में किया गया है। इसकी रचना प्रशंस-नीय और गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथों से मिलती हुई है।" इसके

बाद का अंश, 'पार्वती-मंगल' की आलोचना में, उद्धृत किया जा चुका है।

बाबा वेणीमाधवदास ने भी गोस्वामीजी की कृतियों में 'जानकी-मंगल' का नाम गिनाया है। श्रीयुत ग्रोव्स, ग्रियर्सन आदि अँगरेज विद्वानों ने भी इसे तुलसी-कृत ही माना है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने भी अपने 'सरोज' में 'जानकी-मंगल' को गोस्वामीजी-रचित स्वीकार किया है।

प्रसिद्ध आलोचक पं० रामचंद्र शुक्ल ने तुलसी-ग्रंथावली के तीसरे भाग में, 'जानकी-मंगल' के विषय में, लिखा है—"इसमें श्री सीता-राम-विवाह-वर्णन है। १९२ सोहर छंद और २४ छंद हैं। ग्रंथ बनाने का समय नहीं दिया है, केवल 'सुभ दिन रच्यौ स्वयंबर मंगल-दायक' लिख दिया है। परंतु पार्वती-मंगल और यह, दोनों एक ही समय के जान पड़ते हैं क्योंकि दोनों का एक ही ढंग और एक ही छंद है। यहाँ तक कि मंगलाचरण भी एक ही भाव का है, यथा—

बिनइ गुरुहि, गुनिगनहि, गिरिहि, गननाथहि। (पार्वती-मंगल)
गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति। (जानकी-मंगल)
गावउँ, गौरि-गिरीस-बिवाह सुहावन। (पार्वती-मंगल)
सिय-रघुबीर-बिबाहु यथामति गावौं॥ (जानकी-मंगल)

भाषा भी वही पूर्वी अवधी है। इस ग्रंथ में रामचरितमानस की कथा से कुछ भेद है जो नीचे लिखा जाता है—

"(१) इसमें फुलवारी-वर्णन न करके धनुषयज्ञ का ही वर्णन आरंभ हुआ है। सीता-राम का प्रथम परस्पर संदर्शन भी इसमें धनुषयज्ञ के ही समय लिखा गया है।

"(२) रामायण में जनक के धिक्कारने पर लक्ष्मण का कोप और तब विश्वामित्र की आज्ञा पर रामचंद्र का धनुष तोड़ना लिखा है। इसमें सब राजाओं के हारने पर विश्वामित्र ने जनक से कहा

है कि रामचंद्र से कहो। इस पर जनक ने इनकी सुकुमारता देख संदेह प्रकट किया। तब मुनि ने इनकी महिमा कही। फिर जनक के कहने पर राम ने धनुष तोड़ा।

"(३) इसका १८वाँ और रामायण के ३५७वें दोहे का छंद एक ही है, कुछ अदल-बदल मात्र है। ऐसे ही इसका अंतिम २४वाँ छंद और रामायण बालकांड का अंतिम ३६१वें दोहे का छंद है जिसमें एक एक पद तो एक ही है।

"(४) रामायण में विवाह के पहले परशुराम आए हैं, इसमें विवाह-बिदाई के पीछे, जैसा कि वाल्मीकि-रामायण में है।

" 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' दोनों में तुलसी की वाक्य-रचना का यह गौरव विशेष रूप में दिखाई पड़ता है जो उन्हें हिंदी के और कवियों से अलग करके दिखाता है। इतने छोटे छंद में शब्द-विन्यास ऐसा गठा हुआ है कि शैथिल्य का कहीं नाम नहीं। एक शब्द भी ऐसा नहीं जो फालतू हो, प्रस्तुत भाव-व्यंजना में जिसका प्रयोजन न हो, जो केवल छंद की पूर्ति के लिये रखा जान पड़ता है।"

रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास ने, हिंदी भाषा और साहित्य नामक बृहत् ग्रंथ में, जानकी-मंगल को गोस्वामीजी के ग्रंथों की तालिका में सम्मिलित किया है। जैसा ऊपर लिखा जा चुका है, पं० रामचंद्र शुक्ल ने भी अपने हिंदी-साहित्य के इतिहास में इस ग्रंथ को प्रामाणिक ग्रंथ माना है। पं० रामनरेश त्रिपाठी अपनी 'कविता-कौमुदी' के द्वितीय भाग में और पं० रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', एम० ए० अपने इतिहास में इस ग्रंथ को गोस्वामीजी-कृत मानते हैं।

ग्रंथ की अंतरंग समीक्षा भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचाती है। इसके बहुत से शब्दों, भावों और उक्तियों में गोस्वामीजी की निजी छाप है। उन्हें हम यहाँ उद्धृत करना नहीं चाहते। यदि किसी भी विद्वान्

ने उक्त ग्रंथ को अप्रामाणिक माना होता तो इस विषय पर अधिक चर्चा करना हम अपना कर्तव्य समझते। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि गोस्वामीजी के छोटे ग्रंथों में 'जानकी-मंगल' एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। अब आगे यह प्रश्न उठता है कि गोस्वामीजी ने इस ग्रंथ को किस समय रचा। इस संबंध में रायबहादुर बाबू श्यामसुंदरदास की सम्मति नीचे दी जाती है—

"पार्वती-मंगल, जानकी-मंगल और रामलला नहछू एक ही समय के लिखे हुए ग्रंथ जान पड़ते हैं। इनकी शैली और भाषा एक ही प्रकार की है। पार्वती-मंगल और जानकी-मंगल तो बिल्कुल एक ही साँचे में ढले से लगते हैं। वही छंद, वही क्रम, यहाँ तक कि मंगलाचरण का भी एक ही भाव है—

"वेणीमाधवदास के अनुसार इनकी रचना मिथिला में हुई—

'मिथिला में रचना किए, नहछू मंगल दोइ।
पुनि ग्रांचे मंत्रित रचे, सुख पावें सब कोइ॥'

"इन ग्रंथों का उल्लेख मूलचरित में संवत् १६६८ की घटनाओं के साथ किया गया है। परंतु इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि १६६९ में गोस्वामीजी ने इनकी रचना की। यहाँ उनकी पहली यात्रा से ही वेणीमाधवदास का तात्पर्य है। संवत् १६६९ में तो गोस्वामीजी ने उन्हें केवल अभिमंत्रित किया जिससे वे विवाह आदि के अवसर पर गाए जाकर मंगलकारी सिद्ध हों। १६७० के आरंभ में गोसाईंजी इतने निर्बल हो गए थे कि जब उन्होंने पहले के बने हुए छोटे छोटे ग्रंथों का फिर से संशोधन किया तो उन्हें दूसरों से लिखवाना पड़ा। ऐसी अवस्था में यह समझना कि उन्होंने इससे थोड़े समय पहले मिथिला-यात्रा की हो, संभाव्य नहीं जान पड़ता। वास्तव में वह यात्रा गोसाईंजी ने संवत् १६४० से पहले की थी। १६४० में वे मिथिला से काशी लौट आए थे। इससे

मूलचरित के अनुसार इन तीन ग्रंथों की रचना का काल संवत् १६-३९ के लगभग ठहरता है। परंतु स्वयं गोसाईंजी ने जानकी-मंगल और नहछू का समय तो नहीं दिया है, परंतु पार्वती-मंगल का समय दे दिया है। इस ग्रंथ के आरंभ में लिखा है—

'जय संवत फागुन, सुदि पाँचै, गुरु दिनु।
अस्विनि बिरचेउँ मंगल, सुनि सुख छिनु छिनु ॥ ५ ॥'

"इसके अनुसार तुलसीदासजी ने इसे जय संवत् फागुन सुदी ५ गुरुवार को अश्विनी नक्षत्र में बनाया। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी की गणना से जय संवत् १६४२ में पड़ता है। अतः ये तीनों ग्रंथ १६४३ के लगभग बनाए गए होंगे*।"

ऊपर के इस विचार से हम पूर्ण रूप से सहमत हैं कि 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' एक ही समय के रचे हुए ग्रंथ हैं; परंतु 'रामलला नहछू' का भी निर्माण उसी समय हुआ यह विचार भ्रमात्मक है। 'रामलला नहछू' के रचना-काल के संबंध में, उसकी आलोचना के प्रसंग में, यथेष्ट विवेचन हो चुका है। यहाँ उसकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। बाबू साहब ने कदाचित् वेणी-माधवदास के मूल गोसाईंचरित पर ही विशेष ध्यान दिया है। 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' एक ही समय की रचनाएँ हैं, इस संबंध में उन्होंने जो कुछ लिखा है वह पर्याप्त है।

किसी शिष्ट लेखक ने, गोस्वामीजी के ग्रंथों का निर्माण-काल निश्चित करते हुए, शिष्ट समझी जानेवाली एक पत्रिका में 'रामलला नहछू' को संवत् १६१२ और 'जानकी-मंगल' को संवत् १६२० में रचित बतलाया है। 'पार्वती-मंगल' में तो रचना-काल दिया हुआ है, अतएव उसमें कोई हेर-फेर नहीं किया जा सका। 'जानकी-

* 'गोस्वामी तुलसीदास,' पृष्ठ ८४-८५।

मंगल' को 'पार्वती-मंगल' के रचना-काल से बहुत पूर्व की कृति बतलाया गया है। हम उक्त लेखक की उक्तियों पर क्रमशः विचार करेंगे।

लेखक महाशय का कहना है कि रामाज्ञा-प्रश्न का कथा-विस्तार दो प्रकार का है। उसमें रामायण का क्रम भी है और जानकी-मंगल का भी। अतएव रामचरितमानस मध्यवर्ती, जानकी-मंगल पूर्ववर्ती और रामाज्ञा-प्रश्न परवर्ती ग्रंथ है। मेरी समझ में नहीं आता कि यदि जानकी-मंगल और 'मानस' का क्रम बदल दिया जाय तो कौन सी तार्किक अशुद्धि आ जायगी। और, फिर मानस और 'जानकी-मंगल' के कथा-क्रम में कोई ऐसा विशेष अंतर भी नहीं है जिससे रचना-काल की विभिन्नता पर कोई प्रकाश पड़ सके।

फुलवारी के वर्णन का न होना, जनक के निराशापूर्ण वचन और लक्ष्मण के दर्पपूर्ण उत्तर का अभाव, परशुराम-लक्ष्मण-संवाद की अनुपस्थिति तथा परशुराम का पीछे आना ये सब ऐसी बातें नहीं जिनके कारण हम 'जानकी-मंगल' का रचना-काल 'मानस' के रचना-काल के आगे ढकेल दें। इस उक्ति से तो 'पार्वती-मंगल' को भी 'मानस' के पूर्ववर्ती ग्रंथों में सम्मिलित करना पड़ेगा; क्योंकि उसकी कथा भी मानस से छोटी है। वास्तव में, जैसा आगे बतलाया जायगा, 'जानकी-मंगल' पाठ करने के लिये रचा गया है, अतएव संक्षिप्त है।

लेखक ने एक और उपहासजनक बात कही है। वह यह कि 'जानकी-मंगल' का शृंगार-वर्णन, 'नहछू' और 'मानस' के शृंगार-वर्णन का मध्यवर्ती है। उदाहरण-स्वरूप जो छंद दिया गया है उसे हम नीचे उद्धृत करते हैं—

'रूपरासि जेहि ओर सुभाय निहारइ।
नील-कमल-सर-श्रेनि मयन जनु डारइ॥'

इस छंद में कौन सा शृंगार है जो मानस के शृंगार-वर्णन से नीचा है, इसे तो लेखक महाशय ही समझ सकते हैं। हमें तो कोई ऐसी बात मालूम नहीं होती। स्वयं मानस में लिखा है—

'जहँ बिलोक मृग-सावक-नयनी, जनु तहँ बरिस कमल-सित-श्रेनी।'

सीताजी के ही संबंध में मानस में अन्यत्र लिखा है—

'मानहुँ मदन दुंदुभी दीन्हीं। मनसा बिस्व बिजय कहँ कीन्ही॥'

इन चित्रों में ऐसा कौन अंतर है जिसके कारण एक को हम गोस्वामीजी के काव्य-काल के आरंभ-युग का उदाहरण मानें और दूसरे को मध्य युग का?

गोस्वामीजी के 'मानस' की इस पंक्ति—'जनु तहँ बरिस कमल-सित-श्रेनी'—और लेखक की दी हुई पंक्ति में ऐसा कोई अंतर नहीं है, जिससे यह कहा जाय कि एक मध्यवर्ती काल की उक्ति है और दूसरी आरंभिक काल की। लेखक महोदय इस ओर यदि एक बार भी ध्यान देते कि 'मानस' का ही कथा-प्रसंग संक्षिप्त करके, पाठ करने के लिये, गोस्वामीजी ने पृथक् रूप में संगृहीत किया है तो उन्हें यह भ्रम न होता। जहाँ जहाँ कथा में अंतर है, वह केवल इसलिये कि 'जानकी-मंगल' में कलात्मक अभिव्यक्ति और कवि की स्वतंत्रता का यथेष्ट उपयोग नहीं किया गया। वह पाठ की चीज थी, काव्य की वस्तु नहीं। अतएव इससे मनमाना निष्कर्ष निकालना बाल-चापल्य मात्र है। इधर-उधर के वाक्यांशों के आधार पर यह स्थिर करना कि काव्य की दृष्टि से 'जानकी-मंगल' 'पार्वती-मंगल' से हेय है अथवा वह उक्त ग्रंथ की समकालिक रचना नहीं हो सकती, अपने को बद-नाम करके नाम कमाने की वृत्ति का परिचय देना है। 'जानकी-मंगल' के रचना-काल के संबंध में हम रायबहादुर बाबू श्यामसुंदर-दास से पूर्णतया सहमत हैं। 'पार्वती-मंगल' के बाद ही इसकी रचना हुई जिसका समय 'जय' संवत् के ठीक बाद का है।

विभिन्न ग्रंथों में राम-जानकी-विवाह-वर्णन किस प्रकार का है उसकी भी थोड़ी जानकारी अपेक्षित है। 'जानकी-मंगल' में विवाह की कथा, संक्षेप में, इस प्रकार है—

"तिरहुत नामक एक सुंदर देश था। वहाँ जनकपुर में राजा जनक शासन करते थे। वे सब गुणों से युक्त और अनुपमेय थे। कल्याणी सीता उनकी पुत्री हुई। कन्या के वयस्क हो जाने पर जनक ने, गुरु तथा कुटुंबियों के परामर्श से, स्वयंवर रचा। उसमें उन्होंने, प्रण करके, शिव का धनुष रख दिया और देश-देशांतर के राजाओं के पास संदेश भेजा। वे लोग तैयारी करके प्रसन्नता-पूर्वक जनकपुर पहुँचे। दानव, राक्षस, किन्नर और देवता आदि, सुंदर रूप धारण करके, वहाँ गए। उसी समय विश्वामित्र अयोध्या आए। राजा दशरथ ने उनका सम्मान किया, अपने भाग्य की प्रशंसा की। विश्वामित्र ने आशीर्वाद दिया। विश्वामित्र ने श्रीराम को, अनुजों समेत, देखा और वे प्रसन्न हुए। वे उन्हें टकटकी लगा-कर देखने लगे। दशरथजी ने कहा—"मुनिवर! आप तो स्वयं चारों पदार्थों के दाता हैं। आप कैसे आए? यह पूछते हुए मैं डरता हूँ।" मुनीश्वर ने राजा के धर्म-भाव की प्रशंसा करके अपना अभिप्राय बतलाया। राजा प्रेम और सत्य की दुविधा में पड़ गए। वशिष्ठ के समझाने पर राजा ने राम-लक्ष्मण को उन्हें दे दिया। माता-पिता को प्रणाम कर राम और लक्ष्मण मुनि के साथ चल दिए। मार्ग में अच्छे अच्छे शकुन हुए। राम ने ताड़का को मारा। ऋषि ने उन्हें सब प्रकार से योग्य जानकर विद्या और मंत्र सिखलाए। अपने आश्रम पर पहुँचकर विश्वामित्र ने निर्विघ्न यज्ञ किया। राम ने राक्षसों से उनकी रक्षा की।

"तदनंतर ऋषि दोनों भाइयों को लेकर, धनुषयज्ञ दिखाने के बहाने, जनकपुर गए। मार्ग में राम ने अहल्या को शाप से

मुक्त किया। जनकपुर में राम को देखकर सब स्त्री-पुरुष प्रसन्न हुए। महाराज जनक ने उनके आने का हाल सुना। अपने मंत्रियों के साथ वे मिलने आए। राम को देखकर राजा को ब्रह्म के दर्शन का सा सुख हुआ। वे राम के प्रेम में आसक्त हो गए। उन्होंने मुनि से पूछा—'ये किस पुण्यात्मा के पुत्र हैं?' विश्वामित्र ने बतलाया—'ये साक्षात् ब्रह्मस्वरूप सूर्यवंश के प्रकाशक हैं। राम और लक्ष्मण इनके नाम हैं।' रूप, शील और आयु में राम को सीता के उपयुक्त पाकर राजा, पिनाक की कठोरता का अनुमान कर, चिंतित हुए। फिर उन्होंने विश्वामित्र को यज्ञशाला दिखलाई। विश्वामित्र ने रचना-कौशल की प्रशंसा की। राम और लक्ष्मण के साथ ऋषि सुंदर सिंहासन पर बैठ गए। नर-नारी राम के सौंदर्य पर मुग्ध हो गए। सब उनके लावण्य का यशोगान करने लगे। कुछ लोग कहते थे कि ये किशोर शिव का धनुष कैसे तोड़ेंगे। कुछ लोग उनके पराक्रम का वर्णन करके कहते थे ये अवश्य सीता का वरण करेंगे। विवाह की कामना से बहुत से राजा भी आए थे। उनमें से कुछ दुष्ट स्वभाव के थे। साधु राजाओं ने उनसे कहा कि व्यर्थ की डींग मत मारो। राम को देखकर अपनी आँखें सफल करो। यही सीता के पति होंगे। नगर के स्त्री-पुरुषों में भी दोनों प्रकार की बातें हो रही थीं। जनक की रानी सुनयना भी शिव-धनुष की गुरुता सोच सोचकर पछताती थीं। सखियों ने उन्हें समझाया। इसी बीच सीता यज्ञशाला में लाई गईं। सब उनके सौंदर्य को देखने लगे। बंदीगणों ने, सभा में, जनक का प्रण कह सुनाया। अविवेकी राजा धनुष के पास गए। कुछ तो उसे देखकर ही लौट आए और कुछ ने अपना सारा परिश्रम लगा दिया पर धनुष टस से मस न हुआ। जनक व्याकुल हुए कि अब इसे कौन चढ़ावेगा। विश्वामित्र ने उनसे राम को यह काम करने की आज्ञा देने के लिए कहा।

जनकजी बोले—'जिस धनुष को देखते ही बाणासुर और रावण जैसे दुर्दांत योद्धा चले गए, उसे ये कोमलकलेवर राम कैसे उठा सकते हैं!' विश्वामित्र ने कहा—'इन्हें बालक मत समझो। धनुष-रूपी समुद्र को सोखने के लिये ये कुंभज के सदृश हैं।'

"राम धनुष तोड़ने के लिये चले। लक्ष्मण ने पृथ्वी और पर्वतों को चेतावनी दी। सीता गणेश और शिव-पार्वती को मनाने लगीं। राम ने बिना किसी परिश्रम के धनुष के दो टुकड़े कर दिए। बड़ा कठोर शब्द हुआ। आकाश और नगर में नगाड़ों पर चोट पड़ी। फूल बरसने लगे। जानकी ने राम के गले में जयमाला पहनाई। राजा-रानी प्रसन्न हुए। विश्वामित्र की आज्ञा से दशरथ के पास विवाह की लग्न भेजी गई। चतुर कारीगरों को विवाह-मंडप बनाने का काम सौंपा गया।

"विवाह की सूचना मिलने पर अयोध्या में धूम मच गई। बारात की तैयारी हुई। बारात जब जनकपुर के पास पहुँची, तब लोग उसकी अगवानी करने गए। सब एक दूसरे से मिले; बड़ा आनंद हुआ। सब प्रकार की सुविधाओं से पूर्ण 'जनवास' दिया गया। राम-लक्ष्मण विश्वामित्र के साथ जनवासे गए। उन्हें देखकर सारे बाराती प्रसन्न हुए। दशरथ ने दोनों को छाती से लगा लिया और विश्वामित्र की पूजा की। ब्राह्मणों को दान दिया। राम को विवाह के वस्त्र पहनाए गए। जनक ने बारात के लिये बहुत सी वस्तुएँ भेंट में भेजीं। बारात जनक के यहाँ गई। परिछन हुआ। न्योछावरें हुईं। जनक ने दशरथ को, बारातियों सहित, यथा-योग्य आसन पर बैठाया। राम विवाह-मंडप में गए। कुलाचार और वेदाचार हुए। सीताजी भी वहाँ लाई गईं। वर-वधू को देखकर सब लोग आनंदित हुए। अग्नि-पूजन हुआ। मिथिलेश ने कन्यादान किया। विवाह हो गया। वर-वधू कोहबर में

लाए गए। वहाँ स्त्रियों ने हँसी की। वे बड़ी प्रसन्न थीं। इसी बीच जनक के छोटे भाई कुशध्वज की मांडवी और श्रुतकीर्ति नाम की पुत्रियाँ भरत और शत्रुघ्न को तथा सीता की बहन उर्मिला लक्ष्मण को ब्याही गईं। राजा ने अगणित दास-दासी, हाथी-घोड़े, सोना, मणि और वस्त्र आदि दायज में दिए। राजा दशरथ पुत्रों और पुत्र-वधुओं के साथ जनवासे गए। फिर ज्योनार हुई। सुहागिन स्त्रियों ने मीठे स्वर में गालियाँ गाईं। उस रात बड़ा आनंद हुआ। दूसरे दिन बारात के चलने की तैयारी हुई। सीताजी के चलते समय आबाल-वृद्ध नगर-निवासी एवं पशु-पक्षी तक व्याकुल हुए। दशरथजी के बहुत कहने पर जनक उन्हें बिदा करके लौटे। जनक ने दशरथजी से सारे कष्टों के लिये क्षमा-प्रार्थना की। राम से उन्होंने प्रेम बनाए रखने को कहा। बारात बिदा हुई। बाजे बजने लगे। कोलाहल सुनकर मार्ग में परशुराम मिले। वे बड़े बिगड़े। राम ने उन्हें शांत कर दिया। अपना धनुष राम को देकर वे चले गए। राम का बाहुबल देखकर बाराती प्रसन्न हुए। बारात अयोध्या के निकट पहुँची। सारा नगर सजाया गया। घर घर बंदनवार, पताकाएँ और चौक सुशोभित थे। स्त्रियों ने आरती उतारी। तीनों पटरानियाँ राम का परिछन करने चलीं। चारों पुत्रों और पुत्र-वधुओं की आरती उतारी। बड़े सम्मान से उन्हें घर ले आईं। वहाँ अत्यंत आदर-सत्कार किया। ब्राह्मणों को बहुत सा दान दिया। भिखमंगों को निहाल कर दिया। देव-पितरों की पूजा की। रीति-रस्म हो चुकने पर सबको वस्त्र दिए गए। सब लोग चारों जोड़ियों को देखकर, आशीर्वाद देते हुए, वहाँ से बिदा हुए।"

वाल्मीकि-रामायण में विश्वामित्र द्वारा लाए गए राम-लक्ष्मण की घटना और जानकी-विवाह की घटना के बीच बहुत सी अंतर्कथाएँ आ गई हैं। आगे हम अत्यंत संक्षेप में उनका उल्लेख करते हैं—

"विश्वामित्र जब रामचंद्रजी को ले जाने का अपना मंतव्य व्यक्त करते हैं तब दशरथजी अत्यंत खिन्न हो जाते हैं और स्वयं सेना सहित राक्षसों से लड़ने को प्रस्तुत हो जाते हैं। अपने पुत्र को देने में वे आनाकानी करते हैं। विश्वामित्र की त्योरी चढ़ जाती है। वशिष्ठजी के अनुरोध से रामचंद्र और लक्ष्मण उन्हें सौंप दिए जाते हैं। मार्ग में विश्वामित्र ने रामचंद्रजी को बला और अतिबला विद्याएँ सिखाईं। फिर वे सरयू के किनारे गए और कामदेव के भस्म होने की कथा सुनाई। फिर 'दो' देशों की कथा का वर्णन किया। तदनंतर ताड़का की अवस्था बतलाई। महिला-वध का संकोच निवृत्त करके राम द्वारा ताड़का का वध कराया। लक्ष्मण ने उसके नाक-कान काट लिए। रामचंद्र को युद्ध के लिये संपूर्ण अस्त्र-समूह प्रदान किया गया। इसके बाद कश्यप और अदिति का वर्णन करके वामनावतार की चर्चा की गई है। मुनियों ने यज्ञ आरंभ किया। राम-लक्ष्मण धनुष-बाण से उनकी रक्षा करने लगे। इतने में ससैन्य मारीच आ गया। वह सौ योजन पर फेंक दिया गया; परंतु उसके साथी मार डाले गए। यज्ञ समाप्त होने पर सब मुनियों के साथ यज्ञ देखने के लिये राम और लक्ष्मण जनकपुरी पधारे। संक्षेप में धनुष का वर्णन कर जनक-पुरी और जनक-वंश का विवरण दिया गया है। इसी बीच में महादेव और पार्वती की रति-क्रीड़ा और उनके वियोग की चर्चा है। कामातुर अग्निदेव द्वारा धातुओं की सृष्टि होने की कथा दी गई है। फिर विश्वामित्र ने विशालपुरी की कथा कही है। समुद्र-मंथन की चर्चा भी आई है। दिति और अदिति की कथा का भी उल्लेख है। जनकपुरी पहुँचने के बाद जनक और विश्वामित्र की बातचीत का उल्लेख है। जनकपुरी के अंतर्गत एक निर्जन स्थान देखकर रामचंद्रजी ने विश्वामित्र से उसकी गाथा पूछी। अहल्या

की सारी कथा सुनाकर विश्वामित्र उन्हें उस स्थान पर ले गए। राम-लक्ष्मण ने उनके पैर छुए। अहल्या ने भी स्मरण कर उनके पैर छुए। शाप निवृत्त हो गया। गौतम के ज्येष्ठ पुत्र शतानंद से भेंट हुई और उन्होंने विश्वामित्र की जीवन-कथा और उनके प्रयासों का सविस्तर वर्णन किया। इस कथा में बहुत सी अंतर्कथाएँ हैं। फिर जानकीजी और विश्वामित्र की बातचीत है। जनकजी कहते हैं—'मेरी कन्या 'वीर्यशुल्का' है। मैंने बहुत से राजाओं को आमंत्रित किया। परंतु धनुष का रोदा न चढ़ा सकने के कारण जब मैंने किसी के साथ जानकी को नहीं ब्याहा तब सब राजा ससैन्य मेरे ऊपर चढ़ आए। मुझे बड़ी कठिनाई हुई। मैंने यज्ञ द्वारा सेना प्राप्त की और उन्हें परास्त किया।' इतना कहकर, दिखाने के लिये, मंत्रियों द्वारा धनुष मँगवाया। पाँच हजार मजबूत मनुष्य धनुष की आठ पहिए की पेटी को कठिनता से खींच और ढकेलकर वहाँ ला सके। विश्वामित्र के अनुरोध से रामचंद्रजी ने पेटी खोलकर धनुष देखा। रामचंद्रजी ने रोदा चढ़ाने की आज्ञा माँगी और विश्वामित्र तथा जनक की स्वीकृति मिलने पर रोदा चढ़ा दिया। धनुष बीच से टूट गया। बड़ा शब्द हुआ। कुमारों और विश्वामित्र तथा जनक को छोड़कर सब संज्ञाहीन हो गए। अयोध्यापुरी को दूत भेजे गए। कुशध्वज भी बुलाए गए। बारात आ गई। दशरथजी की वंश-परंपरा का हाल दिया गया है। फिर जनककुल की वंश-परंपरा सुनाई गई। चारों पुत्रों का विवाह हो जाने पर विश्वामित्र दूसरे दिन बिदा होकर चले गए। दशरथजी भी बिदा हुए। मार्ग में उन्हें परशुरामजी दिखाई पड़े। उन्होंने थोड़े रोष के साथ राम से बातें कीं, दोनों धनुषों की कथा कही और अपना धनुष रामचंद्रजी के हाथों में सौंप दिया। दशरथजी डर

रहे थे। धनुष चढ़ाकर रामचंद्रजी ने परशुरामजी के अर्जित लोकों को नष्ट कर दिया। वे चले गए। बारात लौटकर अयोध्या पहुँच गई। बहुओं ने सासों को प्रणाम किया।" इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण की राम-विवाह-विषयक कथा समाप्त होती है।

रामचरितमानस के सीता-विवाह-वर्णन का संक्षिप्त परिचय भी नीचे दिया जाता है—

"विश्वामित्र नाम के एक महामुनि वन में तपस्या किया करते थे। वहाँ मारीच और सुबाहु नाम के दो बड़े विकट राक्षस रहते थे। जब विश्वामित्र तपस्या करना आरंभ करते तब आकर वे उपद्रव मचाते थे। उनके कारण मुनियों को बहुत कष्ट होता था। एक दिन विश्वामित्र ने विचार किया कि भगवान् का अवतार हो गया है। उनके दर्शन करके उनको वन में लाना चाहिए। वे ही इन राक्षसों का नाश कर सकते हैं।

"चराचर-स्वामी, अनादिशक्ति, भक्तवत्सल श्रीरामचंद्र की दर्शन की लालसा ने मुनिवर को राजा दशरथ के यहाँ जाने के लिये उद्यत कर दिया। वे तुरंत राजा के यहाँ पहुँच गए। राजा ने उनका यथोचित आदर-सम्मान किया। राजा को आने का प्रयोजन बताते हुए ऋषिवर ने रामचंद्र और लक्ष्मण को, राक्षसों का वध करने के लिये, अपने साथ भेजने को कहा। पहले तो राजा बड़े असमंजस में पड़े; किंतु महर्षि वशिष्ठ के समझाने पर उन्होंने दोनों राजकुमारों को उनके साथ कर दिया।

"साँवले-सलोने राम को देखकर महामुनि विश्वामित्र कुछ समय के लिये विदेह हो गए। मार्ग में उनके साथ लौटते हुए उन्हें असीम आनंद का अनुभव होता था। वे अपने आश्रम में पहुँचने भी नहीं पाए थे कि ताड़का राक्षसी उनको देख क्रोध

कर झपटी। रामचंद्रजी ने क्षण मात्र में, एक ही बाण से, उसको स्वर्ग भेज दिया। मुनि ने मार्ग में ही सब विद्याएँ सिखाकर रामचंद्रजी को निपुण कर दिया। उन्हें सब प्रकार के अस्त्र-शस्त्र सिखा दिए। आश्रम में पहुँचकर दोनों राजकुमारों को कंद-मूल खिलाया। प्रातःकाल होते ही मुनि यज्ञ करने लगे। उसी समय मारीच अपनी सेना लेकर झपटा। राम ने उसको बिना पुंख का एक बाण ऐसा मारा कि उसका शरीर सौ योजन दूर समुद्र पार जा गिरा। एक अग्नि-बाण से सुबाहु का अंत कर दिया। राक्षस-सेना को नष्ट करने का श्रेय लक्ष्मण को मिला। सब राक्षसों का नाश होने से वहाँ के मुनि लोग बहुत प्रसन्न हुए। कथा-इतिहास कहते-सुनते कुछ समय राजकुमारों ने वहाँ बिताया।

"रामचंद्रजी और लक्ष्मण को धनुषयज्ञ दिखाने के लिये विश्वामित्र उनको साथ ले चले। मार्ग में किसी आश्रम में एक शिला दीख पड़ी। मुनि ने उसका सब इतिहास सुनाया। सुन-कर करुणामय भगवान् ने अपने चरण का स्पर्श करा शिला-रूपिणी गौतम-पत्नी अहल्या का उद्धार किया। अहल्या ने दीनानाथ, संकट-भंजन रामचंद्रजी की बड़ी स्तुति की। तत्पश्चात् वह अपने पति के निवासस्थान को चली गई।

"वे गंगाजी में स्नान कर जनकपुर पहुँचे। (तुलसीदासजी ने जनकपुर का वर्णन बड़े सुंदर शब्दों में किया है।) वहाँ के घरों की रचना और निवासियों का स्वभाव यात्रियों को मुग्ध कर लेता था। गाँव के बाहर ही एक सुंदर अँबराई देखकर मुनि, दोनों राजकुमारों के साथ, टिक रहे।

"मुनि का आगमन सुनकर महाराज जनक तुरंत ही मंत्रियों आदि के साथ वहाँ गए और मुनि को प्रणाम कर बैठ गए। दोनों राज-कुमारों की सुंदरता देखकर सब लोग दंग रह गए। राजा जनक

उनको नगर में लिवा लाए और एक सुंदर घर में टिकाया। भोजन आदि करके रामचंद्र और लक्ष्मण मुनि के पास बैठे। रामचंद्रजी मुनि से आज्ञा लेकर लक्ष्मण के साथ जनकपुरी देखने के लिये गए। रामचंद्रजी का रूप-रंग देखकर जनकपुर के सब नर-नारी मुग्ध हो जाते थे। बालकों को तो मानो कोई गड़ा हुआ ख़ज़ाना मिल गया था। वे उनके साथ हो जाते थे और नगर के एक एक भवन का वर्णन कर दिखाते जाते थे। स्त्रियाँ उनको देखकर परस्पर भाँति भाँति के मनोभाव व्यक्त करती थीं। कोई कहती थी कि रामचंद्रजी सीता के योग्य वर हैं तो कोई कहती थी कि राजा जनक का प्रण कठिन है। कोई कहती थी कि इन्होंने राक्षसों तक का नाश कर डाला है। इस प्रकार नगर-निवासियों के मन को वशीभूत करते हुए सुंदर यज्ञशाला को देखकर रामचंद्रजी तथा लक्ष्मण मुनि के पास लौट आए। संध्या-वंदन कर मुनि शयन करने लगे। राम-लक्ष्मण उनके पैर दबाने लगे। उनकी आज्ञा पाकर वे भी सोए।

"मुर्ग़े बोलने लगे, प्रभात हुआ। दोनों भाई जाग गए थे। वे नित्य-क्रिया समाप्त करने में दत्तचित्त हुए। मुनि की आज्ञा लेकर दोनों भाई पुष्प लाने के लिये राजोद्यान को गए। उपवन के हरे हरे फलयुक्त वृक्षों, भाँति भाँति के खिले हुए पुष्पों और चहचहाती हुई सुंदर चिड़ियों को देखकर रामचंद्र और लक्ष्मण प्रसन्न हो गए। मालियों से पूछकर वे पुष्प और फल लेने लगे। उसी समय सीताजी, अपनी सखियों के साथ, पार्वतीजी की पूजा करने उस वाटिका में आईं। उनकी एक सखी ने, सबका साथ छोड़कर, कहीं राजकुमारों को देख लिया। उसका शरीर आनंद से रोमांचित हो रहा था। वह सीताजी को तथा अन्य सखियों को भी उन दोनों राजकुमारों की सुंदरता दिखाने के लिये ले आई। इधर रामचंद्रजी सीताजी की सुंदरता

देखकर मन ही मन सराहते थे, उधर सीताजी रामचंद्रजी के मुखचंद्र को चकोर की भाँति एकटक देख रही थीं। सीताजी विलंब होने के भय से, एक सखी के कहने पर, चल दीं। वे झुक झुककर, पीछे घूमकर, श्यामल राम के मुख का दर्शन भी करती जाती थीं। वे फिर पार्वतीजी की पूजा करने गईं। उनसे उन्होंने प्रार्थना की कि मेरा मनोरथ पूर्ण हो—रामचंद्रजी मेरे पति हों। पार्वतीजी ने उन्हें 'एव-मस्तु' कहकर वरदान दिया। सीताजी रनिवास की ओर चली गईं।

"रामचंद्रजी भी लक्ष्मण से सीताजी के मुख की प्रशंसा करते हुए तथा अन्यान्य बातें करते हुए चल दिए। संध्या के समय वे संध्यावंदन करने चले। उन्होंने चंद्रमा को देखकर कहा कि चंद्रमा सीता के मुख की समता नहीं कर सकता। उसमें अनेक दोष हैं। प्रातःकाल महाराजा जनक ने विश्वामित्र तथा राजकुमारों को बुलाने के लिये सतानंद को भेजा। वे लोग यज्ञशाला में स्वयंवर देखने आए। राजकुमारों का आगमन सुनकर नगर-निवासी भी यज्ञशाला में एकत्र हो गए।

"दोनों राजकुमारों के यज्ञशाला में पहुँचने पर भक्त राजा लोग, उनका सौंदर्य देखकर, मुग्ध हो गए। उन्हें विश्वास हो गया कि रामचंद्रजी धनुष को अवश्य तोड़ेंगे। किंतु कुछ उद्भट अभिमानी नरेश उनके इस विश्वास पर हँसते थे। सीताजी से विवाह करने के लिये वे लोग काल तक को जीतने को उद्यत हो रहे थे।

"इसके पश्चात्, महाराज जनक के आज्ञानुसार, सखियों समेत सीताजी यज्ञशाला में आईं। वे मन ही मन प्रार्थना कर रही थीं कि उनकी जयमाला रामचंद्रजी के ही गले में पड़े। कवि ने बड़े मार्मिक शब्दों में सीताजी की सुंदरता का वर्णन किया है।

"बंदीगणों ने आकर सबको जनक का प्रण सुनाया। एक एक कर सब राजा आ आकर शिव के धनुष को उठाने लगे;

किंतु कोई भी उसे टस से मस न कर सका। यहाँ तक कि दस सहस्र राजाओं ने एक साथ उसको उठाना आरंभ किया; फिर भी वह हिला तक नहीं।

"'धनुष उठाने में राजाओं को असफल होते देख महाराज जनक को बड़ा क्षोभ हुआ। उन्होंने कहा—'पृथ्वी पर वीर नहीं रह गए। यदि रहते तो आज सीता का ब्याह अवश्य हो जाता। अब सब राजा लोग अपने अपने घर जायँ।' उनके ये वाक्य लक्ष्मणजी को तीर के समान चुभे। अंत में श्रीरामचंद्रजी को प्रणाम करके वे बोले—'जिस समाज में रघुवंश के लोग मौजूद हों, उसमें जनक को ऐसे वचन नहीं कहने चाहिएँ। यदि श्रीरामचंद्रजी की आज्ञा हो तो मैं धनुष को लेकर सौ योजन तक दौड़ सकता हूँ।' क्रोधित लक्ष्मण की बात सुनकर राजा लोग डर गए। महाराज जनक भी लज्जित हो गए। सीताजी को प्रसन्नता हुई।

"अनुकूल समय देखकर राजर्षि विश्वामित्र ने श्रीरामचंद्र को धनुष तोड़ने की आज्ञा दी। रामचंद्रजी उनकी आज्ञा पाते ही उठ खड़े हुए। रनिवास में सीताजी की माता कहने लगीं—'राजा की बुद्धि कहाँ चली गई है? इतना कठोर धनुष, जिसे रावण जैसे दुर्दांत योद्धा भी नहीं उठा सके, ये सुकुमार बालक किस प्रकार उठावेंगे!' उस समय सीताजी की अवस्था बड़ी विलक्षण थी। वे कभी रामचंद्रजी को देखती थीं और कभी धनुष को। वे शिव-पार्वती से प्रार्थना कर रही थीं कि धनुष हलका हो जाय। सीताजी की शोचनीय दशा देखकर रामचंद्रजी ने गुरु को प्रणाम किया और बड़ी चतुराई से धनुष उठा लिया। यह देख लोगों को बड़ा विस्मय हुआ। वीरवर राम ने उसी समय शिवजी का धनुष तोड़ डाला।

"शिवजी के उस बड़े भारी धनुष के टूटने का शब्द सारे संसार में व्याप्त हो गया। धनुष के दोनों टुकड़ों को भूमि पर पड़ा देख

सब लोगों को आनंद हुआ। देवता लोग पुष्पों की वर्षा करने लगे। जगह-जगह स्त्रियाँ आपस में कहने लगीं कि रामचंद्रजी ने धनुष तोड़ डाला।

"बाजे बजने लगे। रानियों समेत राजा जनक और सीताजी को अनिर्वचनीय आनंद प्राप्त हुआ। तत्पश्चात्, शतानंद के आदेशानुसार, सीताजी ने श्रीरामचंद्र के गले में जयमाला डाल दी।

"उपस्थित राजाओं में से जो सज्जन थे उनको तो इससे प्रसन्नता हुई; किंतु जो नीच थे वे चिढ़कर कहने लगे—'धनुष तोड़ने से क्या हुआ? अभी युद्ध करके हम राजकुमारों को बाँध लेंगे। हम लोगों के रहते सीता को कौन व्याहेगा?' सीताजी तो रनिवास में चली गईं और इन लोगों ने कोलाहल मचाना आरंभ किया। रानियों ने सोचा कि ईश्वर न जाने क्या करनेवाला है! ठीक इसी समय क्रोधाभिभूत परशुरामजी वहाँ आ पहुँचे। उनको देखते ही राजा लोग शांत हो गए। सबने अपना और अपने पिता का नाम लेकर उनको प्रणाम किया। शिवजी के धनुष के दोनों टुकड़ों को पृथ्वी पर पड़ा देखकर परशुरामजी के क्रोध की सीमा न रही। उन्होंने जनकजी से धनुष तोड़नेवाले का नाम पूछा। रामचंद्रजी ने कहा—'शिवजी का धनुष तोड़नेवाला आपका कोई दास ही होगा। कहिए मेरे लिये क्या आज्ञा है।' परशुरामजी ने कहा—'दास तो भलाई करता है, बुराई नहीं। जिसने धनुष को तोड़ा हो वह समाज से अलग हो जाय; अन्यथा सब राजा मारे जायँगे। शिवजी के धनुष को तोड़नेवाला व्यक्ति, सहस्रबाहु के समान, मेरा शत्रु है।' इस पर लक्ष्मणजी बोले—'हमने बचपन में बहुत से धनुष तोड़े हैं। तब तो आप इतने क्रोधित नहीं हुए। इस धनुष पर आपकी विशेष प्रीति क्यों है, जो आप इतना क्रोध कर रहे हैं?' इससे परशुरामजी का क्रोध और भी बढ़ा।

उनमें और लक्ष्मणजी में बहुत कुछ कहा-सुनी हुई। परशुरामजी का क्रोध बढ़ता ही गया। रामचंद्रजी ने विनीत वाक्यों से परशुरामजी को शांत करना चाहा। किंतु परशुरामजी ने यह समझा कि लक्ष्मण रामचंद्रजी के आदेश से ही इतना कह-सुन रहे थे। रामचंद्रजी ने उनकी बड़ी प्रशंसा की और कहा—'आप तो ब्राह्मण हैं। आपके कुठार के आगे मेरा यह सिर है। मैं तो आपका सेवक हूँ।' परशुरामजी ने रामचंद्रजी से युद्ध करने को कहा, जिसे रामचंद्रजी ने यह कहकर टाल दिया—'हम आपके सेवक हैं। सेवक और स्वामी में कैसा युद्ध !'

"तत्पश्चात् रामचंद्रजी ने ऐसी बातें कहीं जिनसे परशुरामजी को कुछ ज्ञान हुआ। उन्होंने अपना धनुष-बाण चढ़ाने के लिये रामचंद्रजी को दिया। वह उनके हाथ में देते ही स्वयं चढ़ गया। तब परशुरामजी को विदित हो गया कि रामचंद्रजी साधारण राजकुमार नहीं, वरन् परम ब्रह्म हैं। अतः रामचंद्रजी की स्तुति कर, अपने पूर्व-कथित कठोर वचनों के लिये क्षमा-याचना करते हुए, वे वन में तपस्या करने चले गए।

"अब राम और सीता के विवाह की तैयारियाँ होने लगीं। जनकपुर सजाया गया। मंगल-वाद्य बजने लगे। युवतियाँ गाने लगीं। अयोध्या को दूत भेजकर दशरथजी बुलाए गए। यह समाचार सुनने पर वे बड़े प्रसन्न हुए। सारे अयोध्यावासी बहुत सुखी हुए। वे लोग भी अपने अपने घर सजाने लगे।

"बारात बहुत सुंदर थी। भाँति भाँति के बाजे बजते थे। रथ, घोड़े और हाथी एक से एक बढ़कर थे। बारात बड़ी धूमधाम से जनकपुर पहुँची। महाराज जनक अगवानी के लिये आए। बारात एक सुंदर जनवासे में ठहराई गई। सीताजी ने बारातियों की सेवा के लिये सब सिद्धियों को भेज दिया। महाराज दशरथ तथा

अन्यान्य अयोध्यावासियों से विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण प्रेम-पूर्वक मिले।

"चारों राजकुमारों को देखकर जनकपुर के लोग मुग्ध हो जाते थे। स्त्रियाँ मनाती थीं कि उन सबका विवाह जनकपुर में ही हो। महाराज जनक शुभ मुहूर्त में, बड़े बड़े आदमियों के साथ, राजा दशरथ को बुलाने के लिये जनवासे गए। वहाँ पहुँचने पर उन्हें अयोध्या-नरेश का समाज उनसे भी बढ़कर दीख पड़ा। इधर बहुत से बाजे आदि बजने लगे, उधर देवता लोग भी अपने अपने विमानों पर चढ़कर विवाह देखने के लिये आए।

"बारात के पहुँचने पर रानी ने आरती उतारी। देवांगनाएँ भी स्त्रियों का रूप धारण कर, जनक के रनिवास के साथ मिलकर, सुंदर गान करने लगीं। रानी को श्रीरामचंद्र का मुख देखकर अवर्णनीय आनंद प्राप्त हुआ। आरती करने के पश्चात् उन्होंने अर्घ्य दिया। फिर श्रीरामचंद्रजी विवाह-मंडप में पहुँचे। वहाँ भाट, नट, नाई और बारी आदि न्यौछावर पाकर उन्हें आशीर्वाद देते थे।

"इसके अनंतर जनक दशरथजी से मिले। दोनों का मिलन देखकर देवता तक सराहते थे। पाद्य और अर्घ्य देते हुए महाराज जनक उन सबको मंडप में ले आए। उन्होंने सबको अपने हाथों आसन दिया और वामदेव, वशिष्ठ तथा विश्वामित्र आदि ऋषियों की पूजा की! महाराज दशरथ की पूजा करने के पश्चात् सब बारातियों को ऊँचे ऊँचे आसनों पर बिठाया। देवता भी ब्राह्मण का वेश रखकर यह सब लीला देख रहे थे।

"ठीक समय पर सीताजी सखियों सहित आईं। राजा जनक और रानी दोनों ने जल के थाल भर रखे। जनकजी ने श्रीरामचंद्रजी के चरणों की पूजा की। दोनों कुलगुरुओं ने शाखोच्चार कहे और राम-सीता का पाणि-ग्रहण कराया। जनक ने रामचंद्रजी को कन्यादान

दिया। यथाविधि हवन किया गया, फिर गाँठ जोड़कर भाँवरें होने लगीं। सीताजी के सिर में सिंदूर देते समय रामचंद्रजी की शोभा अपूर्व थी।

"महर्षि वशिष्ठजी के मतानुसार मांडवी, श्रुतकीर्ति और उर्मिला का विवाह भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मण से कर दिया गया। दायज का तो कहना ही क्या था। एक से एक बढ़कर वस्तुएँ दी गईं। याचकों की भी पूरी चाँदी थी। महाराज जनक ने दशरथजी की भली भाँति पूजा की। तत्पश्चात् दशरथजी जनवासे को लौट आए।

"चारों कुमार अपनी अपनी वधुओं के साथ जनवासे आए। जनकपुर में आनंद से रहते हुए महाराज दशरथ को कई दिन बीत गए। एक दिन उन्होंने महाराज जनक से बिदा माँगी। विश्वामित्र और शतानंद के कहने पर जनक बिदा करने के लिये उद्यत हुए। बारात का जाना सुनकर सब जनकपुर-निवासी व्यथित हो गए। इधर चारों राजकुमार बिदा होने रनिवास गए। सीताजी को उनकी माता ने बहुत शिक्षा दी। फिर प्रेम से रानी और राजा ने उनको गले लगाया। अंत में सब राजकुमारों को बिदा किया।

"बारात के साथ साथ जनक कुछ दूर तक पहुँचाने गए। वे दशरथ, राम और महामुनि विश्वामित्र की वंदना करके लौट आए।

"बारात अयोध्या के निकट पहुँची, पुरवासियों को बड़ी प्रसन्नता हुई। सब लोगों ने अपनी दूकानें और अपने घर सुसज्जित किए। शुभ मुहूर्त में महर्षि वशिष्ठजी के आदेशानुसार शिवजी और गणेशजी का स्मरण कर महाराज दशरथ ने अयोध्या में प्रवेश किया।

"रानियों को असीम प्रसन्नता थी। उन्होंने विधि-पूर्वक परिछन की तैयारी की। पुरवासियों ने सब कुमारों की आरती की। वे लोग महल में सुंदर सुंदर आसनों पर बिठाए गए।

"सब कार्य विधि-पूर्वक पूर्ण किए गए। तत्पश्चात् विश्वामित्र महाराज दशरथ से बिदा हुए। सब लोग जहाँ-वहाँ राम-सीता-विवाह का अभूतपूर्व वर्णन करते थे।

"राम-सीता-विवाह के पश्चात् अयोध्या में प्रतिदिन आनंद बढ़ता गया।"

इन तीनों कथाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि काव्य की दृष्टि से गोस्वामीजी ने रामचरितमानस में जिन प्रसंगों का समावेश किया है, उनका 'जानकी-मंगल' में बहिष्कार किया गया है। उसमें परशुरामजी धनुष-भंग के ही बाद नहीं आते वरन् बारात के लौटते समय मिलते हैं। यही क्रम वाल्मीकि में भी है। 'जानकी-मंगल' में भी, वाल्मीकि-रामायण की भाँति, फुलवारी की योजना नहीं है। परंतु चरित्र-चित्रण गोस्वामीजी का निजी है। उनके उपास्यदेव के संपर्क में जो आता है वह गोस्वामीजी की ही भाँति भक्ति करता हुआ दिखाई देता है—

'रामहिं भाइन्ह सहित जबहिं मुनि जोहेउ।
नैन नीर, तनु पुलक, रूप मन मोहेउ॥'

विश्वामित्र का ऐसा स्वरूप वाल्मीकि में नहीं है। रामचंद्रजी के बाल-स्वरूप के वात्सल्यरस वाले क्रिया-कलाप जैसे 'जानकी-मंगल' में हैं वैसे अन्यत्र नहीं हैं। 'महि महिधरनि लषन कह बलहि बढ़ावन' अथवा 'दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला' आदि के सदृश प्रसंग 'वाल्मीकि' में नहीं हैं; और न,

'सियभ्राता के समय भैाम तहँ आयउ।
दुरीदुरा करि नेगु सुनात जनायउ॥'

की भाँति भैाम के आने का प्रसंग ही उसमें है। कदाचित् 'मानस' में भी यह प्रसंग नहीं है। इसके सिवा और भी कुछ रस्मों का वर्णन जानकी-मंगल में है; परंतु 'वाल्मीकि-रामायण' में नहीं है। जानकी-मंगल में सम-सामयिक प्रभाव काफी है।

राम के चरित्र-चित्रण में तो वाल्मीकि और गोस्वामी तुलसीदास एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं। गोस्वामीजी अपने उपास्यदेव को गुरु से पहले जगा देते हैं—

'गुर ते पहिलेहि जगतपति जागे रामु सुजान।'

और वाल्मीकिजी कहते हैं—

'कौशल्या सुप्रजा राम, पूर्वा संध्या प्रवर्तते।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल, कर्तव्यं दैवमाह्निकम्॥'
(वाल्मीकि-रामायण)

वाल्मीकि-रामायण में विश्वामित्र भक्त के रूप में अयोध्या नहीं जाते। ताड़का इतनी शीघ्रता से निहत नहीं होती। इसी प्रसंग में 'वाल्मीकि-रामायण' का विश्वामित्र-वर्णन यद्यपि वास्तव में है तो प्रशंसा के लिये परंतु वशिष्ठ-संघर्ष के कारण उसमें भद्दापन आ गया है और कुछ अप्रासंगिक सा जँचता है। गोस्वामीजी ने उसे बिल्कुल उड़ा दिया है। 'रामचरितमानस' की अहल्या पत्थर के रूप में सामने नहीं आती कि रामचंद्रजी चरणों से स्पर्श करें। वहाँ तो राम स्वयं उसके चरणों का स्पर्श करते हैं। राजाओं का सेना लाकर झगड़ना भी 'मानस' में नहीं है। मानस की 'बीरबिहीन मही मैं जानी' और 'जौं तुम्हार अनुसासन पावौं'— ये उक्तियाँ वाल्मीकि-रामायण में नहीं हैं और न उसमें दशरथ प्रतिदिन जनक से बारात बिदा करने का आग्रह ही करते हैं।

लक्ष्मण और परशुराम का ओजस्वी संवाद भी 'मानस' के रचयिता की ही उपज है।

पाठ-पुस्तक होने के कारण 'जानकी-मंगल' एक ओर कथा-विन्यास में तो 'वाल्मीकि-रामायण' का अनुसरण करती है और दूसरी ओर भक्तिभाव में 'मानस' का आदर्श भी सामने रखती है।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि 'पार्वती-मंगल' की भाँति 'जानकी-मंगल' भी एक खंड-काव्य है। प्रबंध-काव्य अथवा आख्यान-काव्य के अंतर्गत महाकाव्य के पश्चात् खंड-काव्य का ही स्थान है। इन दोनों का भेद अन्यत्र दिखाया जा चुका है। भारतीय साहित्य में प्रबंध-काव्य का जितना सम्मान रहा है उतना स्फुट छंदों का नहीं। स्फुट छंद में काव्य का सम्यक् स्फुरण वैसी विशदता के साथ नहीं हो पाता जैसी विशदता के साथ प्रबंध-काव्य में हो सकता है। उसमें रस की भी उतनी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। मार्मिक स्थलों की लड़ी में पात्रों का चरित्र, परिस्थियों के संघर्ष से निखरकर, और भी चमकने लगता है। हृदय कभी हर्ष से पुलकित होता है, कभी विषाद होता है; कभी उक्ति-वैचित्र्य से चित्त चमत्कृत होता है, कभी कथा-प्रवाह में प्रवहमान रहता है। यह संपूर्ण वातावरण स्फुट छंद में नहीं उपस्थित किया जा सकता। एक विशेष भावना को लेकर वह भावलोक के ऊँचे से ऊँचे प्रासाद में विचर सकता है परंतु उसमें हृदय का उतना स्थायी टिकाव नहीं है जितना कि प्रबंध की उत्तम रचना, गुंफन के उलझाव में है। यही कारण है कि प्रबंध-रचनाकार आख्यान-लेखकों का स्थान साहित्यिक क्षेत्र में स्फुट छंदों के रचयिताओं से ऊँचा माना गया है, यद्यपि ऐसा कहीं उल्लेख नहीं है।

भारतीय संस्कृत-साहित्य में, आरंभ से ही, बड़े बड़े कवियों की प्रेरणा प्रबंध-काव्य की ही ओर रही। महाभारत और रामायण

के लेखकों ने कहीं पृथक् स्फुट छंद नहीं लिखे। उदाहरणों के रूप में कुछ वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त पदों के अतिरिक्त संस्कृत की काव्य-निर्झरिणी अधिकतर आख्यान के ही रूप में निर्गत हुई। अश्वघोष, कालिदास, श्रीहर्ष, बाण, माघ, भवभूति, भारवि तथा दंडी आदि कवि, अपने आख्यान-काव्यों के ही कारण, प्रसिद्ध हैं। परवर्ती कवियों ने भी इन्हीं का अनुकरण किया। संस्कृत के जिस कवि ने केवल स्फुट छंदों की ही रचना की, कोई प्रबंध-काव्य नहीं लिखा, वह साहित्य में ऊँचे स्थान का अधिकारी नहीं हो सका। 'गीत-गोविंद' के लेखक ने रस से परिप्लुत गीतों की रचना अवश्य की—जिनकी प्रतिध्वनि को हिंदी के बहुत से स्फुट छंदों के रचयिताओं ने, विद्यापति के अनुकरण से, ग्रहण कर अपनी कोमल कांत-पदावली में उद्बोधित किया—परंतु वे स्वयं एक आख्यान-प्रधान रचना के निर्माता थे।

हिंदी में भी काव्य-परंपरा का प्रधान अंश आख्यान-काव्य ही रहा है। वीरगाथा-काल की सारी रचनाएँ इसी परिपाटी की पोषक हैं। स्फुट छंदों की संख्या कम है। कबीर का युग एक विशेष परिस्थिति का द्योतक है। स्वयं कबीर और उनके अनुयायी, अशिक्षित होने के कारण, प्रबंध-काव्य लिखने में नितांत असमर्थ थे; परंतु उनके परवर्ती कवि कुतबन, मंझन तथा जायसी ने उसे पुनर्जीवन प्रदान किया। इन मुसलमान कवियों की रचनाओं में आख्यान-काव्य विकास की सीमा तक पहुँचता हुआ दीख पड़ता है।

गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस परिपक्व और पूर्ण आख्यान-काव्य का बहुत अच्छा उदाहरण है। संस्कृत-साहित्य में भी उसकी समता का ग्रंथ कठिनता से मिलेगा। गोस्वामीजी ने और ग्रंथ भी लिखे जिनमें कुछ तो प्रबंध-काव्य हैं, कुछ में प्रबंधाभास है और कुछ स्फुट छंदों में हैं। प्राणचंद चौहान का रामायण

महानाटक भी प्रबंध-काव्य है। कृष्णभक्ति-धारावाले कवियों में प्रबंध-रचना की इतनी प्रेरणा दृष्टिगत नहीं होती। इसका कारण स्पष्ट है। वाल्मीकि-रामायण की भाँति उनके नायक का कोई सुंदर प्रबंध-काव्य संस्कृत में न था। भागवत में श्रीकृष्ण का केवल एकांगी चित्र है। उसमें स्फुट रचना की ओर कवि की प्रवृत्ति अधिक है। यही कारण है कि सूरदास तथा उनके अनुयायियों के प्रबंध-काव्य लिखने में सफलता नहीं मिली। सूरदास ने प्रबंध-काव्य के रूप में 'सूर-रामायण' लिखने का प्रयास किया परंतु वे असफल रहे। केशव की 'रामचंद्रिका' भी प्रबंध-काव्य लिखने का ही प्रयास मात्र है।

रीति-काल के कवियों को आचार्य बनने की धुन थी। उनकी कृतियों में स्फुट कविता का ही बाहुल्य है। उन्हें रीति-ग्रंथों का प्रणयन करना अधिक रुचिकर था। रीति-ग्रंथों में निरूपित अलंकारों आदि के उदाहरण-स्वरूप ही उन्होंने कविता की; अतः स्फुट छंदों का सहारा लेना उनके लिये स्वाभाविक ही था। बाद का रघुराजसिंह-कृत सीय-स्वयंवर प्रबंध-काव्य कहा जा सकता है। भारतेंदु हरिश्चंद्रजी की प्रवृत्ति नाटकों की ही ओर अधिक रही।

वर्तमान युग में संस्कृत तथा अन्य भाषाओं से अनुवादित कुछ प्रबंध-काव्यों की रचना हुई है। इनमें पं० रामचंद्र शुक्ल का 'बुद्ध-चरित' और बाबू मैथिलीशरण गुप्त का 'मेघनाद-वध' सर्वश्रेष्ठ हैं। बाबू जयशंकर 'प्रसाद' की प्रगति नाटक और कहानियाँ लिखने की ओर अधिक है। उनका 'मन्वंतर' अभी भविष्य के गर्भ में है। अन्य कवियों की प्रेरणा स्फुट छंदों की ही ओर है। अँगरेजी के संपर्क और कवि-सम्मेलनों के आधिक्य से इस वृत्ति को प्रोत्साहन मिल रहा है और प्रबंध-रचना का कार्य्य प्रायः गद्य में हो रहा है।

पं० अयोध्यासिंहजी उपाध्याय का 'प्रिय-प्रवास' एक अच्छा आख्यान-काव्य है, यद्यपि उसकी भाव-व्यंजना शब्दाडंबर के बोझ से दब सी गई है। स्वर्गीय बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर'-रचित 'गंगावतरण' व्रजभाषा का सर्वश्रेष्ठ छोटा-सा प्रबंध-काव्य है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' और 'यशोधरा' खड़ी बोली के श्रेष्ठ प्रबंध-काव्य हैं। एक प्रकार से गोस्वामीजी के 'मानस' के बाद, हिंदी में, 'साकेत' का ही स्थान है। लाल कवि का 'छत्र-प्रकाश' भी अच्छा है; परंतु उसमें नायक के प्रति वह भक्ति और अनुराग नहीं जो 'साकेत' में है। 'साकेत' का सा उत्तम काव्य लिखना सरल नहीं है। जिन स्थलों और पात्रों का चित्रण गोस्वामीजी की लेखनी से छूट गया था उन्हें भी गुप्तजी की मार्मिक पहुँच ने आलोकित कर दिया है। इसके सिवा गुप्तजी ने और भी आख्यान-काव्यों की रचना की है, जो अच्छे और सुंदर हैं। इधर उनके 'जयद्रथ-वध' की प्रतिध्वनि पर कविवर 'सरस' ने 'अभिमन्यु-वध' लिखा है। यह कवित्तों में रचा गया है। वाग्वैदग्ध्य और अलंकारों का सामंजस्य इसमें अच्छा है। 'भरत-भक्ति' में भी प्रबंधाभास है।

प्रबंध-काव्य के लेखक को बहुत सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उससे यदि तनिक भी असावधानी हुई तो सारा काव्य नीरस और भद्दा हो जाता है। उसे पहले कथा के सम्यक् विकास का अत्यंत आकर्षक निरूपण करना पड़ता है। केवल विषय की उच्चता सब कुछ नहीं है। कम से कम वर्तमान युग ऐसा सीधा-सादा नहीं कि वह केवल इतने से संतोष कर ले कि राम अथवा कृष्ण की गाथा गाई गई है। आजकल लोग किसी रूढ़ि की ओर ध्यान न देकर आरंभ की असाधारणता, मध्य की जटिलता और अंत की विचित्रता से ही प्रभावित होते हैं। आजकल के समालोचक यही देखते हैं कि कवि ने किस सुंदरता के साथ, असा-

धारण ढंग से, कथा का विस्तार कराया है और उसकी पूर्णता में तनिक भी व्याघात नहीं पड़ने पाया। उन्हें न तो 'चंद्रकांता' का जासूसीपन रुचिकर है और न 'जयद्रथ-वध' की सरलता।

कथा-विकास में वही कवि सफल माना जायगा जो चुन चुन-कर ऐसे मार्मिक स्थल सामने लावे जिनमें रागात्मिका वृत्ति लीन हो जाय और जिनकी भावपूर्ण अभिव्यक्ति से आनंद का पूर्ण उद्रेक हो। साथ ही वह ऐसी परिस्थितियों को हाथ से न जाने दे जिनके समागम से पात्रों का चरित्र, अपनी अपनी दिशा की ओर, निखर सके। गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस इस दृष्टि से बहुत अच्छा ग्रंथ है।

पात्रों के प्रकृत स्वरूप का निश्चय किए बिना कथा-प्रवाह में यदि उन्हें किसी विशेष घुमाव में डालने का प्रयत्न किया जायगा तो काव्य में कृत्रिमता आ जायगी। इसके विपरीत, यदि यह स्थिर कर लिया गया है कि पात्र को किस परिस्थिति का आदर्श बनाना है और जीवन के कौन से चित्र पर उसका आलोक प्राप्त करना है तो कार्य निस्संदेह सुगम हो सकता है। कथोपकथन में व्यापकता और चुस्ती रहनी चाहिए। केशवदास की 'रामचंद्रिका' और गुप्तजी के 'साकेत' में इसके अच्छे उदाहरण विद्यमान हैं।

प्रबंध-काव्य के लेखक के सामने एक कठिनता और रहती है। वह यह कि उसे अनिवार्य रूप से इतिवृत्तात्मक वर्णनों का समा-वेश करना पड़ता है। केवल रसात्मक वर्णन के भरोसे कथा सर्वत्र आगे नहीं बढ़ाई जा सकती, और यह संभव भी नहीं कि किसी बड़े ग्रंथ की प्रत्येक पंक्ति रस से ओत-प्रोत हो। कवि की सफलता इसी में है कि वह इन इतिवृत्तात्मक वर्णनों की अवतारणा इस कुश-लता के साथ करे जिसमें पाठक 'रस' की ही लपेट में इन्हें पढ़

जाय। दो रसात्मक प्रसंगों के बीच में ऐसे स्थलों को सन्निविष्ट कर देना कलाकार का काम है। जितने समय तक पूर्व-पठित रसात्मक प्रसंग का प्रभाव मन पर जमा रहे उतने ही बीच में पाठक इस इतिवृत्तात्मक स्थल को लाँघ जाय और सँभलते सँभलते दूसरे रसात्मक प्रसंग पर पहुँच जाय। ये नीरस स्थल यदि आवश्यकता से अधिक लंबे हुए तो काव्य दूषित हो जाता है। अनेक प्राचीन लेखकों ने, अपना पांडित्य प्रदर्शित करने के उद्देश से, अपने प्रबंध-काव्यों में बहुत से नीरस स्थलों की भरमार कर दी है, जिससे कविता की गति मंद पड़कर लुप्तप्राय हो गई है। कुछ लेखकों में अपने दार्शनिक भावों को आवश्यकता से अधिक विस्तार देने का स्वभाव पड़ गया है, इस कारण उनकी कृतियों में प्रबंध संबंधी दोष आ गए हैं। बाबू जयशंकर 'प्रसाद' के नाटकों में यह वृत्ति बहुधा देखने में आती है। कुछ दूसरे लेखकों में देशानुराग के साथ साथ समाज-सुधार की भावना इतनी बलवती होती है कि वे स्थान स्थान पर रुककर इसके संबंध में कुछ न कुछ कहना चाहते हैं। यह व्यापार जब सीमा का अतिक्रमण कर जाता है और कवि में उपदेशक की झलक दीखने लगती है तब उसका काव्य अपने वास्तविक आसन से च्युत हो जाता है। बाबू मैथिलीशरण गुप्त की रचनाएँ कभी कभी इस दुर्बलता से आक्रांत हो जाती हैं। स्वयं गोस्वामीजी भी इस दोष से बचे नहीं हैं। राम में देवत्व की स्थापना के पीछे वे इतना अधिक पड़े रहते हैं कि बहुधा कथा-प्रवाह को रोककर इस विषय में कुछ न कुछ कह बैठते हैं। सारांश यह कि कवि को केवल यही नहीं सोचना है कि उसे क्या कहना है वरन् यह भी विचार करना है कि क्या न कहना चाहिए। कवि जिस प्रकार अपने हृदय-तत्त्व के गुह्य से गुह्य स्थान को उकसाकर ज्वालामुखी का विस्फोट उत्पन्न करता है उसी प्रकार वह अपने दूसरे सजीव ज्वाला-

मुखी पर तवा भी रखता है। भुलाव की मस्ती में सजगता की चेतना का मूल्य बहुत अधिक है। कवि को भूला हुआ सजग रहना चाहिए और सजग होकर भूलना चाहिए।

एक और बात भी ध्यान देने की है। संसार में बहते हुए 'रस' को जैसे का तैसा समेटकर रख देना ही काव्य नहीं है। वैसे तो करुणरस की निष्पत्ति क्रंदन करती हुई किसी विधवा से अधिक कदाचित् ही कहीं मिले। उसके पति का मृत-शरीर निकट पड़ा है। वह छाती पीट रही है और अपने केश नोच नोचकर भाग्य को कोस रही है। आलंबन-उद्दीपन तथा भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव सब उपस्थित हैं। यदि चित्र-कला द्वारा यह सब दृश्य अंकित कर दिया जाय अथवा ग्रामोफ़ोन द्वारा विधवा का सारा रोना-कराहना ग्रहण कर लिया जाय तो भी इन दोनों कलाओं का प्रदर्शन काव्य न हो सकेगा। हम प्रतिदिन ऐसी घटनाएँ देखते और ऐसे रुदन सुनते हैं; परंतु उनसे काव्य का सा संतोष नहीं प्राप्त होता। कोई युद्ध देखकर अथवा दो व्यक्तियों को परस्पर गालियाँ देकर लड़ते देखकर हम नहीं कह सकते कि हमें रौद्ररस-विषयक काव्य का आनंद आता है। ये घटनाएँ अथवा गालियाँ ज्यों की त्यों लिख देने से रौद्ररस की कविता भी नहीं बन जाती। इन बाह्य स्वरूपों को काट-छाँटकर उपयोगी और अनुपयोगी का वर्गीकरण तथा नए तथ्यों को ऊपर से मिलाना ही वास्तव में काव्य-कला है, जिसका संबंध वास्तविक तथ्य से है भी और नहीं भी है। प्रबंध-काव्य के लेखक को, नैसर्गिक परिस्थिति तथा घटनाओं का वर्णन करते समय, इस वृत्ति को ध्यान-पथ से दूर न करना चाहिए।

'जानकी-मंगल' कोई बड़ा काव्य-ग्रंथ नहीं है। गोस्वामीजी ने उसे तो केवल 'मानस' से संकलित करके, दूसरे छंद में, पृथक् रूप में दैनिक पाठ के लिये रखा है। उसमें जो प्रबंध-दोष आ

गए हैं उनकी ओर भी पाठकों का ध्यान हम आकृष्ट करना चाहते हैं। यों तो सारी कथा ऐसी संक्षिप्त कर दी गई है कि उसने केवल वर्णनात्मक इतिवृत्ति का रूप धारण कर लिया है; परंतु ऐसे स्थलों की भी उपेक्षा की गई है जहाँ कोई सहृदय कवि बहुत कुछ कह सकता है। कहीं कहीं कथा बिल्कुल उखड़ी हुई दीख पड़ती है। जानकीजी की प्रशंसा एक-दो छंदों में समाप्त कर गोस्वामीजी सहसा जानकीजी और उनके स्वयंवर की चर्चा करने लगते हैं। नीचे जो तीन छंद उद्धृत किए जाते हैं उनसे स्पष्ट विदित हो जायगा कि गोस्वामीजी इस ग्रंथ को काव्य का स्वरूप देने के उतने उत्सुक न थे जितने पाठोपयोगी बनाने के। इन तीन छंदों में कितनी बातों को संक्षिप्त कर दिया गया है—

'जनक नाम तेहि नगर बसै नरनायक।
सब गुनअवधि, न दूसर पटतर लायक॥
भयउ न होइहि, है न, जनक सम नरवइ।
सीय सुता भै जासु सकल मंगलमइ॥
नृप लखि कुँवरि सयानि बोलि गुरु परिजन।
करि मत रचेउ स्वयंबर सिवधनु धरि पन॥'

इसी प्रकार गोस्वामीजी एक ओर कथा को कहाँ तक पहुँचा देते हैं, देखिए—

'गान निसान कोलाहल कौतुक जहँ तहँ।
सीय-बिआह-उछाह जाइ कहि का पहँ॥'

और दूसरी ओर विश्वामित्र को अयोध्यापुरी पहुँचाते हैं—

'गाधिसुवन तेहि अवसर अवध सिधायहु।'

रामचरितमानस में यह बात नहीं आने पाई। शीघ्रता-पूर्वक कथा को आगे बढ़ाने की प्रवृत्ति के कारण भाव-व्यंजना कहीं भी ऊँची नहीं

हो पाई। किसी भी रस का सम्यक् स्फुरण नहीं हो सका। कदाचित् गोस्वामीजी का यह ध्यान सर्वत्र रहा है कि कथा-विस्तार एक घंटे के पाठ से अधिक न होने पावे। 'रामचरितमानस' के शब्द के शब्द, वाक्य के वाक्य इसमें ज्यों के त्यों रख दिए गए हैं। कथा का धार्मिक स्वरूप अक्षुण्ण रखने के कारण गोस्वामीजी की काव्य-कला ने ग्रंथ में कोई परिवर्तन नहीं किया।

संक्षिप्त करने की प्रवृत्ति ग्रंथ में सर्वत्र दिखाई देती है। उदाहरणार्थ कुछ छंद नीचे दिए जाते हैं—

'बधी ताड़का; राम जानि सब लायक।
बिद्या-मंत्र-रहस्य दिए मुनिनायक॥
× × × ×
बानु बानु जिमि गयउ, गवहिं दसकंधरु।
को अवनीतल इन्ह सम बीरधुरंधरु॥'

जानकी-मंगल का कथा-प्रसंग, किंचित् हेर-फेर के साथ, रामाज्ञा-प्रश्न के क्रम से मिलता है; परंतु इससे इसके रचना-काल के विषय में कोई भ्रमात्मक सिद्धांत स्थिर करना बुद्धिमत्ता का काम नहीं है। संक्षिप्त होने के कारण ही इस ग्रंथ में फुलवारी का वर्णन नहीं आया है। पाठोपयोगी ग्रंथ में शृंगारिक वर्णन अधिक शोभा भी नहीं देता। जनक का यह कथन—

'अब जनि कोउ माखै भट मानी।
बीर बिहीन मही मैं जानी॥'

अथवा लक्ष्मण का दर्पपूर्ण उत्तर ग्रंथ के संक्षेप करने की प्रवृत्ति के कारण ही निकाल दिया गया है। परशुराम के आने का क्रम तो 'गीतावली' और 'कवितावली' में भी इसी प्रकार है।

सारांश यह कि 'जानकी-मंगल' में प्रबंध-दोष विद्यमान हैं। जब यह ग्रंथ कविता की दृष्टि से लिखा ही नहीं गया, केवल पाठ

के लिये लिखा गया है, तब कविता के उच्च सिद्धांतों की दृष्टि से इसकी समीक्षा करना अनावश्यक है। परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि इस ग्रंथ में काव्य-गत सौंदर्य है ही नहीं।

यद्यपि 'जानकी-मंगल' गोस्वामीजी की उत्कृष्ट कृति नहीं है तथापि इसमें भी कई अच्छे अच्छे स्थल हैं जिनमें गोस्वामीजी की प्रतिभा झाँकती हुई दिखाई देती है। नीचे दिए हुए पद में 'एक' शब्द की पुनरावृत्ति से, और उसे तीन विभिन्न क्रियाओं में गूँथकर, भीड़ का कैसा सुंदर चित्र सामने खड़ा किया गया है—

'एक चलहिँ, एक बीच, एक पुर पैठहिँ।'

इसी प्रकार लोकोक्ति के नगीने से जड़ी निम्नलिखित उक्ति कितनी स्वाभाविक हुई है—

'ईस मनाइ असीसहिँ जय जस पावहु।
न्हात खसै जनि बार, गहरु जनि लावहु॥'

बालभाव का जैसा अनूठा चित्र नीचे की पंक्तियों में दिखाई देता है वैसा 'रामचरितमानस' में भी कहीं नहीं दीखता। हाँ, 'गीतावली' में इस प्रकार के छंद निस्संदेह मिलेंगे।—

'गिरि तरु बेलि सरित सर बिपुल बिलोकहिँ।
धावहिँ बाल सुभाय, बिहँग मृग रोकहिँ॥
सकुचहिँ मुनिहि सभीत बहुरि फिरि आवहिँ।
तोरि फूल फल किसलय माल बनावहिँ॥'

अलंकार की सहायता से यह उक्ति भी कितनी सुंदर बन गई है—

'देखि मनोहर मूरति मन अनुरागेउ।
बँधेउ सनेह बिदेह, बिराग बिरागेउ॥'

इसमें 'वि' उपसर्ग संवर्धनात्मक और निषेधात्मक दोनों अर्थों में प्रयुक्त है। नीचे के पद की, अनुप्रास के छींटों से आर्द्र रूपक

की पीठ पर बैठी हुई, उक्ति भी सुंदर ही कही जायगी। भाव का कितना सुंदर विश्लेषण है—

'नृप रानी पुरलोग रामतन चितवहिँ।
मंजु मनोरथ-कलस भरहिँ अरु रितवहिँ॥'

इसी प्रकार, कातर प्रेमी, विरह-प्रवाह में बहता हुआ, शकुनों की प्राचीन रूढ़ि में किस प्रकार उलझकर रह जाता है, इसकी अनूठी अभिव्यंजना के दर्शन करना हो तो सीताजी की मानसिक दुर्बलता का चित्र देखिए—

'होति विरह-सर-मगन देखि रघुनाथहिँ।
फरकि बाम भुज नयन देहिँ जनु हाथहिँ॥'

'जानकी-मंगल' यद्यपि अलंकार-प्रधान ग्रंथ नहीं है, तथापि इस ग्रंथ में, स्थान स्थान पर, अलंकारों की योजना की गई है। पहले ही छंद में अनुप्रास की छटा है। 'सीय लच्छि जहँ प्रगटी सब सुखसागर' में रूपक स्पष्ट है। अलंकारों के कुछ उदाहरण और लीजिए—

'रूप सील बय बंस बिरुद बल दल भले।
मनहुँ पुरंदरनिकर उतरि अवनी चले॥'
'हित मुदित, अनहित रुदित मुख, छबि कहत कबि धनुजाग की।
जनु भोर चक्क चकोर कैरव सघन कमल तड़ाग की॥'
(वस्तूत्प्रेक्षा)

'दानव देव निसाचर किन्नर अहिगन।
सुनि धरि धरि नृपबेष चले प्रमुदितमन॥'
(पुनरुक्तवदाभास)

'कौसिक दीन्हि असीस सकल प्रमुदित भईं।
सींची मनहुँ सुधारस कलपलता नई॥'
(क्रियोत्प्रेक्षा)

'तीनि लोक अवलोकहिँ नहिँ उपमा कोउ।
दसरथ जनक समान जनक दसरथ दोउ॥'
(अनन्योपमा)

अलंकारों के अधिक उदाहरण देकर पुस्तक का कलेवर बढ़ाना हमें अभीष्ट नहीं, अतः उनका प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है।

गोस्वामीजी 'वेद' शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक रूप में करते हैं, जिससे उसका अर्थ केवल ऋक्, साम, यजुः या अथर्व तक ही सीमित नहीं रहता। उनका 'वेद' वही है जिसमें सारे धार्मिक और नैतिक सिद्धांतों का विवेचन हो।

'देस सुहावन पावन बेद बखानिय।'

में भी 'वेद' किसी वेद-विशेष के लिये प्रयुक्त नहीं है। उनके और और ग्रंथों में भी इसी प्रकार के उदाहरण मिलेंगे।

'भयउ न होइहि, है न, जनक सम नरवइ।'

ऊपर के पद में 'नरवइ' शब्द विचारणीय है। यह 'नरवर' शब्द का ठेठ अपभ्रंश रूप है। गोस्वामीजी की उक्तियों में ऐसे प्रयोग अन्यत्र भी दृष्टिगत होते हैं। अन्य ग्रंथों की भाँति 'जानकी-मंगल' में भी दो-एक स्थान पर गोस्वामीजी ने राम में देवत्व की स्थापना करने का प्रयत्न किया है; जैसे—

'सुनत स्रवन हिय बसहिँ सीय-रघुनायक'।

× × ×

अंतरजामी राम मरम सब जानेउ।
धनु चढ़ाइ कौतुकहिँ कान लगि तानेउ॥'

वैवाहिक रीतियों का वर्णन भी बहुत संक्षिप्त रूप में आया है। १६०-१६७ छंदों तक इनका चर्चा हुई है*। कुछ रस्मों का उल्लेख १२७-१२८ और १२६ छंदों में भी किया गया है†।

---

* लै लै नाउँ सुआसिनि मंगल गावहिँ।
कुँवर कुँवरि हित गनपति गौरि पुजावहि ॥ १६० ॥

अगिनि थापि मिथिलेस कुसोदक लीन्हेउ।
कन्यादान बिधान संकलप कीन्हेउ ॥ १६१ ॥

संकल्पि सिय रामहिँ समर्पी सील सुख सोभामई।
जिमि संकरहि गिरिराज गिरिजा, हरिहि श्री सागर दई।
सिंदूरबंदन होम लावा होन लागीं भाँवरी।
सिलपोहनी करि मोहनी मन हर्‍यौ मूरति साँवरी ॥ १६२ ॥

यहि बिधि भयो बिबाह उछाह तिहूँ पुर।
देहि असीस मुनीस सुमन बरषहि सुर ॥ १६३ ॥

मनभावत बिधि कीन्ह, मुदित भामिनि भईँ।
बर दुलहिनिहि लेवाइ सखी कोहबर गईँ ॥ १६४ ॥

निरखि निछावरि करहिँ बसन मनि छिनु छिनु।
जाइ न बरनि बिनोद मोदमय सो दिनु ॥ १६५ ॥

सियभ्राता के समय भोम तहँ आयउ।
दुरीदुरा करि नेगु सुनात जनायउ ॥ १६६ ॥

चतुर नारिबर कुँवरिहि रीति सिखावहिँ।
देहिँ गारि लहकौरि समौ सुख पावहिँ ॥ १६७ ॥

† गुनिगन बोलि कहेउ नृप माँड़व छावन।
गावहिँ गीत सुवासिनि, बाज बधावन ॥ १२७ ॥

सीय-राम-हित पूजहिँ गौरि गनेसहि।
परिजन पुरजन सहित प्रमोद नरेसहि ॥ १२८ ॥

प्रथम हरदि बेदन करि मंगल गावहिँ।
करि कुलरीति, कलस थपि तेलु चढ़ावहिँ ॥ १२६ ॥

गोस्वामीजी ने वैसे तो मर्यादा का पालन करना अपना परम कर्तव्य समझा है; परंतु नीचे के दो छंदों में उन्होंने लक्ष्मण की चर्चा न मालूम क्यों राम से पहले कर दी है—

"केहि सुकृती के कुँवर" कहिय मुनिनायक।
गौर स्याम छबिधाम धरे धनुसायक॥
काकपच्छ सिर, सुभग सरोरुहलोचन।
गौर स्याम सत-कोटि-काम-मद-मोचन॥

यह असावधानी कदाचित् शीघ्रता के कारण हो गई है; क्योंकि 'गौर' और 'स्याम' शब्दों का क्रम बदल देने पर भी उद्धृत पद्य में 'छंदोभंग' दोष नहीं आता।

'जानकी-मंगल' में, एक स्थान पर, लिखा है—

'राम दीख जब सीय, सीय रघुनायक।
दोउ तन तकि तकि मयन सुधारत सायक॥'

इन पंक्तियों में गोस्वामीजी ने राम और सीता का परस्पर प्रेमानुभव बतलाया है। उसमें किंचित् अधीरता और व्याकुलता लाने के यत्न में उन्होंने कामदेव द्वारा 'सायक सुधारने' की चर्चा कर दी है। 'मयन' के समावेश से प्रेमलोक का उज्ज्वल आलोक मंद पड़ जाता है। अपने उपास्यदेव और अपनी उपास्यदेवी के संबंध में गोस्वामीजी ने ऐसी भावना बहुत कुछ व्यक्त की है। परंतु कामदेव को अश्लील देव क्यों समझा जाता है। इस प्रसंग को अश्लील समझना आलोचक में बुद्धि की कमी प्रदर्शित करता है। फुलवारी के समावेश से 'मानस' में इस प्रसंग को विस्तार मिल चुका है। यहाँ, संक्षिप्त रूप देने के कारण, केवल एक पद में उक्त भावना की झलक भर दिखला दी गई है। 'रामचरितमानस' में भी जब रामचंद्रजी 'सहज पुनीत मोर मन

छोभा' कहते हैं तब वे अपने मन की सहज 'पुनीतता' में कुछ 'अपुनीतता' अवश्य देखते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों को लेकर एक दूसरा आक्षेप अवश्य किया जा सकता है। वह यह कि, वाल्मीकि-रामायण के अनुसार, विवाह के समय सीताजी की आयु छः वर्ष से अधिक नहीं हो सकती और रामचंद्रजी की आयु भी पंद्रह वर्ष की थी। फिर ऐसे वय के वर-वधू 'मयन' के आखेट क्योंकर हो सकते हैं? ग्रामीण स्त्रियों के पूछने पर सीताजी ने, एक स्थल पर, कहा है—

'मम भर्ता महातेजा वयसा सप्तविंशतिः
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्म निगद्यते ॥'

इससे यह तो सिद्ध ही है कि वन में भ्रमण करते समय रामचंद्र और सीता की आयु क्रमशः २७ और १८ वर्ष की थी। विवाह के अनंतर दंपति ने अयोध्या में बारह वर्ष तक सुखपूर्वक निवास किया था और तब वनवास का आयोजन हुआ था—'उषित्वा द्वादशवर्षाणि इक्ष्वाकूणां निवेशने'। इस प्रकार रामचंद्र और सीता की आयु ऊपर लिखे अनुसार ही ठहरती है। इस अवस्था में 'मयन के सायक' का प्रयोग अप्रासंगिक और व्यर्थ है।

किंतु कुछ लोगों का कथन है कि वाल्मीकि-रामायण के उपर्युक्त श्लोक 'प्रक्षिप्त' हैं। मुसलमानी शासन के बाद, बाल-विवाह का प्रतिपादन करने के उद्देश से, उनका समावेश रामायण में हुआ है। 'अष्टवर्षा भवेद्गौरी' की पुष्टि के लिये ही यह बखेड़ा उठाया गया है। इस आक्षेप का कोई प्रामाणिक उत्तर नहीं दिया जा सकता। जो हो, सीताजी की आयु में वृद्धि करके महाकवि तुलसीदासजी ने प्रेम की अभिव्यक्ति के लिये उत्तम व्यवस्था कर दी जो न केवल समीचीन है प्रत्युत उपयुक्त भी।

पहले कहा जा चुका है कि 'जानकी-मंगल' में किसी भी पात्र का चित्र पूर्णता तक नहीं पहुँच सका है। परंतु किसी पात्र के विषय में जो कुछ भी धारणा बँधती है उसका उल्लेख किया जाता है।

सीता

प्रातःस्मरणीया सीताजी मिथिला-नरेश महाराज जनक की कन्या थीं। उनका चरित्र मातृत्व का भांडार, अलौकिक गुणों का आगार और उच्च आदर्शों का पुंज है। आर्य-ललना में जितने गुणों की उपस्थिति आवश्यक है—जितने गुणों से कोई स्त्री आदर्श नारी बन सकती है—उन सब का एकत्र समवाय जानकीजी के व्यक्तित्व में दृष्टिगत होता है। वे आदर्श पिता की आदर्श पुत्री हैं; लक्ष्मी का अवतार हैं—

'सीय लच्छि जहँ प्रगटी सब सुखसागर।'

× × ×

'सीय सुता भै जासु सकल मंगलमइ।'

हम 'जानकी-मंगल' में सीताजी को कन्या के रूप में देखते हैं। वे विवाह के योग्य हैं। रामचंद्र भी युवा हैं। प्रेम से प्रभावित होने पर भी सीताजी में छिछोरापन नहीं है। उनका प्रेम शांत और गंभीर है। यद्यपि वे राम पर आसक्त हैं तथापि अपनी प्रीति किसी पर प्रकट नहीं होने देतीं। धनुष के समीप रामचंद्रजी के पहुँचते ही उनका मन कंपायमान हो उठता है, हृदय आंदोलित होने लगता है और चित्त विश्वास-अविश्वास, सफलता-असफलता तथा संयोग-वियोग के अगाध सागर में डूबता-उतराता है—

'कहि न सकति कछु सकुचनि, सिय हिय सोचइ।
गौरि गनेस गिरीसहि, सुमिरि सकोचइ॥
होति बिरह-सर-मगन देखि रघुनाथहि।
फरकि बाम भुज नयन देहिँ जनु हाथहिँ॥
धीरज धरति, सगुन बल रहत सो नाहिँन।
बर किसोर धनु घोर दइउ नहिँ दाहिन॥'

सीताजी की अंतर्वेदना कितनी प्रज्ज्वलित है! पर वे असाधारण धैर्य से उसे छिपाती हैं और मन ही मन संपूर्ण देवताओं का आवाहन कर रही हैं कि राम धनुष तोड़ने में सफल हों।

राम के धनुष तोड़ने पर सीताजी अत्यंत प्रसन्न हुईं; पर उन्होंने अपने उमड़ते हुए प्रेम को धैर्यपूर्वक रोका। वे सखियों को लेकर रामचंद्रजी के गले में जयमाला डालने जाती हैं। किंतु इस समय भी वे उनकी ओर भरपूर दृष्टि नहीं डालतीं। यह स्नेह की शिथिलता नहीं, दृढ़ता है और है प्रेम की परिपक्वता का चिह्न, क्योंकि प्रेम-वेलि धीरे धीरे बढ़ती है—

'सीय सनेह-सकुच-बस पियतन हेरइ'

सीताजी का कार्य स्वयंवर में ही समाप्त हो जाता है। आगे के संस्कारों में न तो उनका मुख्य भाग है और न उनके चरित्र का विशेष रूप ही विकसित होता है। पर स्वयंवर में ही पाठक को उनकी असाधारण योग्यता, धीरता और गंभीरता का परिचय मिल जाता है। सच पूछिए तो परीक्षा का महत्त्वपूर्ण समय यही है और हम कह सकते हैं कि इस विवाह-परीक्षा में वे पूर्णतया उत्तीर्ण हो गई हैं। 'जानकी-मंगल' की सीता में 'मानस' की 'पियतन चितै भौंह करि बाँकी' वाली प्रतिभा का नितांत अभाव है।

विश्वामित्र

'जानकी-मंगल' में विश्वामित्र का भाग भी मुख्य है। राम-लक्ष्मण को सीता-स्वयंवर में वही ले जाते हैं। ये तपोनिधि ऋषि वन में रहकर तपश्चर्या करते थे। राक्षसों से यज्ञ की रक्षा करने के लिये ये राजा दशरथ से राम-लक्ष्मण को माँग लाए और उनके द्वारा उपद्रवी दैत्यों का निधन कराकर दोनों राजकुमारों को जनक-पुर ले गए।

विश्वामित्र की तपस्या खूब बढ़ी-चढ़ी थी। बड़े बड़े नरपति तक इनका आदर करते थे। इनके तप का महत्त्व निम्न-लिखित पंक्ति से प्रकट होता है—

'तुम्ह प्रभु पूरनकाम, चारि-फल-दायक'

जनकपुर में महाराज जनक द्वारा भी ये ऋषि समादृत होते हैं।

विश्वामित्र त्रिकालदर्शी थे। जनकपुर की स्त्रियाँ यही समझ-कर धैर्य धारण करती हैं कि तीनों काल की बात जाननेवाले विश्वा-मित्र राम की शक्ति को जाने बिना उन्हें यहाँ नहीं ला सकते—

'तीनि काल कर ज्ञान कौसिकहि करतल।
सो कि स्वयंवर आनहि बालक बिनु बल ?'

स्वयंवर में जब विश्वामित्र ने जनक से राम को धनुष देने के लिये कहा तब जनक बोले—

'मुनिबर तुम्हरे बचन मेरु महि डोलहि।'

इससे भी उनके महान् गौरव का पता लगता है।

अंत में, राम के धनुष तोड़ने पर, सीता का व्याह उनसे हुआ। विवाह में विश्वामित्र और वशिष्ठ ने, महाराज दशरथ की ओर से, पुरोहित का काम किया। सब संस्कार विधिवत् संपन्न हुए। जनक द्वारा पूजित होकर विश्वामित्र अत्यंत प्रसन्नता के साथ अपने

आश्रम को लौटे। विश्वामित्र के चरित्र की अवतारणा गोस्वामीजी की निजी है।

जनक

राजर्षि जनक मिथिला के अधिपति थे। वे महान् विरागी थे, इसी से उन्हें 'विदेह' भी कहा जाता है। उनमें हमें एक आदर्श नरपति की प्रतिकृति दीख पड़ती है। निस्संदेह वे सर्वगुणसंपन्न और राजाओं में अद्वितीय हैं—

> 'जनक नाम तेहि नगर बसै नरनायक।
> सब गुनअवधि, न दूसर पटतर लायक॥
> भयउ न होइहि, है न, जनक सम नरवइ।'

'जानकी-मंगल' में महाराज जनक मुख्यतः एक पिता और राजा के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। वीतराग होने पर भी उनका हृदय प्रेम से शून्य नहीं है। राम-लक्ष्मण का मनोहर रूप देखने पर उनका विराग भी भाग जाता है और वे कहते हैं—

> "विषयविमुख मन मोर सेइ परमारथ।
> इन्हहिं देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ॥"

उस समय उनकी आंतरिक इच्छा होती है कि सीता का विवाह राम के ही साथ हो। प्रेमातिरेक के कारण वे अपने प्रण पर स्वयं पश्चात्ताप करने लगते हैं—

> 'समुझि कठिन पन आपन लाग बिसूरन।'

किंतु इतने आनंद-मग्न होने पर भी जनक, मर्यादा का उल्लंघन न कर, सामयिक व्यवहारों का तत्परता-पूर्वक पालन करते हैं। विश्वामित्र का आगमन सुनकर वे मन्त्रियों समेत उनका स्वागत

करने के लिये अग्रसर होते हैं। उनकी धीरता भी कम श्लाघ्य नहीं है। स्वयंवर में यह जानकर कि धनुष किसी से भी नहीं टूटता वे धैर्य का परित्याग नहीं करते; प्रत्युत उन्हें यह विश्वास बना रहता है कि रामचंद्रजी धनुष को अवश्य तोड़ेंगे।

धनुष टूटने पर जनक ने, प्रसन्न चित्त से, अयोध्या को संदेश भिजवाया। वहाँ से बारात आने पर राम और सीता का विधिवत् विवाह हुआ। जनक ने बारातियों का खूब आदर-सत्कार किया और सबको अवस्थानुकूल सम्मानित किया—

> 'तब जनक सहित समाज राजहि उचित रुचिरासन दए।
> कौसिक वसिष्ठहि पूजि पूजे राउ दै अंबर नए॥'

इतना सब करके भी जनक अत्यंत नम्र और दीन बने रहे, जैसा कि कन्या के पिता का धर्म माना जाता है। बारात बिदा होते समय वे, हाथ जोड़कर, महाराज दशरथ से कहते हैं—

> 'कहेउ जनक कर जोरि "कीन्ह मोहि आपन।
> रघु-कुल-तिलक सदा तुम्ह उथपनथापन॥
> बिलग न मानब मोर जो बोलि पठायउँ।
> प्रभुप्रसाद जस जाति सकल सुख पायउँ" ॥'

तदनंतर वे वशिष्ठ विश्वामित्र आदि के चरणों की भी वंदना करते हैं। जिस समय विरक्त जनक प्रेम-विह्वल हो रामचंद्रजी से कहते हैं—

> 'कृपासिंधु सुखसिंधु सुजान-सिरोमनि।
> तात! समय सुधि करबि छोह छाँड़ब जनि॥'

उस समय उनमें कितना आश्चर्यजनक परिवर्तन हो जाता है। निस्संदेह इस अवसर पर वे प्रेम से ओत-प्रोत हो जाते हैं।

राम

'जानकी-मंगल' में यद्यपि राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न चारों भाइयों के विवाह की कथा है तथापि रामचंद्रजी द्वारा धनुष-भंग और सीता से उनके विवाह की कथा ही मुख्य है। अन्य तीनों भाइयों के परिणय की बात तो यों ही, प्रसंगवश, लिख दी गई है। 'जानकी-मंगल' में हमें मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् रामचंद्र पूर्ण मनुष्य के रूप में दृष्टिगत नहीं होते। उनके गुणों का सम्यक् विकास नहीं हो पाया है। अतएव उनके, 'जानकी-मंगल' में वर्णित, कुछ क्रिया-कलाप से ही हमें उनके चरित्र का निरूपण करना पड़ेगा। उनकी बाल-क्रीड़ाएँ उनके भावी पूर्ण पुरुषत्व की परिचायक हैं।

मर्यादित आचरण रामचंद्रजी के चरित्र की विशेषता है। जब तपोधन विश्वामित्र राजा दशरथ के पास राम-लक्ष्मण को माँगने आते हैं तब रामचंद्रजी उन्हें यथाविध दंड-प्रणाम करते हैं। ऋषि के साथ वन जाते समय भी वे अपने माता-पिता के चरण छूना नहीं भूलते। इतने अधिक व्यवहार-पटु होने पर भी रामचंद्रजी का बालसुलभ चापल्य अभी दूर नहीं हुआ है। ऋषि के साथ जाते हुए वे मार्ग में नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं, जैसा कि पहले उद्धृत की हुई पंक्तियों से प्रकट होता है। बाल-सुलभ क्रीड़ाओं के साथ साथ उन्होंने गौतम-पत्नी अहल्या का शाप-मोचन तथा सुबाहु, ताड़का आदि का वध आदि पुरुषार्थ पूर्ण एवं अलौकिक कार्य भी किया है।

तदनंतर राम, विश्वामित्र और लक्ष्मण समेत, सीता-स्वयंवर में गए। वहाँ उनका अनुपम सौंदर्य देखकर जनक का 'विषय-विमुख' मन भी 'मगन' हो गया। राम-लक्ष्मण का परिचय कराते हुए विश्वामित्रजी जनक से बोले—

'ए परमारथरूप ब्रह्ममय बालक ॥
पूषन-बंस-बिभूषन दसरथनंदन ।
नाम राम अरु लषन सुरारिनिकंदन ॥'

वास्तव में इन पंक्तियों द्वारा हमें राम के देवत्व तथा उनकी अतुलनीय महिमा का पूर्ण आभास मिल जाता है।

स्वयंवर में समस्त राजाओं के बीच राम अपनी अनुपम प्रभा, प्रतिभा एवं सुंदरता के कारण सभी को आकृष्ट कर रहे हैं। जनकपुर के निवासियों की हार्दिक इच्छा यही है कि रामचंद्रजी के साथ ही सीता का पाणि-ग्रहण हो। उनकी किशोर अवस्था देखकर वे कहने लगते हैं—

'कुँवर किसोर कुलिस-कठोर सिवधनु है महा।'

किंतु रामचंद्रजी धनुष-भंग करके उनकी चिता दूर कर देते हैं। महाराज जनक, अत्यंत प्रसन्न मन से, यह समाचार अयोध्या भेजते हैं। वहाँ से बारात आती है और रामचंद्रजी का सीताजी के साथ विवाह हो जाता है। धनुष-भंग और विवाह के अवसरों पर रामचंद्रजी की धीरता और गंभीरता देखने योग्य है।

अयोध्या लौटते समय मार्ग में परशुरामजी मिलते हैं। वे, शिव-धनुष के टूट जाने के कारण, अत्यंत क्रुद्ध हैं। रामचंद्रजी को वे युद्ध के लिये ललकारते हैं; किंतु अपने स्वाभाविक धैर्य से काम लेकर राम उन्हें लज्जित कर देते हैं। और, इस प्रकार, भयानक रक्तपात होने की नौबत नहीं आती।

तुलनात्मक

इस आलोचना में कई स्थानों पर यह दिखाया गया है कि 'जानकी-मंगल' की रचना करते समय गोस्वामीजी ने उसमें 'मानस' के तथा अन्य ग्रंथों के शब्द, वाक्य और पद ज्यों के त्यों रख दिए हैं। पाठकों की जानकारी के लिये वे नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

'भयउ न होइहि, है न, जनक सम नरवइ' । (जानकी-मंगल)
'भएउ, न अहै, न अब होनिहारा' । (मानस)
'सीय सुता भै जासु सकल मंगलमइ' । (जानकी-मंगल)
'लीन्ह जाइ जगजननि जनम जिन्ह के घर' । (पार्वती-मंगल)

'गाधिसुवन तेहि अवसर अवध सिधायउ ।
नृपति कीन्ह सनमान भवन लै आयउ ॥' (जानकी-मंगल)
'करि दंडवत मुनिहिं सनमानी । निज आसन बैठारेन्हि आनी ॥' (मानस)

'जबहिं मुनीस महीसहि काज सुनायउ ।
भयउ सनेह-सत्य-बस उतर न आयउ ॥' (जानकी-मंगल)
'सुनि राजा अति अप्रिय बानी । हृदय कंप मुखदुति कुम्हिलानी ॥' (मानस)

'सौंपि राम अरु लखन पाँयपंकज गहे ।' (जानकी-मंगल)
'सौंपे भूपति ऋषिहिं सुत ।' (मानस)

'कटि निषंग पट पीत, करनि सर धनु धरे ।' (जानकी-मंगल)
'कटि पट पीत कसे बर भाथा । रुचिर-चाप-सायक दुहुँ हाथा ॥' (मानस)

'देखि मनोहर मूरति मन अनुरागेउ ।
बँधेउ सनेह बिदेह, बिराग बिरागेउ ॥' (जानकी-मंगल)
'मूरति मधुर मनोहर देखी । भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेखी ॥' (मानस)

विषयविमुख मन मोर सेइ परमारथ।
इन्हहिँ देखि भयो मगन जानि बड़ स्वारथ॥' (जानकी-मंगल)
'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनि-कुल-तिलक कि नर-कुल-पालक?
सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥' (मानस)

'पूषन-बंस-विभूषन दसरथनंदन।
नाम राम अरु लपन सुरारि-निकंदन॥' (जानकी-मंगल)
'रघुकुलमनि दसरथ के जाए......।
राम लखन दोउ बंधु बर......॥' (मानस)

'राजत राजसमाज जुगल रघुकुलमनि।' (जानकी-मंगल)
'राजत राजसमाज महँ कोसल-राज-किसोर।' (मानस)

'उर बिसाल वृषकंध सुभग भुज अति बल।
पीत बसन उपबीत, कंठ मुकुताफल॥' (जानकी-मंगल)
'कुंजर-मनि-कंठा कलित..................।
वृषभकंध केहरिठवनि, बलनिधि बाहुबिसाल।
× × ×
पीत-जग्य-उपबीत सोहाए।..................॥' (मानस)

'कटि निषंग, कर-कमलन्हि धरे धनुसायक।' (जानकी-मंगल)
'कटि तूनीर पीत पट बाँधे। कर सर धनुष बाम बर काँधे॥' (मानस)

'नासा चिबुक कपोल अधर रद सुंदर।
बदन सरद-बिधु-निंदक सहज मनोहर॥' (जानकी-मंगल)
'सरद चंद निंदक मुख नीके। नीरज नयन भावते जी के॥
चितवनि चारु मार-मद-हरनी........... ।
कल कपोल श्रुति कुंडल लोला।...........' (मानस)

'नारि परस्पर कहहि देखि दुहूँ भाइन्ह।' (जानकी-मंगल)
'कहहिं परसपर बचन सप्रीती.................॥' (मानस)

'राम-लषन-छबि देखि मगन भए पुरजन।
उर आनँद, जल लोचन, प्रेम पुलक तन॥' (जानकी-मंगल)
'देखि लोग सब भए सुखारे। एकटक लोचन टरत न टारे॥' (मानस)

'बर मिलौ सीतहि साँवरो हम हरषि मंगल गावहीं।' (जानकी-मंगल)
'देखि रामछबि कोउ एक कहई। जोगु जानकिहि एह बरु अहई॥' (मानस)

'एक कहहिं "कुँवर किसोर कुलिस-कठोर सिवधनु है महा।
किमि लेहिं बाल मराल मंदर नृपहिं अस काहु न कहा"॥' (जानकी-मंगल)
'कोउ कह संकरचाप कठोरा। ए स्यामल मृदुगात किसोरा॥
कहँ धनु कुलिसहु चाहि कठोरा। कहँ स्यामल मृदुगात किसोरा॥
× × × ×
कोउ न बुझाइ कहै नृप पाहीं। ए बालक अस हठ भल नाहीं॥
× × × ×
बालमराल कि मंदर लेहीं।.................'(मानस)

'पन परिहरि सिय देब जनक बर स्यामहिँ ॥' (जानकी-मंगल)

'बिनु भंजेहु भवधनुष बिसाला। मेलिहि सीय रामउर माला ॥

पन परिहरि हठि करै बिबाहू ।..............'(मानस)

'चितइ न सकहु रामतन, गाल बजावहु ।' (जानकी-मंगल)

'बृथा मरहु जनि गाल बजाई ।..............'(मानस)

'कस न पियहु भरि लोचन रूप-सुधा-रसु ।' (जानकी-मंगल)

'भरि लोचन छबि लेहु निहारी ।.................॥' (मानस)

'सिख देइँ भूपनि साधु भूप अनूप छबि देखन लगे ।

रघुबंस कैरवचंद चितइ चकोर जिमि लोचन ठगे ॥' (जानकी-मंगल)

'अस कहि भले भूप अनुरागे । रूप अनूप बिलोकन लागे ॥' (मानस)

'हमरे जान जनेस बहुत भल कीन्हेउ ।

पनमिस लोचनलाहु सबन्हि कहँ दीन्हेउ ॥' (जानकी-मंगल)

'एक कहहिँ भल भूपति कीन्हा । लोयनलाहु हमहिँ बिधि दीन्हा ॥' (मानस)

'सो छबि जाइ न बरनि देखि मन मानै ।

सुधापान करि मूक कि स्वादु बखानै ॥' (जानकी-मंगल)

.........................। गिरा अनयन नयनबिनु बानी ॥' (मानस)

'बालु बालु जिमि गयउ, गवहिं दसकंधरु ।

को अवनीतल इन्ह सम बीरधुरंधरु ॥' (जानकी-मंगल)

रावन बान महाभट भारे। देखि सरासन गवहिं सिधारे ॥
रावन बान छुआ नहिं चापा।.................॥ (मानस)

सो धनु कहि अवलोकन भूप किसोरहि।
भेद कि सिरिस सुमन कनकुलिस कठोरहि॥ (जानकी-मंगल)
सिरिस-सुमन-कन बेधिअ हीरा ? (मानस)

सुनि सकुचि सोचहिँ जनक गुरुपद बंदि रघुनंदन चले।
नहिं हरष हृदय विषाद कछु भए सगुन सुभ मंगल भले॥
(जानकी-मंगल)
सुनि गुरुवचन चरन सिरु नावा। हरष बिषाद न कछु उर आवा॥
(मानस)

महि महिधरनि लषन कह बलहि बढ़ावन।
राम चहत सिवचापहि चपरि चढ़ावन॥ (जानकी-मंगल)
दिसिकुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥
राम चहहिं संकर-धनु तोरा।..........................॥ (मानस)

गए सुभाय राम जब चाप समीपहि। (जानकी-मंगल)
चाप समीप राम जब आए।.................॥ (मानस)

कहि न सकति कछु सकुचनि, सिय हिय सोचइ।
गौरि गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ॥ (जानकी-मंगल)
मनही मन मनाव अकुलानी। होउ प्रसन्न महेस भवानी॥
गननायक बरदायक देवा।.......................॥
.......................। करहु चापगरुता अति थोरी॥ (मानस)

धीरज धरति, सगुन बल रहत सो नाहिँन। (जानकी-मंगल)
धरि धीरज प्रतीति उर आनी।.........................॥ (मानस)

हित मुदित, अनहित रुदित मुख, छबि कहत कबि धनुजाग की।
जनु भोर चक्क चकोर कैरव सघन कमल तड़ाग की॥
(जानकी-मंगल)

भरे भुवन घोर कठोर रव रबिबाजि तजि मारग चले।
चिक्करहिं दिग्गज डोल महि अहि कोल कूरम कलमले॥ (मानस)

नभ पुर मंगल गान निसान गह गहे।
देखि मनोरथ सुरतरु ललित लह लहे॥ (जानकी-मंगल)
बाजे नभ गहगहे निसाना।...........................॥ (मानस)

तब उपरोहित कहेउ, सखी सब गावत।
चलीं लेवाइ जानकिहि, भा मनभावत॥ (जानकी-मंगल)
सतानंद तब आयसु दीन्हा। सीता गमन राम पहिं कीन्हा॥
संग सखी सुंदरि सकल गावहिं मंगलचार। (मानस)

कर-कमलनि जयमाल जानकी सोहइ।
बरनि सकै छबि अतुलित अस कबि को हइ? (जानकी-मंगल)
कर सरोज जयमाल सोहाई।.......................॥
छबि बरनै अस।कवि जग को है? (मानस)

लसत ललित करकमल माल पहिरावत।
कामफंद जनु चंदहि बनज फँदावत॥ (जानकी-मंगल)
सोहत जनु जुग जलज सनाला, ससिहि सभीत देत जयमाला। (मानस)

गुनि गन बोलि कहेउ नृप माँडव छावन ।
गावहिं गीत सुवासिनि, बाज बधावन ॥ (जानकी-मंगल)
पठए बोलि गुनी तिन्ह नाना । जे बितान-बिधि-कुसल सुजाना ॥ (मानस)

———

सुनि पुर भयउ अनंद बधाव बजावहिँ ।
सजहिं सुमंगल कलस बितान बनावहि ॥ (जानकी-मंगल)
समाचार सब लोगन्हि पाए । लागे घर घर होन बधाए ॥ (मानस)

———

लै दियो तहँ जनवास सकल सुपास नित नूतन जहाँ । (जानकी-मंगल)
अति सुंदर दीन्हेउ जनवासा । जहँ सब कहँ सब भाँति सुपासा ॥ (मानस)

———

जाइ कहेउ "पगु धारिय" मुनि अवधेसहि ।
चले सुमिरि गुरु गौरि गिरीस गनेसहि ॥ (जानकी-मंगल)
भयेउ समउ अब धारिअ पाऊ ।.........................॥ (मानस)

———

चले सुमिरि गुरु सुर सुमन बरषहिं, परे बहु बिधि पाँवड़े ।
सनमानि सब बिधि जनक दसरथ किए प्रेम कनावड़े ।
गुन सकल सम समधी परस्पर मिलत अति आनँद लहे ।
जय धन्य जय जय धन्य धन्य बिलोकि सुर नर मुनि कहें ॥
(जानकी-मंगल)

बसन बिचित्र पाँवड़े परहीं.........

× × ×

सुरन्ह सुमंगल अवसर जाना । बरसहिँ सुमन बजाइ निसाना ॥
बरषहिँ सुमन सुर हरषि कहि जय जयति जय रघु-कुल-मनी । (मानस)

———

तीनि लोक अवलोकहिं नहिं उपमा कोउ।
दसरथ जनक समान जनक दसरथ दोउ॥ (जानकी-मंगल)

..................................। उपमा खोजि खोजि कबि लाजे॥
लही न कतहुँ हारि हिय मानी। इन्ह समएइ उपमा उर आनी॥ (मानस)

उमा रमादिक सुरतिय सुनि प्रमुदित भईं।
कपट नारि-बर-बेष बिरचि मंडप गईं॥ (जानकी-मंगल)
सची सारदा रमा भवानी। जे सुरतिय सुचि सहज सयानी॥
कपट-नारि-बर-बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहिं जाई॥ (मानस)

नहिं तनु सम्हारहिं, छबि निहारहिं निमिषरिपु जनु रन जए।
चक्कवै-लोचन रामरूप-सुराज-सुख भोगी भए।
तब जनक सहित समाज राजहि उचित रुचिरासन दए।
कौसिक वसिष्ठहि पूजि पूजे राउ दै अंबर नए। (जानकी-मंगल)
निज पानि जनकु सुजान, सब कहँ आनि सिंहासन धरे।

× × × ×

कुल-इष्ट-सरिस बसिष्ठ पूजे बिनय करि आसिष लही।
कौसिकहिं पूजत परम प्रीति कि रीति तौ न परै कही॥ (मानस)

जुवति जुत्थ महँ सीय सुभाइ बिराजइ।
उपमा कहत लजाइ भारती भाजइ॥ (जानकी-मंगल)
सोहति बनितावृंद महुँ सहज सुहावनि सीय।
छबि-ललना-गन मध्य जनु सुखमातिय कमनीय॥ (मानस)

अगिनि थापि मिथिलेस कुसोदक लीन्हेउ।
कन्यादान बिधान संकलप कीन्हेउ॥ (जानकी-मंगल)

लोक-बेद-बिधि कीन्ह लीन्ह जल कुस कर।
कन्यादान संकलप कीन्ह धरनिधर ॥ (पार्वती-मंगल)

———

संकल्पि सिय रामहिं समर्पी सील सुख सोभामई।
जिमि संकरहिं गिरिराज गिरिजा, हरिहि श्री सागर दई ॥
सिंदूरबंदन होम लावा होन लागीं भाँवरी।
सिलपोहनी करि मोहनी मन हर्यौ मूरति साँवरी ॥
(जानकी-मंगल)

हिमवंत जिमि गिरिजा महेसहि हरिहि श्री सागर दई।
तिमि जनक रामहि सिय समरपी बिस्व कल कीरति नई। (मानस)

× × ×

लावा होम बिधान बहुरि भाँवरि परी।
बंदन बंदि..............................॥ (पार्वती-मंगल)

———

मनभावत बिधि कीन्ह, मुदित भामिनि भईं।
बर दुलहिनिहि लेवाइ सखी कोहबर गईं। (जानकी-मंगल)
दूलह दूलहिनिन्हि सहित सुंदरि चलीं कोहबर ल्याइ कै। (मानस)

———

चतुर नारिबर कुँवरिहि रीति सिखावहिँ।
देहिँ गारि लहकौरि समौ सुख पावहिँ ॥ (जानकी-मंगल)
लहकौरि गौरि सिखाव रामहिँ सीय सन सारद कहैं। (मानस)

———

जुआ खेलावत कौतुक कीन्ह सयानिन्ह।
जीति-हारि-मिस देहिं गारि दुहुँ रानिन्ह ॥ (जानकी-मंगल)
जुआ खेलावत गारि देहिं गिरिनारिहि।
अपनी ओर निहारि प्रमोद पुरारिहि ॥ (पार्वती-मंगल)

———

जनक-अनुज-तनया दुइ परम मनोरम।
जेठि भरत कहँ ब्याहि रूप रति सय सम॥ (जानकी-मंगल)
कुस-केतु-कन्या प्रथम जो गुन-सील-सुख-सोभा-मई।
सब-रीति-प्रीति-समेत करि सो ब्याहि नृप भरतहि दई॥ (मानस)

———

सिय लघुभगिनि लषन कहँ रूप-उजागरि।
लषन-अनुज श्रुतिकीरति सब-गुन-आगरि॥ (जानकी-मंगल)
जानकी-लघु-भगिनी सकल सुंदरि सिरोमनि जानि कै।
जेहि नाम श्रुतिकीरति सुलोचनि सुमुखि सब गुनआगरी।
सो दई रिपुसूदनहि........................(मानस)

———

रामबिवाह समान ब्याह तीनिउ भए।
जीवनफल, लोचनफल, बिधि सब कहँ दए॥ (जानकी-मंगल)
जसि रघुबीर-ब्याह-बिधि बरनी। सकल कुअँर ब्याहे तेहि करनी॥
(मानस)

———

दाइज भयउ बिबिध बिधि, जाइ न सो गनि।
दासी, दास, बाजि, गज, हेम, बसन, मनि॥ (जानकी-मंगल)
दाइज बसन मनि धेनु धनु हय गय सुसेवक सेवकी।
(पार्वती-मंगल)

———

दान मान परमान प्रेम पूरन किए।
समधी सहित बरात बिनय बस करि लिए॥ (जानकी-मंगल)
दान मान परिपूरन कीन्हे।......................॥
× × ×
सनमानि सकल बरात आदर दान बिनय बड़ाइ कै। (मानस)

———

गे जनवासेहि राउ, संग सुत सुतबहु।
जनु पाए फल चारि सहित साधन चहुँ॥ (जानकी-मंगल)
मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि।
जनु पाए महि-पाल-मनि क्रियन्ह सहित फल चारि॥ (मानस)

चहुँ प्रकार जेंवनार भई बहु भाँतिन्ह।
भोजन करत अवधपति सहित बरातिन्ह॥ (जानकी-मंगल)
पुनि जेवनार भई बहु भाँती।....................॥

× × × × ×

चारि भाँति भोजन बिधि गाई।.................॥ (मानस)

देहिं गारि बर नारि नाम लै दुहुँ दिसि।
जेंवत बढ़ेउ अनंद, सोहावनि सो निसि। (जानकी-मंगल)
जेंवत देहिँ मधुर धुनि गारी। लै लै नाम पुरुष अरु नारी॥

× × × ×

जेंवत जो बढ़्यो आनंद सो मुख कोटिहू न परै कह्यो। (मानस)

नट भाट मागध सूत जाचक जस प्रतापहि बरनहीं।
सानंद भूसुर-वृंद मनि गज देत मन करषै नहीं॥ (जानकी-मंगल)
देइ पान पूजे जनक दसरथु सहित समाज।
जनवासेहि गवने मुदित,.....................॥ (मानस)

करि करि बिनय कछुक दिन राखि बरातिन्ह।
जनक कीन्ह पहुनाई अगनित भाँतिन्ह॥ (जानकी-मंगल)
..............................। राखहिं जनकु सहित अनुरागा॥
नित नूतन आदरु अधिकाई। दिनप्रति सहस भाँति पहुनाई॥
(मानस)

सकल चलन के साज जनक साजत भए।
भाइन्ह सहित राम तब भूपभवन गए॥ (जानकी-मंगल)
तेहि अवसर भाइन्ह सहित राम भानु-कुल-केतु।
चले जनकमंदिर मुदित बिदा करावन हेतु॥ (मानस)

सासु उतारि आरती करहिँ निछावरि।
निरखि निरखि हिय हरषहिँ मूरति साँवरि॥ (जानकी-मंगल)
करहिँ निछावरि आरती महा मुदितमन सासु।

× × ×

देखि रामछबि अति अनुरागीं।.................॥ (मानस)

माँगेउ बिदा राम तब, सुनि करुना भरी।
परिहरि सकुच सप्रेम पुलकि पायन्ह परी॥ (जानकी-मंगल)
बोले रामु सुअवसर जानी।......................॥
....। बिदा होन हम इहाँ पठाए॥
सुनत बचन बिलखेउ रनिवासू।................॥
अस कहि रही चरन गहि रानी।......................॥ (मानस)

सीय सहित सब सुता सौंपि कर जोरहिँ।
बार बार रघुनाथहिँ निरखि निहोरहिँ॥ (जानकी-मंगल)
करि बिनय सिय रामहिँ समरपी जोरि कर पुनि पुनि कहै।
(मानस)

"तात तजिय जनि छोह मया राखबि मन।
अनुचर जानब राउ सहित पुर परिजन॥" (जानकी-मंगल)

परिवार पुरजन मोहि राजहि प्रानप्रिय सिय जानिबो ।
.......................। निज किंकरी करि मानिबी ॥ (मानस)

परेउ निसानहि घाउ राउ अवधहि चले ।
सुरगन बरषहिं सुमन सगुन पावहिं भले ॥ (जानकी-मंगल)
सुर प्रसून बरषहिं हरषि करहिं अपछरा गान ।
चले अवधपति अवधपुर मुदित बजाइ निसान ॥ (मानस)

जनक जानकिहि भेटि सिखाइ सिखावन ।
सहित सचिव गुरु बंधु चले पहुँचावन ॥ (जानकी-मंगल)
लीन्हि राय उर लाइ ।.....................॥
जानकी बहु बिधि भूप सुता समुझाई ।..........................॥
भूसुर सचिव समेत समाजा । संग चले पहुँचावन राजा ॥ (मानस)

प्रेम पुलकि कह राय "फिरिय अब राजन" ।
करत परस्पर बिनय सकल गुनभाजन ॥ (जानकी-मंगल)
......................। फिरिअ महीस दूर बड़ि आए ॥ (मानस)

बिलग न मानब मोर जो बोलि पठायउँ ।
प्रभुप्रसाद जस जाति सकल सुख पायउँ ॥ (जानकी-मंगल)
अपराधु छमिबो बोलि पठए बहुत हौं......... ।
× × ×
सनबंध राजन रावरे हम बड़े अब सब विधि भए ॥ (मानस)

पुनि बसिष्ठ आदिक मुनि बंदि महीपति ।
गहि कौसिक के पाँय कीन्हि बिनती अति ॥ (जानकी-मंगल)
मुनिमंडलिहि जनक सिरु नावा ।.....................॥
× × × ×
कीन्हि बिनय पुनि पुनि सिरु नाई ।..................॥ (मानस)

भाइन्ह सहित बहोरि बिनव रघुबीरहि ।
गदगद कंठ, नयन जल, उर धरि धीरहि । (जानकी-मंगल)
सादर पुनि भेंटे जामाता । रूप-सील-गुन-निधि सब भ्राता ॥
(मानस)

———

जनि छोह छाँड़ब बिनय सुनि रघुबीर बहु बिनती करी ।
मिलि भेंटि सहित सनेह फिरेउ बिदेह मन धीरज धरी ॥
सो समौ कहत न बनत कछु सब भुवन भरि करुना रहे ।
तब कीन्ह कोसलपति पयान निसान बाजे गहगहे ॥
(जानकी-मंगल)
......................। करि वर विनय ससुर सनमाने ॥
कीन्हि बिनय पुनि पुनि सिरु नाई । फिरे महीसु........ ॥

× × × ×

चली बरात निसान बजाई ।..................... ॥ (मानस)

———

एहि बिधि ब्याहि सकल सुत जग जस छायउ ।
मगलोगनि सुख देत अवधपति आयउ ॥ (जानकी-मंगल)
बीच बीच बर बास करि मगलोगन्हि सुख देत ।
अवध समीप पुनीत दिन पहुँची आइ जनेत ॥ (मानस)

———

होहिँ सुमंगल सगुन सुमन सुर बरषहिँ ।
नगर कोलाहल भयउ नारि नर हरषहिँ । (जानकी-मंगल)
पुरजन आवत अकनि बराता । मुदित सकल पुलकावलि गाता ॥
(मानस)

———

चौक पूरैं चारु कलस ध्वज साजहिँ ।
बिबिध प्रकार गहगहे बाजन बाजहिँ ॥ (जानकी-मंगल)
निज निज सुंदर सदन सवाँरे, हाट बाट चौहट पुर द्वारे ।
गली सकल अरगजा सिँचाई, जहँ तहँ चौके चारु पुराई ॥

× × × ×

बिबिध भाँति मंगलकलस गृह गृह रचे सँवारि । (मानस)

बंदनवार बितान पताका घर घर ।
रोपँ सफल सपल्लव मंगल तरुवर ॥ (जानकी-मंगल)
बना बजाह न जाइ बखाना । तोरन केतु पताक बिताना ॥

× × × ×

बंदनवार पताका केतू । सबन्हि बँधाए मंगल हेतू ॥

× × ×

स फल पूगफल कदलि रसाला । रोपे बकुल कदंब तमाला ॥

(मानस)

मन मुदित कौसल्या सुमित्रा सकल भूपति-भामिनी ।
सजि साजि परिछन चलीं रामहिँ मत्त-कुंजरगामिनी ॥

(जानकी-मंगल)

......................। हरद दूब दधि अच्छत माला ॥

× × ×

मुदित मातु परिछनि करहिँ, बधुन्ह समेत कुमार ॥ (मानस)

बधुन्ह सहित सुत चारिउ मातु निहारहिँ ।
बारहिँ बार आरती मुदित उतारहिँ ॥ (जानकी-मंगल)
बधुन्ह समेत देखि सुत चारी ।...................... ॥

× × × ×

बारहिँ बार आरती करहीं ।...................... ॥ (मानस)

करहिँ निछावरि छिनु छिनु मंगल मुद भरी ।
दुलह दुलहिनिन्ह देखि प्रेम-पय-निधि परीं ॥ (जानकी-मंगल)
बस्तु अनेक निछावरि होहीं । भरी प्रमोद मातु सब सोहीं ॥
(मानस)

———

देत पाँवड़े अरघ चलीं लै सादर ।
उमगि चलेउ आनंद भुवन भुईं बादर ॥ (जानकी-मंगल)
................अरघ पाँवड़े देत ।
..............चलीं लिवाइ निकेत ॥ (मानस)

———

नारि उहार उघारि दुलहिनिन्ह देखहिँ ।
नैनलाहु लहि जनम सफल करि लेखहिँ ॥ (जानकी-मंगल)
सिबिका सुभग ओहार उघारी । देखि दुलहिनिन्ह होहिँ सुखारी ॥
(मानस)

———

जाचक कीन्ह निहाल असीसहिँ जहँ तहँ ।
पूजे देव पितर सब राम-उदय कहँ ॥ (जानकी-मंगल)
जाचक सकल अजाचक कीन्हे ।.......... .... ॥
× × ×
देव पितर पूजे बिधि नीके ।......................॥ (मानस)

———

नेगचार करि दीन्ह सबहि पहिरावनि ।
समधी सकल सुआसिनि गुरुतिय पावनि ॥ (जानकी-मंगल)
बिप्रबधू सब भूप बोलाईं । चैल चारु भूषन पहिराईं ॥
बहुरि बोलाइ सुआसिनि लीन्ही । रुचि बिचारि पहिरावनि दीन्ही ॥
(मानस)

———

उपवीत ब्याह उछाह जे सिय राम मंगल गावहीं।
तुलसी सकल कल्यान ते नर नारि अनुदिनु पावहीं॥
(जानकी-मंगल)

उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं।
बैदेहि-राम-प्रसाद तें जन सर्बदा सुख पावहीं॥ (मानस)

इस ग्रंथ की आलोचना के साथ साथ 'रामलला नहछू', 'बरवै रामायण', 'पार्वती-मंगल' तथा 'जानकी-मंगल' की आलोचना समाप्त होती है। ये चारों ग्रंथ पूर्वी अवधी में लिखे गए हैं। अतएव इस स्थान पर, इन चारों ग्रंथों के आधार पर, पूर्वी अवधी के कुछ लक्षण निर्धारित करना अनावश्यक न होगा।

गोस्वामीजी के 'स' और 'श' के प्रयोग को भी ध्यान से समझ लेना आवश्यक है। उन्होंने कुछ तत्सम शब्दों को छोड़कर अन्यत्र 'श' का प्रयोग ही नहीं किया। उसके स्थान पर बहुतायत से 'स' का प्रयोग है। बिहार प्रांत तक 'श' 'स' ही बना रहता है। बंगाल में जाकर फिर 'श' हो जाता है और 'स' को भी 'श' बनना पड़ता है। व्रजभाषा में भी सर्वत्र 'स' का प्रयोग है। आज-कल व्रजभाषा में लिखे जानेवाले ग्रंथों में भी 'श' केवल तत्सम शब्दों के प्रयोग में दीख पड़ता है। वर्तमान युग की प्रवृत्ति तत्सम शब्दों के प्रयोग करने की ओर अधिक है, अतएव व्रजभाषा भी इसका अपवाद नहीं। यही कारण है कि आधुनिक व्रजभाषा में पहले की अपेक्षा अधिक 'श' मिलेगा।

गोस्वामीजी की लिपि में 'ख' के स्थान में 'ष' का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। इससे स्पष्ट है कि उनके समय में 'ष' का उच्चारण 'ख' से मिलता-जुलता था। आजकल स अक्षर का उच्चारण साधारणतया दो प्रकार से होता है। संस्कृत के अधिकांश विद्वान्

इसका उच्चारण, कुछ स्थलों को छोड़कर, 'ख' की भाँति ही करते हैं। भाषा के विद्वान् इसका उच्चारण सर्वत्र 'श' से मिलता जुलता करते हैं। जो हो, 'षोडस', 'षष्ट', 'षड्यंत्र' में 'ष' का 'ख' की भाँति प्रयोग करने से अधिक सुविधा प्रतीत होती है। केवल मागधी प्राकृत को छोड़कर अन्य सब प्राकृतों में 'ष' के स्थान में 'स' हो जाता है। व्रजभाषा और अवधी में 'स' की बहुलता का यही कारण है। मागधी प्राकृत में 'ष' के स्थान में 'श' हो जाता है। गुजराती भाषा में 'ष', 'ख' में परिणत हो जाता है; जैसे, 'ऊषा' से 'ओखा'। गुजराती में यह प्रकृति इतनी बढ़ी हुई है कि तालव्य 'श' भी 'ख' में बदल दिया जाता है; जैसे, 'देशम्' से 'देडखा'।

कुछ भाषातत्त्ववेत्ता 'ष' के 'ख' में परिवर्तित होने का कारण शुक्ल-यजुर्वेद की माध्यंदिनी शाखा को बतलाते हैं जहाँ 'ष' के स्थान में 'ख' कह देने की परिपाटी सी थी। 'सहस्रशीर्षा' इत्यादि मंत्र का उच्चारण 'सहस्रशीर्खा' किया जाता है। परंतु शुक्ल-यजुर्वेद में भी 'ष' सिद्धांततः 'ष' ही है। संभव है, जहाँ कहीं 'ख' की वृत्ति मिलती है वहाँ अन्यजातीय संपर्क हो अथवा परंपरागत प्रवृत्ति ही हो। तुलनात्मक भाषा-विज्ञान से पता चलता है कि संस्कृत का 'अष्ट' यूनान में Oktw हो जाता है। इसमें 'ख' की प्रवृत्ति स्पष्ट है। कारण कुछ भी हो, गोस्वामीजी के समय में 'ष' की ध्वनि 'ख' ही थी।

'जानकी-मंगल' की भाषा ठेठ अवधी है। 'रामलला नहछू', 'बरवै रामायण' तथा 'पार्वती-मंगल' की भाषा भी वही है। परंतु यह विचार भ्रमात्मक है कि उसमें जायसी की असंस्कृति है। 'रामलला नहछू' और 'बरवै रामायण' में तो थोड़ा-बहुत साम्य मिल भी सकता है किंतु जानकी-मंगल और पार्वती-मंगल के लिये यह कदापि सत्य नहीं। इन ग्रंथों की भाषा, अपनी पृथक्ता के लिए

हुए, रामचरितमानस से मिलती-जुलती है। कदाचित् इसका कारण उक्त ग्रंथों का रचनाकाल-विषयक भेद हो।

उक्त चारों ग्रंथों में जिन कारक-चिह्नों का प्रयोग अधिक मिलता है उनका नीचे उल्लेख किया जाता है—

हेमलता सिय मूरति मृदु मुसुकाइ।
हेम हरिन कहँ दीन्हेउ प्रभुहि देखाइ॥ (बरवै रामायण)

पूर्वी अवधी में कर्ता कारक का कोई चिह्न नहीं होता। कर्म का चिह्न 'कहँ' सर्वत्र आया है। इसका अधिक ग्राम्य रूप 'काँ', जो जायसी में अधिकता से मिलता है, इन ग्रंथों में कहीं भी प्रयुक्त नहीं है।

तुलसी कहत सुनत सब समुझत कोय।
बड़ भाग अनुराग राम सन होय॥ (बरवै रामायण)

करण कारक का चिह्न 'सन' अधिकतर प्रयुक्त हुआ है; 'सों' और 'से' नहीं आए हैं।

सब कहँ गिरिबर-नायक नेवति पठायउ। (पार्वती-मंगल)

संप्रदान कारक में 'कहँ' का प्रयोग सर्वत्र है। 'के' अथवा 'काँ' का प्रयोग नहीं के बराबर है।

अपादान कारक के चिह्न 'तइ' अथवा वर्तमान 'से' का प्रयोग इन ग्रंथों में बहुत कम है। 'ते' का प्रयोग प्रायः मिलता है।

तप, तीरथ, मख, दान, नेम, उपवास।
सब ते अधिक राम जपु तुलसीदास॥ (बरवै रामायण)
मुनि मनसहु ते अगम तपन्हि लायहु मनु। (पार्वती-मंगल)

संबंध कारक के 'कर', 'कै', 'के' और 'कर' का घिसा हुआ 'क' ये सब चिह्न मिलते हैं।

रामलला कर नहछू गाइ सुनाइय हो। (रामलला नहछू)
गहि कौसिक के पाँय कीन्हि बिनती अति। (जानकी-मंगल)

बौरेहि के अनुराग भइउँ बड़ि बाउरि। (पार्वती-मंगल)

कटि कै छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो। (रामलला नहछू)

देखहु आपनि मूरति सिय कै छाँह। (स्त्रीलिंग का रूप)

(बरवै रामायण)

जनु राजधानी मदन की बिरची चतुर बिधि और हीं (स्त्रीलिंग)

(पार्वती-मंगल)

कहहु सुकृत केहि भाँति सराहिय तिन्ह कर। (पार्वती-मंगल)

राम अहहिँ दसरथ कै लछिमन आन क हो।

भरत सत्रुहन भाइ तौ श्रीरघुनाथ क हो। (रामलला नहछू)

अंतिम अवतरण में पुँल्लिग के लिये भी 'कै' स्त्रीलिंग का प्रयोग किया गया है, जो शुद्ध नहीं है। एक विशेष ध्यान देने की बात यह है कि जहाँ तक संबंध कारक का विषय है, 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' में खड़ी बोली के चिह्नों का प्रयोग अधिक है, पूर्वी अवधी के से चिह्नों का कम। अधिकरण कारक में 'महँ' और 'पर' दोनों का प्रयोग किया गया है—

सब इंद्रिन्ह महँ इंद्रबिलोचन लेखहिँ। (जानकी-मंगल)

रोम रोम पर उदित रूपमय पूषन। (पार्वती-मंगल)

'हि' का प्रयोग भी लगभग कई कारक-चिह्नों के स्थान पर मिलता है।

गे जनवासेहि राउ, संग सुत सुतबहु। (अधिकरण कारक)

(जानकी-मंगल)

जनक जानकिहि भेटि सिखाइ सिखावन (कर्मकारक)

(जानकी-मंगल)

कारक-चिह्नों के अतिरिक्त क्रियापदों के प्रयोग में जहाँ सकर्मक का व्यवहार है वहाँ 'करना' के स्थान में 'कीन्ह' का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार 'देना' के स्थान में 'दीन्ह', 'लेना' के स्थान में 'लीन्ह' आया है।

हमहिँ आजु लगि कनउड़ काहु न कीन्हेउ।

पार्वती तप प्रेम मोल मोहिँ लीन्हेउ ॥ (पार्वती-मंगल)

रामायण में,

'जहँ बस संभुभवानि सो कासी सेइअ कस न।'

पदमावत में—'बैठ महाजन सिंहलद्वीपी' तथा जानकी-मंगल में—'तहँ **बस** नगर जनकपुर परम उजागर' एक ही प्रकार के प्रयोग हैं। वर्तमान के स्थान पर संक्षेप के लिये केवल धातुरूप ही रखे गए हैं। ऐसे रूपों का प्रयोग इन चारों ग्रंथों में अन्यत्र भी मिलेगा। अथवा पार्वती-मंगल में—

मुनि कह "चैादह भुवन फिरउँ जग जहँ जहँ।

रामायण में 'अहहिँ' का बहुत प्रयोग है। रामलला नहछू में भी इस प्रयोग को देखिए—

'राम अहहिँ दसरथ के।'

इसी प्रकार के, नीचे दिए हुए, उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा कि शुद्ध अवधी की बोलचाल में क्रिया का रूप कर्ता के 'पुरुष', 'लिंग' और 'वचन' के अनुसार होता है। सकर्मक भूतकालिक क्रिया में कर्म के अनुसार नहीं होता, जैसा खड़ी बोली में होता है।

कोटिन्ह बाजन बाजहिँ दसरथ के गृह हो। (रामलला नहछू)

ए अँखियाँ दोउ बैरिनि देहिँ बुझाइ। (बरवै रामायण)

मानिकदीप बराय बैठि तेहि आसन हो। (रामलला नहछू)

लहेउ जनम फल आजु जनमि जग आइन्ह। (जानकी-मंगल)

तोरन कलस चँवर धुज बिबिध बनाइन्हि। (स्त्रीलिंग)

(पार्वती-मंगल)

मध्यम पुरुष के क्रियापद विधि में भी प्रयुक्त हैं। पूर्वी अवधी में ऐसा सर्वत्र होता है—

कौसल्या की जेठि दीन्ह अनुसासन हो।

"नहछू जाइ करावहु बैठि सिँहासन हो। (रामलला नहछू)

पुँल्लिग में 'एसि', 'एनि' तथा स्त्रीलिंग में 'इसि' तथा 'इमि' का प्रयोग भी इन ग्रंथों में है—

कहेसि भँवर कर हरवा हृदय विदारि। (बरवै रामायण)

गोस्वामीजी ने जायसी की भाँति एक अकारांत क्रियापद का भी प्रयोग किया है—

नाथ जिन्हहिँ सुधि **करिअ** तिन्हहिँ सम तेइ, हर।

भविष्य के बकारांत प्रयोग भी इन ग्रंथों में हैं—

अनुचर **जानब** राउ सहित पुर परिजन। (जानकी-मंगल)

राम लषन सम तुलसी **सिखब** न आनु। (बरवै रामायण)

'जेइ', 'तेइ' और 'जो', 'तो' दोनों प्रकार के प्रयोग इन ग्रंथों में मिलते हैं।

जो पगु नाउनि धोवइ राम धोवावइँ हो। (एकवचन)

(रामलला नहछू)

जे यह नहछू गावैं गाइ सुनावइँ हो। (बहुवचन)

(रामलला नहछू)

जो पहुँचाव रामपुर तनु अवसान। (बरवै रामायण)

'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' में तो खड़ी बोली के सदृश क्रियापद हैं ही, एक-आध स्थल पर बरवै रामायण में भी उनका प्रयोग हुआ है—

'**उठी** सखी हँसि मिस करि कहि मृदु बैन।

अभिप्राय यह कि 'रामलला नहछू' की भाषा ठेठ अवधी है, यद्यपि उसमें भी जायसी की सी ग्रामीणता कम है। 'बरवै रामायण' की भाषा उससे कुछ आगे बढ़ी हुई है। 'पार्वती-मंगल' और 'जानकी-मंगल' के क्रियापद और शब्द हैं तो 'मानस' की ही भाँति; किंतु

केवल संगीत की सुविधा के लिये ठेठ पूर्वीयत्व का सिंचन है। 'जानकी-मंगल' और 'पार्वती-मंगल' में, कहीं कहीं पर, खड़ी बोली की निकटता तो 'मानस' के भी आगे बढ़ जाती है क्योंकि ये दोनों ग्रंथ 'मानस' के 'परवर्ती' हैं और पूर्वी अवधीपन लिए हुए भी परवर्ती हैं।

इतनी समीक्षा के अनंतर 'जानकी-मंगल' की आलोचना भी अब समाप्त की जाती है।

———